MAPS-515

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत

(Principles of International Politics)

राजनीति विज्ञान विभाग

(समाज विज्ञान विद्याशाखा)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS-515 (एम.ए.पी.एस-515)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत

Principles of International Politics

समाज विज्ञान विद्या शाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठयक्रम समिति

प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे **निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल	**प्रो0 मदन मोहन जोशी** **निदेशक(कार्यवाहक) – समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी ,नैनीताल
प्रो०एम.एम सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग हेमवती नंदन बहुगुणा केन्द्रीय गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर, गढ़वाल	**प्रो0 दुर्गाकान्त चौधरी** राजनीति विज्ञान विभाग श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश
प्रो0 सतीश कुमार राजनीति विज्ञान विभाग इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	**डॉ घनश्याम जोशी** असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ लता जोशी असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	**डॉ आरूशी** असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल
पाठ्यक्रम संयोजन एव सम्पादन **हिमांशु पुनेठा ,** असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एसी), राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ.सुभाष शुक्ल, असिस्टेंट प्रोफ़ेसर-सेंटर फार ग्लोबलाईजेसन एंड डवलपमेंट इलाहाबाद वि.वि.इलाहाबाद	1, 2
डॉ आरुशी हिंवाली शुक्ला, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	4,11
हिमांशु पुनेठा , राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	6,8
शुभांकर शुक्ल , लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	3,5,7
ऋतंबरा नैनवाल , लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	13
स्वाती उपाध्याय , मानव अधिकार एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	14
अंशु जोशी , मानव अधिकार एवं अंतर्राष्ट्रीय कानून विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	15
नियति रावत, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल	9,10
प्रवीण कुमार झा , रवि कुमार चौधरी - असिसटेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान दिल्ली विश्वविद्यालय एवं **दीपक कुमार मिश्र -** शोधार्थी राजनीति विज्ञान दिल्ली विश्वविद्यालय	12

आई.एस.बी.एन. ----------

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष -2025

Published by: उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल 263139
Printed at :----------
संस्करण :2025, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।
सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए विना मिमियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

मुद्रित प्रतियां

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पेज संख्या
1	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति: परिभाषा, क्षेत्र व प्रकृति	1-9
2	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शास्त्रीय एवं आधुनिक उपागम (यथार्थवादी, नवयथार्थवादी, आदर्शवादी)	10-26
3	अंतराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के उपागम: परम्परावादी एवं व्यवहारवादी	27 - 40
4	अंतराष्ट्रीय संबंधों के उदारवादी एवं नव उदारवादी उपागम	41 - 52
5	अंतराष्ट्रीय संबंधों का समाजवादी उपागम	53 - 61
6	अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति कि अवधारणा	62 - 79
7	राष्ट्रीय शक्ति के तत्व, बदलते स्वरुप	80 - 90
8	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका	91 - 106
9	राष्ट्रीय हित	107 - 118
10	राष्टीय हित की अभिवृद्धि के साधन- कूटनीति	119 - 134
11	राष्टीय हित की अभिवृद्धि के साधन- युद्ध, प्रचार	135 - 148
12	शक्ति संतुलन	149 - 164
13	सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा	165 - 187
14	अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व सरकार की अवधारणा	188 - 198
15	अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका	199- 207

इकाई -1 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति: परिभाषा, क्षेत्र व प्रकृति

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ

1.4 परिभाषायें

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र

1.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति

1.7 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतंत्र विषय के रूप में

1.8 नामकरण की समस्या

1.9 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा राष्ट्रीय राजनीति

1.10 सारांश

1.11 शब्दावली

1.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में प्रत्येक राष्ट्र (कर्ता) अपने स्व-प्रस्तावित राष्ट्रीय हितों और अपने उपलब्ध शक्ति संसाधनों के परिप्रेक्ष्य में अपनी नीति और भूमिका का निर्धारण करता है। राष्ट्रीय हित की प्राप्ति की संभावना से ही राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आते हैं। इन्हीं सम्बन्धों की समष्टि को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहते हैं। लौकिक जगत से जुड़ी अन्य वस्तुओं की भाँति ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी परिवर्तनशील है क्योंकि पर्यावरण के प्रभाव से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इसी परिवर्तनशील अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और तथ्यों के अध्ययन के लिये अनेक तरीके या उपागम अपनाये जा सकते हैं। ये सभी एक दूसरे के पूरक हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक के पांच दशकों में राष्ट्रों को इस बात का भली भाँति एहसास हो गया है कि युद्ध से विध्वंश ही हो सकता है, किसी समस्या का स्थायी समाधान नहीं। अब राष्ट्र परस्पर जुड़ कर विकास की यात्रा तय करना चाहते हैं। इस सोच में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति या राष्ट्रों के मध्य राजनीति कुछ ज्यादा सक्रिय और ज्यादा जीवंत हो गयी है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य अध्येता को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सामान्य परिचय देना है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आपः

- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अर्थ, उसके स्वरूप तथा क्षेत्र से परिचित हो सकेंगे।
- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबंध में विभेद कर सकेंगे।

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ पहले यूरोप की राजनीति से ही लिया जाता था। उस समय समूचे विश्व में यूरोपीय राष्ट्रों की राजनीत छाई हुई थी। एशिया तथा अफ्रीका में आर्थिक एवं ओपनिवेशिक विस्तार के लिये यूरोपीय राज्य युद्ध तथा कूटनीतिक दाव-पेचों में व्यस्त थे। यूरोपीय देश शक्ति सम्पन्न थे उनकी औद्योगिक प्रगति हो चुकी थी तथा उनकी विस्तारवादी महत्वाकांक्षायें थी। इसके विपरीत गैर यूरोपीय देशों की राजनीति बहुत कुछ शांत तथा स्थानीय थी।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद से वातावरण बदलने लगा। 1919-1945 के बीच विश्व के एक बड़े भाग में आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और तकनीकी क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अणुशक्ति ने राष्ट्रों की राजनीति और सामरिक नीति को एक नया मोड़ दिया। साम्राज्यवाद के विरूद्ध जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई। विश्व तथा अफ्रीका का प्रभाव एवं प्रभुत्व तेजी से बढ़ा और उनकी उपेक्षा करना साम्राज्यवादी देशों के लिये संभव नहीं रहा। इन सब क्रिया प्रतिक्रियाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बदल दिया तथा उसके आकार तथा अयामों को सही माने में अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया। इसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल यूरोप मात्र की राजनीति नहीं रह गयी और एक स्वतंत्र विषय के रूप में इसका विकास प्रारंभ हुआ।

1.4 परिभाषायें

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति को विद्वानों ने अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है। पहले, हम लोग कुछ परिभाषायें ले रहे हैं उसके बाद उसके विषय क्षेत्र की व्याख्या करेंगे:-

हंस जे. मोर्गेंथाऊ राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिये संघर्ष, तथा उसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है।

फेलिक्स ग्राम: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में राष्ट्रों की विदेश नीति का अध्ययन ही है।

स्प्राउट: स्वतंत्र राजनीति समुदायों, अर्थात राज्यों, के अपने अपने उद्देश्यों, अथवा हितों के आपसी विरोध प्रतिरोध या संघर्ष से उत्पन्न उनकी क्रिया, प्रतिक्रियाओं और संबंधों का अध्ययन ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है।

के. डबलू, थामसन: राष्ट्रों के बीच छिड़ी प्रतिस्पर्द्धा के साथ साथ उनके पारस्परिक संबंधों को मुधारने या बिगाड़ने वाली परिस्थितियों और संस्थाओं के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहते हैं।

हार्टमैन अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों से अभिप्राय उन प्रक्रियाओं के अध्ययन से है जिनके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का सामंजस्य अन्य राज्यों के राष्ट्रीय हितों के साथ बैठाते हैं।

बर्टन अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में सामान्य बातों के अतिरिक्त सभी घटनायें और परिस्थितियां भी सम्मिलित हैं जिनका प्रभाव एक से अधिक राज्यों पर पड़ता है।'

हंस जे. मोर्गेंथाऊ का विचार है कि शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख तत्व है। प्रत्येक राष्ट्र शक्ति के लिये प्रयत्न करता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति की राजनीति है। शक्ति राष्ट्रीय हित को बढ़ाने, प्राप्त करने तथा कार्यान्वित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अपनी भूमिका निभाने के लिये अनिवार्य है। हंस जे. मोर्गेंथाऊ का कहना है कि राष्ट्रों के बीच सभी सम्बन्ध राजनीतिक नहीं होते क्योंकि राष्ट्र साधारणतया ऐसे कार्य भी करते हैं जिनका सम्बन्ध शक्ति से नहीं होता। उदाहरण के लिए राष्ट्रों के अनेक कानूनी, आर्थिक, मानवीय और सांस्कृतिक कार्य कलापों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। हंस जे. मोर्गेंथाऊ का निष्कर्ष है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतियों के समान शक्ति के लिए संघर्ष का ही नाम है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चाहे कुछ भी उद्देश्य हों पर उसका तात्कालिक उद्देश्य हमेशा शक्ति ही रहता है। हंस जे. मोर्गेंथाऊ के तर्क में बल अवश्य ही है। यद्यपि यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि शक्ति एक साधन मात्र है साध्य नहीं। राष्ट्र केवल शक्ति के लिये ही कोई राजनीति संचालित नहीं करते। साथ ही शक्ति की अपनी सीमायें होती हैं।

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र

फेलिक्स ग्रास, रसेल एच. फिफील्ड आदि विद्वानों ने राष्ट्रों की विदेश नीतियों के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति माना है। यह तर्क दिया गया है कि जब तक हम राष्ट्रों की विदेश नीतियों को नहीं समझ लेंगे तब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नहीं समझ सकते। इस प्रकार से यह बात स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा राष्ट्रों की विदेश नीतियों में अटूट सम्बन्ध है पर एक बात जो नहीं मानी जा सकती वह यह है कि दोनों एक हैं अथवा विदेश नीतियों का अध्ययन मात्र ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है।

फ्रेड्रिक ए. साउन्डरमैन ("The Linkage between Foreign Policy and International Politics" in the Theory and Practice of International Nations New Jersey1966, pp. 16-23) ने लिखा है कि विदेश नीति के अध्ययन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पर्याय नहीं माना जा सकता है । क्योंकि विदेश नीति की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र अधिक विस्तृत है जिसमें विदेश नीति के अध्ययन के अतिरिक्त और भी अनेक विषयों का अध्ययन शामिल है। यह बात सच है कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा महत्पूर्ण ढंग से विदेश नीति द्वारा की जाती है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की यह महत्वपूर्ण सामग्री है पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन न केवल यह जानने का प्रयत्न करता है कि अमुक देश की विदेश नीति क्या है पर यह भी देखता है कि कौन कौन से तत्व उस देश की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन हमें विदेश नीति से निश्चित करने वाली प्रक्रिया से परिचित कराता है। विदेश नीति के अध्ययन को ही सब कुछ मानने के पीछे धारणा यह है कि विदेश नीति के निर्धारक व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय बातावरण को बनाने बिगाड़ने व मोड़ने वाले होते हैं। वे लोग इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि कई बार अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भी नीति निर्माताओं को कोई विशिष्ट नीति अपनाने के लिए बाध्य कर देता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण तथा विदेश नीति पर पड़ने वाले उसके प्रभाव की जानकारी भी शामिल है।

क्विंसी राइट ने अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के अन्तर्गत जिन बातों के अध्ययन को शामिल किया है-वे इस प्रकार से हैं- विश्व में तनाव एवं हलचल की सामान्य दशा, आर्थिक, सांस्कृतिक राजनीतिक क्षेत्रों में राज्यों की पारस्परिक निर्भरता की मात्रा, कानून एवं मूल्यों का सामान्य स्तर, जनसंख्या तथा साधन, उपज और खपत जीवन के आदर्श, तथा विश्व

राजनीति की स्थिति। इन सभी बातों के कारण हैराल्ड तथा माग्रेट स्प्राउट ने विदेश नीति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक उप-विभाग बताया है।

कुछ अन्य विद्वानों ने अपनी अपनी परिभाषाओं में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र को अपेक्षाकृत विस्तृत या सीमित किया है। चार्ल्स स्लेशर ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर्गत सभी अन्तर्राज्य सम्बन्धों को शामिल किया है, यद्यपि वह यह मानता है कि इस प्रकार के सारे सम्बन्ध केवल राजनीतिक ही नहीं होते। पाल्गर पर्किन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का सीधा सम्बन्ध राज्य प्रणाली से जोड़ा है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में विचारधारा और राष्ट्रीयता का भी प्रमुख स्थान है। विचारधारा आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख सूत्रधारों में से हैं। साम्यवाद, लोकतंत्र, और व्यक्तिगत स्वतंत्रता आदि विचारधाराऐं अपने आप में प्रबल शक्तियां हैं। अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों पर इनका प्रमुख प्रभाव रहता है। एशिया तथा अफ्रीका की राजनीति बहुत कुछ राष्ट्रीयता की राजनीति है जिसका सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निश्चित प्रभाव पड़ रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें, और उनसे सम्बन्धित उप संस्थायें भी काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उससे संबंधित अन्य विशिष्ट संस्थाओं, का विश्व राजनीति के क्षेत्र और साधन दोनों रूपों में अपना स्थान है।शान्ति और युद्ध जैसे विषय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र में अपने आप ही शामिल हो जाते हैं। अन्त में यह कहा जा सकता है कि जिस देश से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए प्रयास किये जा रहे हैं तथा उसे एक वैज्ञानिक विषय बनाने के लिए सिद्धान्तों की खोज हो रही है, उसके आधार पर अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपने क्षेत्र में विभिन्न विषयों को समेटने और अपना क्षेत्र समुचित रूप में व्यापक करने को प्रयत्नशील है।

1.6 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की राजनीति ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्र अपने हित साधन के लिये आपसी संबंधों में संघर्ष की जिस स्थिति में रहते है उसी का अध्ययनं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तीन आवश्यक तत्व होते हैः। राष्ट्रीय हित 2. संघर्ष और 3, शक्ति। राष्ट्रीय हित उद्देश्य है, संघर्ष स्थिति विशेष है. और शक्ति उद्देश्य प्राप्ति का साधन हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष का विशेष महत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में संघर्ष की स्थिति बनी ही रहती हैं, अतः शक्ति के माध्यम से सामन्जस्य की प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है। संघर्ष की निरंतर उपस्थिति का मतलब यह नहीं है कि संसार के देश हमेशा एक दूसरे से टकराव रखते हैं। जिन देशों के हित समान होते हैं उनमें सहयोग भी होता है। दूसरे शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष और सहयोग दोनों ही शामिल हैं। सहयोग भी देखा जाय तो अंतिम रूप से संघर्ष का ही परिणाम हे

1- जिन देशों के हित परस्पर समान होते हैं वे आपस में सहयोग इसलिये करते हैं कि दूसरे राष्ट्रों के संघर्ष पर विजय पा सके, ओर
2- सहयोग की आशंका इसलिये की जाती है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्ध स्वभावतः संघर्षपूर्ण होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य किसी भी राजनीति की तरह एक निरंतर क्रिया है - ऐसी क्रिया जिसमें संघर्ष के केन्द्रीय स्थान प्राप्त हैं

1.7 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतंत्र विषय के रूप में

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को एक स्वतंत्र शास्त्र माना जा सकता है अथवा नहीं इस सम्बन्ध में काफी मतभेद रहे हैं। कुछ विद्वान इसे इतिहास का एक विशिष्ट विषय मानते हैं क्योंकि इस विषय का जन्म इतिहास के भिक्षु के रूप में हुआ है। वेल्स युनिवर्सिटी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के पहले प्रोफेसर अल्फ्रेड जिमेर्न एक प्रसिद्ध इतिहासज थे। इसी प्रकार अनेक विद्वान इसे राजनीति शास्त्र के व्यापक विज्ञान का एक स्वायत्त क्षेत्र मानते हैं।

जो विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय मानते हैं उनमें से प्रमुख हैं- ए. डबलू, मैनिंग, क्विन्सी राइट, हाफसन। ए. डबलू, मैनिंग का प्रमुख तर्क यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक वृहत विषय तथा विशाल सामाजिक विश्व का अंग है।" इस सम्बन्ध में वो तीन बातें कहते हैं:-

1. सामाजिक विश्व के अन्तर्गत सम्पूर्ण संसार में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक जाल है. अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वतंत्र अध्ययन जरूरी है।

इसके लिये एक सर्वव्यापी दृष्टिकोण जस्ती है और वह दृष्टिकोण तय तक सफल नहीं होगा जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हम एक स्वतंत्र विषय न मान लो अन्तर्राष्टीय मंच पर बहत सारी घटनायें घटित होती है उन्हें समझने तथा सही संदर्भ में रखने तथा उनकी दिशाओं को जानने का यही सबसे अच्छा तरीका है।

यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की घटनाओं के सही स्वरूप को न समझ सकें, तथा समस्याओं के समाधान की दिशा में समुचित रूप से विचार न कर सकें, तो इसके अध्ययन का कोई लाभ नहीं होगा।

क्विन्सी राइट के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय आज दूसरे विभिन्न विषयों से लाभउठाकर समन्वय का ढंग अपनाते हुए लगातार विकास की ओर बढ़ रहा है।

हाफसन यह प्रतिस्थापित करना चाहते हैं कि हम राज्यों के आन्तरिक मामलों का विवेकपूर्ण अध्ययन तभी कर सकते हैं जब उनकी बाह्य क्रियाओं का विशद, गहन और समुचित अध्ययन करें। स्पष्ट है कि इस अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक स्वतंत्र विषय के रूप में उतना ही मान्य है जितना कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र में।

कैपर जानसन ने लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को हम इतिहास अथवा राजनीति शास्त्र का अंग नहीं मान सकते क्योंकि इसका क्षेत्र उनसे कहीं अधिक व्यापक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शाख जो सामग्री इकट्ठी करता है वह दूसरे शाखों की सामग्री से भिन्न है। अतः सामाजिक विज्ञान में उसे एक स्वतंत्र शाख मानना न्याय संगत है।

पी. डी. मर्चेन्ट, राबर्ट लारिंग, कैप्लान, जार्ज केनन आदि विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता देने को तैयार नहीं हैं। विरोध में निम्नलिखित तर्क दिया गया है:-

1. पहला तर्क यह दिया जाता है कि किसी भी शाख के लिये तीन बातों का होना आवश्यक है-निश्चित अध्ययन सामग्री, स्पष्ट गवेषणा पद्धति, और सर्वमान्य सिद्धान्त का विकास। परंतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है ।
2. दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य कार्य राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों और उनके प्रेरक तथ्यों का पूरा अध्ययन करना है, और यह अध्ययन वह स्वतंत्र रूप से नहीं कर सकता, अपितु उसे राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशाख, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि पर निर्भर रहना पड़ता है। इस स्थिति में

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र दर्जा देना ठीक नहीं है। कैप्लान इसे राजनीति शास्त्र अथवा राजनीति शास्त्र के विकास के रूप में मानना चाहता है।

दोनों पक्षों के तकों की व्याख्या के उपरान्त निष्कर्ष में हम यह कह सकते हैं

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अध्ययन सामग्री लगातार बढ़ रही है और इसका स्वरूप इतना जटिल तथा विशिष्ट बनता जा रहा है कि वह विषय किसी अन्य शास्त्र जैसे राजनीति शास्त्र, इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय कानून या अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं रह सकता है ।
2. आज भले ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वतंत्र रूप पर संदेह किया जाये, लेकिन कल ऐसा नहीं रहेगा। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये सिद्धान्तों का विवेचन होने लगा है। 1947 में हंस जे. मोर्गेंथाऊ ने पहली बार एक व्यवस्थित सिद्धान्त अपनी पुस्तक Politics Among Nations में प्रतिपादन किया जो यथार्थवादी कहलाता है। विभिन्न राज्यों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए पृधक विभागों की स्थापना की गई है। विकासशील देश तक इस दिशा में आगे बढ़ चुके हैं। उदाहरण के लिये भारत Indian School of International Studies को एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता दिलाने की ओर एक साहसिक कदम है।

1.8 नामकरण की समस्या

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय को व्यक्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय मामले तथा विश्व राजनीति आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। बहुधा इन शब्दों का प्रयोग यर्थाथवादीरूप में किया जाता है जो कि गलत है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में काफी व्यापकता पाई जाती है। उसके अन्तर्गत राष्ट्रों के आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी राजनीतिक खोज एवं अन्वेषण सम्बन्धी, और इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध आ जाते हैं। इन शब्दों से वास्तव में विविध राष्ट्रों के सम्पर्क सहयोग, क्रिया-प्रतिक्रिया का बोध होता है। यह शब्द अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी और निजी दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाओं की विस्तृत- विविधताओं की ओर संकेत करते हैं। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शब्दावली मुख्यतः राज्यों के राजनीतिक संबंधों तक सीमित है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध से व्यापक सम्बन्धों को बोध होता है।

जान बर्टन का कहना है कि विश्व राजनीति के संबंध में हम जिन-जिन बातों का अध्ययन करते हैं उनके लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सही शब्दावली नहीं है। बर्टन के अनुसार यह शब्दावली केवल राज्यों के राजनीतिक सम्बन्धों को बताती है। इस लेखक का यह विश्वास है कि ऐसे अनेक गैर सरकारी सम्बन्ध और ऐसी बहुत सी गैर सरकारी संस्थायें होती हैं जिनके विश्वव्यापी महत्व को नकारा नहीं जा सकता। बर्टन का यह कहना ठीक ही है कि संसार के लोगों की विभिन्न समस्याओं की गहन जानकारी के लिये विभिन्न देशों के लोगों के सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार के संबंधों का अध्ययन आवश्यक है। पर बर्टन के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और विश्व समाज के सूचक हैं।

इस सम्बन्ध में दो प्रमुख कठिनाइयां हैं-

1. विश्व समाज को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के पर्याय के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि विश्व समाज शब्दावली से किसी विषय के अध्ययन के क्षेत्र का पता लग सकता है पर उसे स्वयं कोई अध्ययन का विषय नहीं माना जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की शब्दावली स्वयं में एक अध्ययन विषय की द्योतक है।

2- आज की बदलती हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन क्षेत्र अत्यधिक व्यापक बनाने की जरूरत है। तथा आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उन तमाम बातों को शामिल करने का है जो हमारे परम्परागत अध्ययन में अब तक छूटी रही है।

1.9 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा राष्ट्रीय राजनीति

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निषिद्ध विधियों की संख्या, राष्ट्रीय राजनीति में निषिद्ध विधियों के मुकाबले बहुत कम है। उदाहरण के लिए हिंसा धोखाधड़ी और भ्रष्टाचार पर राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में कानूनी रोक रहती है। पुर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम से कम सिद्धान्त रूप में युद्ध की अनुमति उपलब्ध है। कुछ समय पहले तक युद्ध में किया जाने वाला ऐसा कोई काम निषिद्ध नहीं माना जाता था जिससे कि विजय प्राप्त होने की आशा हो। इसे युद्ध विधि में सैनिक आवश्यकता का सिद्धान्त कहते हैं। राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय राजनीति का आधार है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधार है। साधारण तथा राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून से अधिक व्यापक है। इस प्रकार से राष्ट्रीय राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अपेक्षा अधिक व्यवस्था तथा नियमितता पाई जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजीनीति में प्रमुख उद्देश्य यह रहता है कि इसमें भाग लेने वाले समूहों का अस्तित्व बना रहे। प्रभुता सम्पन्न राज्य का अस्तित्व बनाये रखना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख ध्येय है। किन्तु राष्ट्रीय राजनीति में किसी संप्रभुता सम्पन्न राज्य के अस्तित्व को कोई प्रत्यक्ष खतरा नहीं होता। अधिक से अधिक किसी ऐसे समूह के अस्तित्व को खतरा हो सकता है जिसके हाथों में किसी विशेष समय पर सत्ता की बागडोर हो।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की संचालन व्यवस्था राष्ट्रीय राजनीति की संचालन व्यवस्था से भिन्न है। राष्ट्रीय राजनीति को एक ऐसी शासन व्यवस्था के रूप् में देखा जाता है जिसमें शान्तिपूर्ण कानून निर्माण और प्रशासन होता हो, समय समय पर चुनाव होते हो और राज्य की सरकार में किसी न किसी प्रकार का स्थायित्व हो। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को विशेष रूप से युद्ध और बुद्ध के खतरे की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु इन अन्तरों के बावजूद भी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कुछ समानता भी है। दोनों ही क्षेत्रों में शक्ति प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किये जाते हैं। देशों का आन्तरिक शक्ति संघर्ष कभी कभी गृह युद्ध को जन्म देता है। गृह युद्ध का संबंध राष्ट्रीय राजनीति से होता है और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का संबंध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से होता है।
क्विंसी गइट का मत है कि प्रभुता संपन्न राज्यों के बीच की राजनीति को एक संकीर्ण अर्थ में ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहा जा सकता है। राइट का यह भी मत है कि राष्ट्रीय प्रभुसन्ना समाप्त हो जाने पर ही हम सच्चे अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बात सोच सकते हैं परन्तु 1945 से आज तक की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से स्पष्ट है कि संसार से राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को लोप हुये बिना भी ऐसे समूह बन सकते हैं। उदाहरण के लिये सोवियत गुट, तथा एशियाई अफ्रीकी गुट।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को कुछ लोगों ने विश्व राजनीति की भी संज्ञा प्रदान की है। परन्तु विश्व राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नहीं समझाना चाहिए। सामान्य तथा विशेष दोनों ही अथों में क्षेत्रों में अंतर है। विश्व राज्य के अभ्युवदय के बाद ही विश्व राजनीति की कल्पना की जा सकती है। विश्व राज्य की स्थापना के बाद ही उसमें उस तरह की संस्थायें भी होंगी जैसी राष्ट्रीय राजनीति में होती है। 1945 तक केवल दो एक विश्व संस्थाओं का ही अस्तित्व था, उसके बाद बहुत सारी विश्व संस्थाओं का जन्म हो गया है और भविष्य में ऐसी बहुत सी संस्थाओं का बन जाने की सम्भावनायें हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ का तथा दूसरे विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक प्रकार की विश्व संस्थायें हैं। आजकल घरेलू राजनीति का दायरा पहले से बहुत विस्तृत हो गया है। आज बहुत सी अधि-राष्ट्रीय संस्थाओं का जन्म हो चुका है जैसे नाटो, अमेरिकी राज्यों का संगठन, अरब लीग, सोवियत गुट, ब्रिटिश राष्ट्र मंडल और

पश्चिमी यूरोप के राज्यों की अनेक संस्थायें, इस प्रकार की अनेक अधि-राष्ट्रीय संस्थाओं ने महत्वपूर्ण राष्ट्र समूहों का रूप ले लिया है और वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रक्रिया में सक्रिय भाग ले रही हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति द्वारा घरेलू राजनीति के क्षेत्र का विस्तार किया जा रहा है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विश्व राजनीति में जो अन्तर है वह समझ लेना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वर्तमान काल की घटना है और विश्व राजनीति भविष्य की।

1. Politics Among Nations का प्रकाशन किस सन में किया गया ?
2. Polities Among Nations के लेखक कौन है?
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया ?
4. हैन्स मार्गेन्थो राष्ट्रोंके मध्य शक्ति के लिये संघर्ष, तथा उसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति कहलाता है। सत्य/असत्य
5. फेलिक्स ग्रास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में राष्ट्रों की विदेश नीति का अध्ययन ही है। सत्य/असत्य
6. अविराजनीति का अर्थ पहले यरोप की राजनीति से ही लिया जाता था । सत्य /असत्य

1.10 सारांश

मूल रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन है। वैश्वीकरण के वर्तमान युग में वह हर राष्ट्र की मजबूरी है कि वह अन्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आये। इसलिये प्रत्येक राष्ट्रीय कर्ता अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भूमिका निर्वाह के दौरान राष्ट्र का एक ही लक्ष्य होता है। पहले से पूरे हो रहे राष्ट्रीय हित में वृद्धि करना अथवा कम से कम उन्हें यथावत बरकरार रखना। अपने राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के निमित राष्ट्र बलकारी उपाय करने के लिए स्वतंत्र है। लेकिन राष्ट्र हित की सुरक्षा या उसमें अभिवृद्धि करने के लिए क्षमता चाहिए। यही क्षमता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शब्दावली में शक्ति कहलाती है। यह दूसरे को, उसकी इच्छा के विरूद्ध अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने हेतु बाध्य कर देने की क्षमता है। दूसरे शब्दों में शक्ति वह माध्यम है जिसके द्वारा राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित में अभिवृद्धि का प्रयास करते हैं। इस रूप में राष्ट्रीय हित और शक्ति में अटूट सम्बन्ध है। एक लक्ष्य है तो दूसरा माध्यम। विदेश नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अभीष्ट राष्ट्रीय हित और उपलब्ध शक्ति के मध्य समानुपातिक सम्बन्ध हो। मार्गेन्थाऊ ने लिखा भीं है कि 'शक्ति के संदर्भ में राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्रों द्वारा शक्ति अर्जित करने की प्रक्रिया क अध्ययन है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की अपेक्षा एक संकुंचित अवधारणा है क्योंकि इसके अन्तर्ग राष्ट्रों के मात्र राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अन्तर्गत राष्ट्रों के सभी प्रकार के सम्बन्धों आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक का अध्यय अभीष्ट होता है। चाहे तो हम ऐसे भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक बड़ा वृत्त है जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति उसके भीतर विद्यमान एक छोटा केन्द्रीय वृत्त है।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्रमशः लोकतंत्रीकरण होता गया है। द्वि विश्व युद्ध के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्वतंत्र कर्ताओं (राज्यों) की संख्या निरंतर बढ़ती है। इससे अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मात्र यूरोपीय राजनीति न रह कर सही अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय गयी।

परमाणु अस्त्रों के प्रसार ने भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को क्रमशः प्रभावित किया है। इन्होंने स्वरूप को ज्यादा तकनीकी और भयावह बना दिया है। लेकिन इससे शान्ति की संभावन प्रबल हुई है। क्योंकि राष्ट्र अपने अस्तित्व के खतरे में डाल कर युद्ध के लिये नहीं तैयार होते।

अन्तर्राष्टीय राजनीति का क्षेत्र उन सभी विषयों तक प्रसारित है जो राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध से किसी भी रूप और किसी भी मात्रा में सम्बन्धित है इसमें उस परे परिवेश का अध्ययन आ जाता है। जिसमे राष्ट्र अपनी अन्तः क्रिया करते हैं इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, राष्ट्रों की शक्ति संरचना, राष्ट्रों की विदेश नीतियों आदि का अध्ययन अभीष्ट होता है।

1.11 शब्दावली

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति - राष्ट्रों के मध्य राजनीति

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध- इसमें काफी व्यापकता पाई जाती है। उसके अन्तर्गत राष्ट्रों के आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी राजनीतिक खोज एवं अन्वेषण सम्बन्धी, और इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध आ जाते हैं।

1.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1947, 2. हैन्स मार्गेन्थो 3. हैन्स मार्गेन्धो 4. सत्य, 5. सत्य, 6. सत्य

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Palmer and Perkins: International Relations

2 Coloumbis & Wolfe: International Relations - Power and Justice.

3. Prakash Chandra International Policies

4. Mahendra Kumar: Theoretical Aspects of International Relations.

1.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मॉरगेन्थाऊ, हैन्स (1960), पॉलिटिक्स एमंग नेशन, मैकमिलन-हिल ह्यमेनिटीज।

2. कुमार, महेन्द्र (2013), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक परिपेक्ष्य, शिवलाल अग्रवाल पब्लिकेशनस एण्ड कॉरपोरेशन।

3. फाड़िया, बी.एल. (2008) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

4. खन्ना, बी.एन. (2003) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि.

1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अर्थ समझाइये और इसके स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में क्या अंतर है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के की विवेचना कीजिये।

3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप और क्षेत्र की चर्चा कीजिये।

इकाई-2 : अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शास्त्रीय एवं आधुनिक उपागम (यथार्थवादी, नवयथार्थवादी, आदर्शवादी)

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम
2.3.1 यथार्थवाद
2.3.1.1 मार्गेन्थाऊ का यथार्थवाद
2.3.1.2 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की प्रमुख सिद्धांत
2.3.1.3 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की समालोचना
2.3.1.4 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त का महत्व
2.4 नव यथार्थवाद
2.5 आदर्शवाद
2.6 यथार्थवाद बनाम आदर्शवाद
2.7 सारांश
2.8 शब्दावली
2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

जार्ज सिम्पसन George Simpson के अनुसार ‘‘उपागम का आशय उस मापदण्ड से है जिसका प्रयोग अनुसंधान के दौरान समस्या और आंकड़े के चयन के लिये किया जाता है। इसका सिद्धान्त से नजदीकी सम्बन्ध है। प्रत्येक विषय के अनेक उपागम होते हैं। या हो सकते हैं। शोधकर्ता सिद्धान्त निर्माण के लिए इन्हीं उपागमों का प्रयोग करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में भी यही सही है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के अनेक उपागम विकसित हो चुके हैं। बर्टन सैपिन Burton Sapin के अनुसार अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के कुल 27 उपागम विकसित किये जा चुके हैं जबकि क्विन्सी राइट के अनुसार कुल उपागम 23 और पामर परकिन्स के अनुसार 7 हैं। इसके पूर्व के समयकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक और संस्थात्मक उपागमों का प्रयोग किया जाता था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आदर्शवादी और यथार्थवादी उपागम पूर्ण उपागम माने जाते हैं क्योंकि वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या उसकी समग्रता में करते हैं। जबकि दूसरे उपागम यथा निर्णय उपागम, खेल उपागम, सौदेबाजी उपागम आदि आंशिक उपागम माने जाते हैं।

आदर्शवादी उपागम 1920 और 1930 के दशक में विशेष चर्चित रहा। यह उपागम मनुष्य को एक विवेकशील और स्वाभाविक रूप से एक सामाजिक प्राणी मानता है। यह उपागम बल, संघर्ष और युद्ध का निषेध करता है। इसकी यह मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को मजबूत करके एक शान्तिपूर्ण विश्व की स्थापना की जा सकती है।

इसके विपरीत यथार्थवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'शक्ति के लिये संघर्ष' के रूप में परिभाषित किया। इस दृष्टिकोण में मनुष्य को स्वाभाव से स्वार्थी माना जाता है। राष्ट्रहित में अभिवृद्धि राष्ट्र का धर्म है, इसकी प्राप्ति के लिये शक्ति का अधिकतम संचयन राष्ट्र की आवश्यकता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के समयकाल में वैज्ञानिकता के प्रभाव के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये अनेक आधुनिक उपागम विकसित हुए। इन्हें सम्मिलित रूप से वैज्ञानिक या आधुनिक या व्यावहारवादी उपागम कहा जाता है। व्यवस्था उपागम निर्णय निर्माण उपागम, खेल उपागम तथा सौदेबाजी उपागम मुख्य रूप से इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न उपागमों और उनके संभावित लाभों और हानियों से अवगत कराना है ।

- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विभिन्न उपागमों का विवेचन कर सकेंगे।
- विभिन्न उपागमों की दुर्बलताओं से अवगत हो सकेंगे।
- एक समन्वित उपागम से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन कर सकेंगे।

2.3 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के उपागम

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में यथार्थवादी तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी हैं । जार्ज कैनन तथा मार्गेन्थाऊ यथार्थवादी दृष्टिकोण के प्रवर्तक हैं। वालकिन्स, लासवेल तथा डेविड ईस्टन ने भी यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही समर्थन किया है। वुडरो विल्सन तथा बर्ट्रेंड रसेल ने आदर्शवादी दृष्टिकोण का प्रतिपालन किया है।

2.3.1 यथार्थवाद

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद अनुमान और तर्क पर आधारित है। यह दृष्टिकोण सुरक्षा तथा शक्ति तत्वों पर विशेष बल देता है। इस प्रकार के विचार का आधार यह है कि व्यक्ति में ऐसा विश्वास होता है कि दूसरे लोग उसको नष्ट करने की चेष्टा में रहते हैं। अतः अपनी सुरक्षा के लिये उसे दूसरों को मार डालने के लिये सजग तथा तत्पर रहना चाहिए। यथार्थवादी दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि विश्व के राष्ट्रों के बीच किसी न किसी रूप में संघर्ष तथा वैमनस्य बना रहता है, इस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय समाज में शक्ति तथा प्रभाव की होड़ हमेशा बनी रहती है। कूटनीति तथा राजनय का प्रमुख कार्य यह है कि शक्ति प्रतिस्पर्धा पर किसी न किसी रूप में अंकुश लगाया जाय । शक्ति स्पर्धा पर लगाये जाने वाले अंकुश एक प्रकार का नया शक्ति संतुलन स्थापित करते हैं। यथार्थवाद शक्ति संघर्ष के स्थायित्व को स्वीकार करता है। इसका विश्वास है कि यह संसार परस्पर विरोधी हितों, और स्वार्थों का रंगमंच है जो

आपस में टकराते रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न विरोधी स्वार्थों के बीच संतुलन स्थापित किया जाय, तथा संघर्ष को टालने का प्रयत्न किया जाय।

जार्ज केनन तथा हैन्स मार्गेन्थाऊ दोनों का ही यह दृढ़ विश्वास है कि किसी भी बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का आधार राष्ट्रीय हित ही होना चाहिए। परन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय हित, तथा नैतिक सिद्धान्तों के बीच सम्बन्ध की प्रवृत्ति का प्रश्न है, दोनो ही विचारकों के मत भिन्न हैं। जार्ज एफ. केनन के अनुसार हम केवल अपने ही हितों को जान और समझ सकते हैं। तथा कोई भी समाज दूसरों की घरेलू समस्याओं और आवश्यकताओं का निर्णायक नहीं हो सकता। अतः यह ठीक ही है कि एक ओर तो हम अपनी राष्ट्रीय हितों की आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी विदेश नीति तथा वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करें, तथा दूसरी ओर उन नैतिक तथा आदर्श सिद्धान्तों के अनुसरण की भी कोशिश करें जो हमारी सभ्यता में अन्तर्निहित हैं। पर इस प्रकार के नैतिक सिद्धान्त केवल हमारे अपने लिये ही वैध तथा मान्य हो सकते हैं, दूसरों के लिये नहीं। अतः हमको इन सिद्धान्तों को दूसरों पर थोपने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। जार्ज केनन के इन विचारों के विपरीत हैन्स मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रीय हित ही को सर्वोच्चता प्रदान की है तथा यह विचार व्यक्त किया है कि राष्ट्रीय हित नैतिकता के सिद्धान्तों से ऊपर है। मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त का विवेचन हम अलग से करेगे, यहाँ पर केवल इतना कहना ही काफी है कि यथार्थवादियों में इस बात पर मत की एकता नहीं है कि राष्ट्रीय हित को किस सीमा तक प्रमुखता दी जाय। इस बात पर कोई मतभेद नहीं है कि विदेश नीति और वैदेशिक सम्बन्धों का आधार राष्ट्रीय हित ही होना चाहिए न कि नैतिक सिद्धान्त।

2.3.1.1 मार्गेन्थाऊ का यथार्थवाद

मार्गेन्थाऊ का यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता हैं और उन्होंने यथार्थवाद को चिन्तन का एक पृथक तथा स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया। वैसे तो यथार्थवाद पर अनेक लेखकों ने लिखा है जैसे कि जार्ज एफ. केनान परन्तु मार्गेन्थाऊ पहला विद्वान है जिसने एक यथार्थवादी प्रतिमान विकसित किया है इस क्षेत्र में मार्गेन्थाऊ के योगदान के कारण यथार्थवाद तथा मार्गेन्थाऊवाद के विद्वान पर्यायवाची मानने लगे हैं।

2.3.1.2 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की प्रमुख सिद्धांत

मार्गेन्थाऊ ने अपने राजनीतिक दर्शन में छः मेल तत्व बताये हैं इन्हीं छः तत्वों में उनके यथार्थवादी सिद्धान्त का सार अर्न्तनिहित है।

प्रथम सिद्धांत

पहला तत्व यह है कि राजनीति पर प्रभाव डालने वाले सभी नियमों की जड़ मानव प्रवृत्ति में होती है। मनुष्य जिन नियमों के अनुसार संसार में क्रिया कलाप करता है वे सार्वभौम हैं और यह नियम हमारी नैतिक मान्यताओं से हमेशा अछूते रहते हैं समाज को सुधारने के लिये यह जरूरी है कि पहले उन नियमों को समझ लिया जाए जो समाज के जीवन धारा हैं। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि विदेश नीति का मूल्यांकन राजनीतिक गतिविधियों, और उनके सम्भावित परिणामों की परीक्षा करने के बाद ही हो सकता है। किसी देश की विदेश नीति को समझने के लिए यह जरूरी है कि पहले हम उस देश के राजनीतिक नेताओं के विभिन्न कार्यों पर दृष्टि डालें, और फिर तर्क के आधार पर देखें कि उन राजनेताओं के उद्देश्य क्या रहे होंगे।

मार्गेन्थाऊ का कहना है कि राजनीति का स्वरूप मानव प्रवृत्ति पर आधारित होता है इस प्रकार से विश्व मानव प्रवृत्ति का ही प्रतिबिम्ब है। मार्गेन्थाऊ के अनुसार विश्व एक ऐसा स्थल है जहॉ अच्छाई और बुराई, तर्क और भावना, जीवन और मृत्यु, स्वास्थ्य और रोग, तथा शान्ति और युद्ध के बीच में लगातार संघर्ष चला करता है। इस संघर्ष में हमारे विरोधियों की विजय होने की सम्भावना हमेशा बनी रहती है। यह संसार विरोधी हितों, और उनके बीच होने वाले निरंतर संघर्ष का रणक्षेत्र है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि जब कभी हम अपने भाई बन्धुओं को ध्यान में रखकर काम करते हैं तो हम निश्चित रूपसे कोई न कोई पाप करते है। अतः मार्गेन्थाऊ का विचार है कि संघर्ष और पाप का

मूल श्रोत मानव प्रकृति के दो लक्षणों में पाया जाता है। यह दो लक्षण हैं *स्वार्थपरता तथा प्रभुत्व की लालसा*। जब हम कोई वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं तो उसको प्राप्त करने के मार्ग में बहुत सी बाधायें आती हैं क्योंकि दूसरे लोग भी वही वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं परिणाम यह होता है कि एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। और हमारी स्वार्थपरता हमें आपसी प्रतियोगिता की ओर ले जाती है।

परन्तु स्वार्थपरता की भी सीमायें होती है। मार्गेन्थाऊ कहता है कि स्वार्थपरता की मांगों को काफी हद तक पूरा भी किया जा सकता है। इसलिये मार्गेन्थाऊ कहता है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति जो युद्ध भाव है उसका कारण केवल स्वार्थपरक ही नहीं है पर प्रभुत्व की लालसा भी है जो कि मानव प्रकृति का दूसरा प्रमुख लक्षण है। मानव समाज के इन दो लक्षणों (स्वार्थपरता तथा प्रभुत्व की लालसा) में अन्तर है। स्वार्थपरता सीमित है जबकि प्रभुत्व की लालसा असीमित है। इस लालसा को स्वार्थपरता की तरह न तो संतुष्ट किया जा सकता है और न ही इसे सीमा बद्ध किया जा सकता है। प्रभुत्व की लालसा के संबंध में मार्गेन्थाऊ के विचार हाब्स से मिलते जुलते हैं। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि मनुष्य की प्रभुत्व की लालसा तभी पूरी तरह से संतुष्ट होगी जब संसार का प्रत्येक अन्य मनुष्य उसके आधिपत्य में आ जायेगा। जबकि हाब्स ने कहा था कि अगर मनुष्य के पक्ष में हो तो वह यह चाहेगा कि सारी दुनिया उससे डरे और उसकी आज्ञा का पालन करती रहे। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि प्रभुत्व की लालसा ही हर प्रकार की राजनीति का सार है।

दूसरा सिद्धांत

मार्गेन्थाऊ के राजनीतिक दर्शन का **दूसरा प्रधान** तथ्य राष्ट्रहित की प्रमुखता है। मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रहित को शक्ति की संज्ञा दी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथर्थवादी सिद्धान्त इस बात की परवाह नहीं करता कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में क्या होना चाहिए, और क्या हो रहा है। अथवा उसमें क्या नैतिक है और क्या अनैतिक। इसका संबंध तो केवल उन सम्भावनाओं से है जो किसी विशेष सतह के काल की किन्हीं क्षेत्र परिस्थितियों के अन्तर्गत आती हैं। अतः विदेश नीति का सम्बन्ध उसकी सफलता की राजनीतिक आवश्यकताओं से होना चाहिए। इस प्रकार से हम देखते हैं कि राजनीतिक यथार्थवाद की दूसरी प्रमुख मान्यता है शक्ति के रूप में परिमापित हित की अवधारणा सरल शब्दों में इसका अर्थ है राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के लिये शक्ति का प्रयोग। राष्ट्रीय हित का केन्द्र बिन्दु सुरक्षा है। और सुरक्षा के लिये शक्ति अर्जित की जाती है। दूसरे शब्दों में हित की कल्पना शक्ति विहीन सन्दर्भ में नहीं की जा सकती। राजनीति का मुख्य आधार हित और उनकी सुरक्षा है - यही कारण है कि राजनीति को हम शक्ति से अलग रखकर नहीं समझ सकते। तात्पर्य यह है कि शक्ति राजनीति का केन्द्र बिन्दु है। मार्गेथाऊ की मान्यता है कि विदेश नीति के निर्माता शक्ति को आधार मानकर ही नीतियों की रचना करते हैं, और इतिहास की इस बात की पुष्टि करता है।

मार्गेन्थाऊ का कहना है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ ''शक्ति के रूप में परिमार्जित हित की दिशा में ही सोचता है। और कार्य करता है। राजनीतिज्ञ का उद्देश्य अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करना होता है। शक्ति के रूप में परिमाणित हित के आधार पर ही हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सैद्धान्तिक रूप प्रदान कर सकते हैं। यही एक ऐसा विचार है जिसके आधार पर राष्ट्रों की विदेश नीतियों में निरंतरता का आभास मिलता है यदि इनका निर्माण करने वाले समय समय पर बदलते रहे हों, और उनके बौद्धिक स्तर, उद्देश्य, नैतिक गुण आदि भिन्न भिन्न रहे हों। इस दृष्टि से यथार्थवादी सिद्धान्त अपने आप को दो भ्रान्तियों से बचाना चाहता है 1- मन्तव्यों से संबंधित भ्रान्ति से 2- वैचारिक वरीयताओं से संबंधित भ्रान्तियों से। यदि हम राजनीतिज्ञों के मन्तव्यों को देखकर ही किसी देश की विदेश नीति को समझने का प्रयास करेंगे तो असफल होंगे तथा धोखा खा जाएंगे। मार्गेथाऊ का कहना है कि राजनीतिज्ञों के वास्तविक प्रयोजनों के आधार पर हम यह फैसला नहीं कर सकते कि उनकी विदेश नीतियां नैतिक दृष्टि से सराहनीय, तथा

राजनीतिक दृष्टि से सफल रहेंगी। विश्व शान्ति और भ्रातृत्व की भावना का उल्लेख लेकर चलने वाली नेहरूवादी विदेश नीति की आलोचना इस आधार पर की गई। वह गैर यथार्थवादी थी। चेम्बरलेन की तुष्टीकरण की विदेश नीति का उद्देश्य संसार में शान्ति स्थापित करना था, किन्तु वही नीति द्वितीय विश्व युद्ध का एक प्रमुख कारण बनी। दूसरी ओर विन्सटन चर्चिल की विदेश नीति का प्रयोजन संकीर्ण स्वार्थ था लेकिन उसके परिणाम राजनीतिक दृष्टि से अधिक उच्चतर माने गए। कहने का तात्पर्य यह है कि यथार्थवादी दृष्टिकोण किसी कार्य का नैतिक तथा राजनीतिक स्तर उसके प्रयाजनों से नहीं बल्कि उसके परिणामों से देखता है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह एक सामान्य सी परम्परा बन गई है कि प्रत्येक देश अपनी विदेश नीति को सैद्धान्तिक आवरण पहनाकर आकर्षक बना देता हैं ताकि युवा जनमत उसकी ओर खिंचता चला जाए।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल आधार राष्ट्र हित है जिसे केवल शक्ति के संघर्ष में देखा जा सकता है। यह दृष्टिकोण उन इकाइयों (अर्थात राज्यों) पर विशेष ध्यान देता है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख कार्यकर्ता हैं। इस दृष्टिकोण को यथार्थवादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें राष्ट्रहित की महत्ता पर विशेष बल दिया जाता है। यह दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि शक्ति के द्वारा ही राष्ट्रीय हितों को बढ़ाया जा सकता है। जिस सीमा तक इसमें शक्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है उस सीमा तक इसे शक्तिवादी दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। मार्गेन्थाऊ ने स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य सभी राजनीतियो की तरह शक्ति के लिए संघर्ष है और यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य कुछ भी हो इसका तात्कालिक लक्ष्य शक्ति प्राप्त करना ही होता है शक्ति के महत्व पर जोर डालते हुए मागेन्थो कहता है कि शक्ति का अर्थ है ''मनुष्यों का अन्य मनुष्यों के मष्तिस्क, और क्रिया कलापों पर नियंत्रण''। मागेन्थों से पहले भी तथा बाद में भी कई लेखकों ने शक्ति के इस दृष्टिकोण पर बल दिया है। 19वीं शताब्दी में ट्रीट्स्के Leon Trotsky तथा नीटशे Friedrich Nietzsche ने शक्ति के विचार तथा शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा का अनुमोदन किया। प्रथम विश्व युद्ध से पहले एरिख काफमैन Erich Kaufmann ने लिखा कि शक्ति के विकास संवर्द्धन और प्रदर्शन में ही राज्य का सार है। फ्रेडरिक वाटकिन्स, हेराल्ड लासवेल, डेविड ईस्टन आदि विद्वानों ने राजनीति के अध्ययन में यथार्थवादी विचारधारा के विभिन्न पहलुओं पर जोर दिया है। इन सभी ने शक्ति राजनीति पर बल दिया है। डेविड ईस्टन का कहना है कि राजनीति विज्ञान शक्ति के प्रयोग, और वितरण से प्रभावित होता है। मार्गेन्थाऊ की तरह ही ई. एच. कर, क्विंसी राइट, जार्ज सेवारजेनबर्गर, मार्टिन राइट, आदि आधुनिक विचारक भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में राजनीति विज्ञान की शक्ति सम्बन्धी अवधारणा के विस्तार के समर्थक हैं। पर इन सब से कहीं अधिक कार्य मार्गेन्थाऊ ने किया है। उसने शक्ति के दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों अथवा राजनीति पर सबसे अधिक व्यवस्थित कार्य किया है। अन्य विद्वानों ने मार्गेन्थाऊ द्वारा स्थापित परम्परा को ही आगे बढ़ाया है। पालिटिक्स अमंग नेशन्स में मार्गेन्थाऊ कहता है कि उनका सिद्धान्त यथार्थवादी इसलिये है क्योंकि यह मानव स्वभाव को उसके वास्तविक अथवा यथार्थ रूप में देखता है।

तीसरा सिद्धान्त -

मार्गेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रहित का कोई निश्चित या निर्धारित अर्थ नहीं है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व शाश्वत है। परन्तु परिस्थितियों में कुछ मामूली परिवर्तन होते रहते हैं। अतः एक राजनेता के लिये यह आवश्यक है कि वह मूल तत्वों को बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार ढालने का लगातार प्रयत्न करता रहे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शक्ति सिद्धान्त को लागू करते समय उसमें कुछ परिवर्तन करना कभी कभी जरूरी हो जाता है। शक्ति सिद्धान्त लागू करते समय हम शक्ति की सीमाओं को भी ध्यान में रखें।

मार्गेंथाऊ के अनुसार हित दो प्रकार के होते हैं। 1- अन्तर्राष्ट्रीय तथा परिवर्तनशील। राजनीति का गूढ़ तत्व सुरक्षा में निहित है जिसके बगैर किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र का अस्तित्व नहीं रहा सकता। सुरक्षा किसी भी राष्ट्र का न्यूनतम कार्य है। यह सुरक्षा ही कभी न बदलने वाला हित है। यथार्थवाद जैसा कि हमने देखा इस तथ्य से इंकार नहीं करता

कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आते हैं । वास्तव में यथार्थवादी सिद्धान्त तथा परिवर्तन में कोई विरोधाभास नहीं है। राजनीतिक यथार्थवाद केवल इस बात पर बल देता है कि परिवर्तन लाने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम राजनीति के गूढत्र तत्व को ही तिलांजलि दे दें।

चौथा सिद्धान्त -

राजनीतिक यथार्थवाद यह स्वीकार करता है कि राजनीतिक कार्यों का नैतिक महत्व भी है। साथ ही साथ यह बात भी मानकर चलता है कि नैतिक मापदंड, तथा राजनीतिक कार्यो के बीच तनाव की स्थिति रहती है, परन्तु हमको यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि सम्पूर्ण नैतिक सिद्धान्त राज्य के कार्यों पर लागू नहीं किए जा सकते। उनका आकलन समय की ठोस कसौटी पर किया जाना चाहिए, और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर नैतिक सिद्धान्तों का चयन किया जाना चाहिये। राजनीतिक यथार्थवाद की यह मान्यता है कि राष्ट्रों को नैतिक सिद्धान्तों का पालन विवेक(स्वहित) और सम्भावित परिणामों के आधार पर ही करना चाहिए। विवेक के बगैर राजनीतिक नैतिकता के कोई माने नहीं होते। एक व्यक्ति तो नैतिक सिद्धान्तों के लिए सब कुछ छोड़ सकता है, पर यह बात राज्य पर लागू नहीं होती । कोई भी देश नैतिकता की दुहाई देकर अपनी सुरक्षा खतरे में नहीं डाल सकता । इस प्रकार से हम देखते हैं कि राजनीतिक यथार्थवाद नैतिकता के प्रति उदासीन नहीं है, पर वह यह मानता है कि काल की परिस्थितियों के अनुसार नैतिक सिद्धान्तों में आवश्यक संशोधन कर लेने चाहिए। साथ ही साथ यथार्थवाद विवेक को राजनीति में उच्चतम मूल्य मानता है।

पॉंचवां सिद्धान्त -

राजनीतिकि यथार्थवाद का पांचवां सिद्धान्त यह है कि राष्ट्र के नैतिक मूल्यों तथा सार्वभौम नैतिक मूल्यों को एक नहीं समझना चाहिए। यह दोनों एक दूसरे से पृथक हैं। किसी सार्वभौम नैतिक कानून का पालन किसी देश विदेश के लिये निश्चित रूप से लाभदायक नहीं है। यह भी संभव है कि उनके पालन से भयंकर परिणाम उत्पन्न हो जाएं। नैतिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिऐ अपने देश के हितों को बलिदान करने वाला व्यक्ति राजनीतिक दृष्टि से बुद्धिमान नहीं समझा जाता । पर दूसरी ओर राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नैतिकता का सर्वथा परित्याग भी इतिहासकारों की आलोचना का विषय बनता है । यह दोनों भ्रान्तियां है। और इनसे बचने का उपाय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने शक्ति के रूपमें परिभाषित राष्ट्रीय हित की दिशा में कदम उठाए।

मार्गेथाऊ अपने पांचवें सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीतिज्ञों को चेतावनी देता है कि वे राष्ट्रों के द्वारा दी जाने वाली नैतिकता की दुहाई से अनावश्यक रूप से प्रभावित न हों। प्रत्येक राष्ट्र अपने कार्यों के समर्थन में नैतिकता की दुहाई अवश्य देता है। परन्तु वास्तव में वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कार्य करता है और उसके उद्देश्य अपने हितों की सुरक्षा होती है। इतिहास साक्षी है कि नैतिकता की दुहाई देते हुये कई राज्यों ने दूसरे राज्यों को नष्ट कर दिया । व्हाइटमैन बर्डेन White Man's Burden के सिद्धान्त के आधार पर एशिया तथा अफ्रीका के निवासियों को सिविलाइज बनाने की आड़ में साम्राज्यवाद का विस्तार किया गया।

राष्ट्र की सहायता करने तथा उसके विकास में मदद देने में भी एक राष्ट्र अपने ही हितों की रक्षा करता है। उदाहरण के लिए यू.एस.ए. यदि दूसरे राष्ट्रों को आर्थिक या नैतिक सहायता देता है तो ऐसा करने से वह अपने ही हितों की रक्षा करता है - Containment of communism साम्यवाद के बढ़ावा को रोकना। यू.एस.ए. 1953 के बाद से लगभग बराबर पाकिस्तान को सैनिक मदद दे रहा है और बदले में वहॉं पर उसके सैनिक सुविधायें प्राप्त की तथा साथ ही साथ उसके हथियारों की जो कि आये दिन बेकार होते रहते हैं उनकी भी खपत होती रहती है। भारत के द्वारा नेपाल व भूटान को भारी आर्थिक सहायता देने के पीछे भी यही उद्देश्य है - इन देशों को चीन के पूर्ण प्रभाव में जाने से रोकना ।

मार्गेथाऊ का कहना है कि यदि प्रत्येक राष्ट्र एक ही लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील हैं तो यह संभव है कि सभी राष्ट्र इस आधार पर संतुलित संबंध स्थापित कर लें। और यदि ऐसा हो जाता है तो यह विश्व शांति का प्रबल आधार बन जाएगा। मार्गेथाऊ कहता है कि राष्ट्रों के द्वारा पारस्परिक सूझ बूझ के आधार पर संतुलन स्थापित कर लेना आज के युग की सबसे बड़ी नैतिकता है और यह नैतिकता वांछनीय भी है।

छठा सिद्धान्त -

यथार्थवाद के अपने इस छठे सिद्धान्त में मार्गेन्थाऊ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय मानने की बात कही है।वह राजनीति के क्षेत्र की स्वायत्तता में विश्वास करता है। यथार्थवाद गैर राजनीतिक विषयों से अनभिज्ञ नहीं है। पर वह उन्हें राजनीतिक नियमों के अधीन मानता है। यथार्थवाद उन सभी विचारधाराओं का विरोध करता है जो राजनीतिक विषयों पर गैर राजनीतिक नियमों को जबरदस्ती थोपने का प्रयत्न करती हैं। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि बौद्धिक रूप से राजनीतिक क्षेत्र उसी प्रकार से एक स्वतंत्र क्षेत्र हैं जिस प्रकार अर्थशास्त्र अथवा समाजशास्त्र हैं। यथार्थवाद मानव प्रवृत्ति के बहुल स्वरूपपर आधारित हैं। एक यथार्थवादी व्यक्ति, आर्थिक मानव, राजनीतिक मानव, नैतिक मानव, धार्मिक मानव, आदि का मिला जुला स्वरूप हैं। किन्तु यदि हम इनमें से किसी एक स्वरूप का गहन अध्ययन करना चाहते हैं तो उसको अन्य स्वरूपों से अलग रखकर ही ऐसा कर सकते हैं तभी यह अध्ययन सुव्यवस्थित होगा। राजनीतिक अध्ययन में मानव प्रवृत्ति के अन्य स्वरूपों का स्थान गौड़ है और यही कारण है कि राजनीतिक यथार्थवाद में राजनीति की स्वतंत्रता में बहुत अधिक बल दिया जाता है। राजनीति के विभिन्न स्वरूपों में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति भी एक है। अतः यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सुव्यवस्थित, तथा गहन अध्ययन करना चाहते हैं तो उसे अन्य राजनीतिक प्रभावों जैसे आन्तरिक राजनीति आदि से यथासंभव स्वतंत्र रखना होगा। स्पष्ट है कि अर्न्तराज्य का भी अपना स्वतंत्र स्वरूप है। यथार्थवादी दृष्टिकोण की तीन मूलभूत मान्यतायें हैं। पहली यह कि प्रत्येक देश के राजनेता हमेशा अपने राष्ट्र के हित की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। दूसरी मान्यता यह है प्रत्येक राष्ट्र का हित उसके भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक विस्तार में ही निहित है। तीसरी धारणा यह है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति और प्रभाव का उपयोग अपने हितों की रक्षा के लिये करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक राज्य की विदेश नीति पूरी तरह से शक्ति पर निर्भर है। और यदि हम यह मानते हैं कि शक्ति भी एक प्रकार का प्रभाव है तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राज्य की विदेश नीति प्रभाव पर आधारित है। इस प्रकार से शक्ति के दृष्टिकोण को प्रभाव का दृष्टिकोण भी कहा गया है। इस प्रकार से शक्ति,प्रभाव व यथार्थवादी दृष्टिकोण एक हैं।

मार्गेन्थाऊ का यह भी कहना है कि शक्ति ही वह वस्तु है जिसके द्वारा मनुष्य दूसरे मनुष्यों पर प्रभुत्व स्थापित करता है। साथ ही साथ वह यह भी कहता है कि जो लोग शक्ति का प्रयोग करते हैं, तथा जिन पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है उनके बीच शक्ति से एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक संबंधत स्थापित हो जाता है शक्ति का तात्पर्य है राजनीतिक शक्ति अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति। शक्ति की इस परिभाषा के आधार पर मार्गेन्थाऊ ने शक्ति और हिंसा या बल प्रयोग में भी किया है। कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साधन भी हैं और साध्य भी है। साधन इसलिये है क्योंकि शक्ति से राष्ट्र हित की पूर्ति होती है और साध्य इसलिये कि शक्ति का आधिपत्य बना रहना राष्ट्रहित के सुगम सिद्धि के लिए आवश्यक है। मार्गेन्थाऊ कहता है कि किसी राज्य के हित न तो निश्चित होते हैं और न ही सीमित। वे हमेशा फेलते ही जाते हैं अतः राष्ट्रहित के फेलाव के साथ मार्गेन्थाऊ कहता है कि शक्ति का फेलाव भी अपेक्षित है।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार शक्ति का सिद्धान्त राजनीति के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से लागू होता है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न नहीं थे। कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

सामान्यराजनीति का एक विशिष्ट पहलू है। मार्गेन्थाऊ यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थितियां घरेलू राजनीति की परिस्थितियों से भिन्न हैं। मार्गेन्थाऊ यह भी कहता है कि परिवर्तन तो अन्तर्राष्ट्रीय तथा घरेलू दोनों ही प्रकार की राजनीति में होते हैं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों में हिंसा का प्रयोग बहुत अधिक होता है। कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसी कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं है जो कि विभिन्न राष्ट्रों के शक्ति संघर्ष को नियंत्रित करने का प्रयास करने लगता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वही सिद्धान्त ठोस माना जा सकता है जिसमें राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तर को ध्यान में रखा गया है।

मार्गेन्थाऊ कहता है कि विभिन्न राज्यों की सहज प्रवृत्ति अधिक से अधिक क्षति अर्जित करने की होती है। शक्ति केवल दूसरों पर आधिपत्य या प्रमाण ही स्थापित नहीं करती बल्कि विभिन्न राज्यों की विदेशनीति की प्रवृत्ति भी निर्धारित करती है। राजनेताओं के प्रत्येक कार्य का प्रयोजन शक्ति बनाये रखना, उसे बढ़ाना या उसका प्रदर्शन करना है। मार्गेन्थाऊ का मत है कि जिन राज्यों की शक्ति सीमित है और किन्हीं मजबूरियों के कारण अपनी शक्ति का विस्तार नहीं कर सकते तो वे अपनी शक्ति को वर्तमान स्तर पर बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य केवल वर्तमान के हितों की रक्षा करना होता है। ऐसे राज्य यथास्थिति वाली नीति का अनुसरण करते है। इसके विपरीत ऐसे राज्य जिनके पास शक्ति की अधिकता है वह प्रत्येक क्षेत्र में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास करते हैं ऐसे राज्यों की नीति परिवर्तनवादी होती है। इस प्रकार से मार्गेन्थाऊ कहता है कि विभिन्न राज्य दो श्रेणियों में बॉटे जा सकते हैं | जब कभी रिवीजनिस्ट राज्य की शक्ति विस्तार की लालसा अपनी चरम सीमा पर पहुच जाती है तो वह दूसरों का शोषण करने लगता है और उस राज्य की नीति साम्राज्यवादी हो जाती है। यथास्थितिवादी राज्य प्रयत्न करते हैं कि मौजूदा शक्ति संतुलन में कोई परिवर्तन नहो और इस संतुलन में जो उनकी स्थिति हैं वह बराबर बनी रहे। परन्तु परिवर्तनवादी राज्य मौजूदा शक्ति को उलटकर और अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए तत्पर रहते हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि मार्गेन्थाऊशक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र मानता है। वह शक्ति को राष्ट्रहित का प्रतिबिम्ब समझता है, और यही कारण है कि प्रत्येक राज्य को अपने राष्ट्रहित का परिपोषण तथा संरक्षण करना चाहिए। किसी देश की विदेश नीति तभी सफल हो सकती है जबकि वह शक्ति अर्थात राष्ट्रहित पर आधारित हो। परन्तु राष्ट्रहित है क्या? इस प्रश्न पर हम लोग अलग से विचार करेंगे। यहॉ पर हम केवल मार्गेन्थाऊ के विचारों को जान लें। मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रहित की कोई स्पष्ट परिभाषा न देते हुए केवल इतना कहा है कि राष्ट्रहित का अर्थ काफी व्यापक है, और उसका स्वरूप उन बहुत से सांस्कृतिक तत्वों पर निर्भर है जिनके अन्तर्गत किसी राज्य की विदेश नीति निर्धारित की जाती है। मार्गेन्थाऊके अनुसार राष्ट्रहित के दो प्रमुख पक्ष हैं 1- स्थिर, स्थायी अथवा आवश्यक 2- अस्थिर अथवा अस्थायी। स्थिर पक्ष वह है जो प्रत्येक देश के लिए समान रूपसे महत्वपूर्ण हैं अस्थिर पक्ष का स्वरूप देश की बदलती हुयी परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। राष्ट्रहित की न्यूनतम आवश्यकता राष्ट्र की अस्तित्व की रक्षा होती है। अस्तित्व रक्षा राष्ट्र हित का स्थिर पक्ष होता है परन्तु अस्थायी पक्ष का स्वरूप स्पष्ट रूप से पहचानना कठिन है। राष्ट्रहित के आवश्यक तत्व की निरन्तरता दो बातों से उत्पन्न होती है।

1- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में प्रत्येक राष्ट्र के अस्तित्व को हमेशा खतरा रहता है
2- अस्तित्वरक्षा के लिये शक्ति ही एकमात्र साधन है।

मार्गेन्थाऊका कहना है कि राष्ट्रहित के अस्थिर पक्ष का सही रूप पहचानना काफी कठिन है क्योंकि यह अक्सर कई प्रकार के बाहरी आवरणों के भीतर दब जाता है। इस सम्बन्ध में मार्गेन्थाऊ कुछ विशेष आवरणों का उल्लेख करता है। पहला आवरण किसी देश के उन अन्दरूनी गुटों के कारण होता है जो अपने निजी संकीर्ण हितों को राष्ट्रहित की संज्ञा देते हैं। राजकीय सत्ता प्राप्त करने पर यह गुट अपने निजी हितों को ही राष्ट्र हित कहकर जनता के सामने पेश करते हैं। कभी कभी सत्ता से बाहर रह कर भी यह गुट देश की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। दूसरा आवरण विदेशी हस्तक्षेप के कारण पैदा होता है। यह हस्तक्षेप प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है।

इस हस्तक्षेप का प्रभाव यह पड़ता है कि नीति निर्माता किसी अन्य देश के दबाव में आकर अपने देश का राष्ट्रीय हित निर्धारित करते हैं। कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई भावना के कारण भी राष्ट्रहित का सही स्वरूप छिप जाता है। इस भावना का ही परिणाम है कि आज कल विभिन्न देशों के अलग अलग राष्ट्रहित को सम्पूर्ण विश्व के हितों में मिला देने की आवाज उठने लगी है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि राष्ट्रहित का सही रूप तीन प्रकार के अवस्थाओं में छिप जाता है। पहला आवरण उपराष्ट्रीय है दूसरा अन्य राष्ट्रीय और तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय। मार्गेन्थाऊका कहना है कि राजनेताओं का यह पहला कर्तव्य है कि राष्ट्रहित को इन तीनों आवरणों के अवांछनीय प्रभाव से बचायें। इसके बाद उन्हें यह तय कर लेना चाहिए कि देश के विभिन्न लक्ष्यों में कौन से प्राथमिक हैं तथा कौन से गौड़। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी भी देश के पास अपने सभी लक्ष्यों की पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन नहीं होते अतः उन्हें अपने उपलब्ध साधनों का प्रयोग विवेकपूर्वक इस प्रकार से करना चाहिए कि प्राथमिक हितों की अधिक पूर्ति हो सके। परन्तु यह तभी हो सकता है जबकि राजनेताओं को राष्ट्रहित के स्थिर एवं अस्थिर तत्वों के भेद का पूरा ज्ञान हो। इसलिए मार्गेन्थाऊ राष्ट्रहित के दोनों तत्वों के बीच संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता पर जोर देता है।

राष्ट्रहित संबंधी अपने विचारों को मार्गेन्थाऊ अनैतिक नहीं मानता। उसका यह विश्वास है कि संसार में रहकर पाप और बुराई से बिलकुल बचे रहना संभव नहीं है अधिक से अधिक हम इस बात की कोशिश कर सकते हैं कि अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिये ऐसा रास्ता अपनाएं जिसमें पाप और बुराई का तत्व कम से कम हो। मार्गेन्थाऊ की यह धारणा है कि राजनीति में यह निश्चित कर पाना काफी कठिन है। कि कौन से कार्य पूरी तरह से नैतिक हैं और कौन से पूरी तरह से अनैतिक। इसके अर्थ यह नहीं हैं कि राजनीतिक कार्य का कोई नैतिक उद्देश्य नहीं होता। वास्तव में शक्ति के माध्यम से अपने मूल्यों को साकार करना हमारे राजनीतिक कार्यों का उद्देश्य है। अतः राष्ट्रहित का पालन करना नीति निर्धारकों का नैतिक धर्म है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि जब तक विभिन्न देशो के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित करने के लिये किसी केन्द्रीय सत्ता की स्थापना नहीं होती तब तक प्रत्येक राज्य को अपने अस्तित्व सत्ता के लिये अपने निजी प्रयासों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। अतः मार्गेन्थाऊ कहता है कि शक्ति के द्वारा राष्ट्रहित की पूर्ति के लिये प्रयत्न करना नैतिकता की सबसे बड़ी मांग है।

इस प्रकार से मार्गेन्थाऊ ने नैतिकता की अपनी अलग से परिभाषा दी है जिसके अन्तर्गत राष्ट्रहित को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि राजनेताओं को अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं तथा सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा राष्ट्रहित की सुरक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिए। मार्गेन्थाऊ नैतिकता तथा अनैतिकता के बीच विवाद को बेकार मानता है। मार्गेन्थाऊ का नैतिकता संबंधी दृष्टिकोण यह है कि राष्ट्रहित की सुरक्षा करना राजनेताओं का सबसे बड़ा नैतिक धर्म है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि प्रत्येक देश इस धर्म को निर्वाहन करने का प्रयत्न करेगा तो विभिन्न देशों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होना अवश्यम्भावी हैं और यदि इस संघर्ष पर किसी तरह का कोई नियंत्रण नहीं किया जाता है तो युद्ध का संकट बना रहेगा। ऐसी स्थिति में मार्गेन्थाऊ विश्व शान्ति की लिये अब तक किये गये विभिन्न उपायों को जांच पड़ताल करता है। मार्गेन्थाऊ इन उपायों को तीन भागों में बॉटता है।

1- प्रतिबन्ध द्वारा शान्ति इसके अन्तर्गत निरस्त्रीकरण समूहिक सुरक्षा , शान्तिपूर्ण परिवर्तन, न्यायिक समझौते और अन्तर्राष्ट्रीय सरकार आते हैं।
2- दूसरा वर्ग परिवर्तन द्वारा शान्ति का हैं इसके अन्तर्गत विश्व समाज की स्थापना की जाती हैं।
3- तीसरा वर्ग परस्पर युद्ध द्वारा उपायों का है इस वर्ग के अन्तर्गत डिप्लोमेसी को रखता है।

मार्गेन्थाऊने इन सभी उपायों की व्यवहारिकता की आलोचनात्मक विवेचना की है। निस्त्रीकरण तभी उपयोगी हो सकता है जबकि दुनिया के सभी देशों के बीच इस सम्बन्ध में कोई कारगर समझौता हो जाय। इसी प्रकार से सामूहिक सुरक्षा को भी मार्गेन्थाऊ व्यवहारिक नहीं मानता। उसके अनुसार सामूहिक सुरक्षा की सफलता की तीन शर्तें हैं

1- सम्भावित आक्रमण्कारी का मुकाबला करने के लिये पर्याप्त शक्ति हो
2- सामूहिक सुरक्षा में भाग लेने वाले देशों के बीच सुरक्षा की समस्या के बारे में मतैक्य हो।
3- सभी देश अपने निजी हितों को सामूहिक हित के लिए बलिदान करने को तैयार हों। मार्गेन्थाऊ कहता हैं इतिहास गवाह है कि यह तीनों शर्तें कभी भी पूरी नहीं हो सकती। और विश्व शान्ति की समस्या सामूहिक सुरक्षा के द्वारा हल नहीं की जा सकती। मार्गेन्थाऊ कहता है कि न्यायिक समझौतों के द्वारा भी युद्ध की समस्या हल नहीं की जा सकती। न्यायिक समझौतों से केवल कानूनी झगड़ों को निपटाया जा सकता है। परन्तु युद्ध के प्रायः राजनीतिक कारण अधिक हुआ करते हैं इसी प्रकार से शांतिपूर्ण परिवर्तन को भी मार्गेन्थाऊ प्रभावकारी नहीं मानता है। उसका कहना है कि यह योजना केवल आंन्तरिक मामलों में ही कारगर हो सकती है। मार्गेन्थाऊ को अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की योजना भी मान्य नहीं है।

मार्गेन्थाऊ इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि विश्व राजसत्ता की स्थापना के द्वारा स्थायी विश्व शांति स्थापित की जा सकती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि विश्व राजसत्ता के स्थायित्व में मार्गेन्थाऊ का विश्वास नहीं हैं वह यह मानता है कि विश्व राज्यसत्ता के बगैर स्थायी विश्व शान्ति संभव नहीं है। पर आज संसार में जो परिस्थितियां व्याप्त है। उन्हें देखते हुए कहा जा सकता है कि विश्व राजसत्ता की स्थापना संभव नहीं है।

इस प्रकार से प्रतिबंध अथवा परिवर्तन द्वारा शांति स्थापना के किसी भी प्रयास को मार्गेन्थाऊ उपयोगी नहीं मानता। वह उन लोगों से भी सहमत नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, विश्व जनमत या अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा शांति स्थापना सम्भव मानते हैं। मार्गेन्थाऊ कहता है कि इतिहास में आज तक अन्तर्राष्ट्रीयवाद पर राष्ट्रवाद की ही विजय होती आयी है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी इसलिये प्रभावहीन है। क्योंकि विश्व में अभी तक कोई ऐसी केन्द्रीय सत्ता नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण कर सके और उसकी सही व्याख्या करके सभी देशों को उसका पालन कर लेने के लिये बाध्य कर सके। अतः मार्गेन्थाऊ स्पष्ट रूप से कहता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, विश्व जनमत, या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा शान्ति संघर्ष पर रोक नहीं लगा सकती।

इन सभी प्रयासों को अनुपयोगी बताकर मार्गेन्थाऊ अन्त में परस्पर सहयोग, अर्थात नीति कुशलता के द्वारा शांति स्थापित करने की बात करता है। मार्गेन्थाऊ के अनुसार कुशलता के दो महत्वपूर्ण कार्य हैं। एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष रूप से नीति कुशलता अन्तर्राष्ट्रीय विवाद को नियंत्रित करती है। और, अप्रत्यक्ष रूप से विश्व समुदाय के विकास में सहायता करती है। पर मार्गेन्थाऊ कहता है कि नीति कुशलता अपने इन दोनों कार्यों को ठीक से तभी सम्पन्न कर सकती है जबकि वह निम्नलिखित नौ नियमों से बंधी हो।

1- नीति कुशलता, धर्म युद्ध की मध्यता से सदैव मुक्त रहनी चाहिये।
2- विदेश नीति के लक्ष्य राष्ट्रहित की मांग के आधार पर निर्धारित किये जाने चाहिए। इन लक्ष्यों की प्र्याप्त शक्ति द्वारा रक्षा करनी चाहिए।
3- राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करते समय दूसरे देशों के हित तथा दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखना चाहिए।
4- जरूरत पड़ने पर समझौता करने के लिए राष्ट्रों को सहज ही तैयार हो जाना चाहिए
5- राष्ट्रों को अनुमानित लाभों की अपेक्षा वास्तविक लाभों की अधिक चिन्ता करनी चाहिए।
6- राष्ट्रों को इस प्रकार की स्थिति नहीं पैदा करना चाहिए, जहॉ से हटना बाद में असम्भव हो जाय। और वहॉ से आगे बढ़ने में खतरनाक स्थिति उत्पन्नहोने की आशंका हो।
7- अपने से कमजोर किसी मित्र राष्ट्र को अपने लिये स्वयं निर्णय करने की छूट नहीं देनी चाहिए।

8- राज्य की सैनिक शक्ति हमेशा ही राजनीतिक शक्ति के अधीन रहनी चाहिए।

9- सरकार को जनता का सेवम नहीं बल्कि उसके नेता के रूप में कार्य करना चाहिए। मार्गेन्थाऊका विश्वास है कि यदि इन नौ नियमों का पालन करते हुए नीति कुशलता का प्रयोग किया जाय तो शान्ति की समस्या काफी हद तक हल हो सकती हैं।

मार्गेन्थाऊ का यह भी कहना है कि कूटनीति के अतिरिक्त दो अन्य साधनों के द्वारा भी शान्ति की रक्षा की जा सकती है। इसमें से एक तो हैं शक्ति संतुलन, और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय कानून। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और जनमत के बन्धन। परन्तु सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन बन्धनों को प्रभावशाली कैसे बनाया जाय।

2.3.1.3 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद की समालोचना

मार्गेन्थाऊ के राजनीतिक यथार्थवाद के सिद्धान्त की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। स्टेनली एच. हाफमैन का कहना है कि यह सिद्धान्त असंगतियों से भरा हुआ है। हाफमैन ने व्यवस्थित ढंग से मार्गेन्थाऊ के सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है।

1. हाफमैन मार्गेन्थाऊ के शक्ति सम्बन्धी विचारों से असहमत हैं यदि हम मार्गेन्थाऊ के शक्ति के यथार्थवादी विश्लेषण को सही मान लें तो ऐसा लगेगा कि चिर काल से विश्व में केवल शक्ति की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो रहा है। शक्ति की इसी भूमिका के आधार पर मार्गेन्थाऊ ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वतंत्र विषय माना है। हाफमैन का कहना है कि मार्गेन्थाऊ का यथार्थवादी राजनीति का सिद्धान्त एकपक्षीय हो गया है। मार्गेन्थाऊ यह भी स्पष्ट नहीं कर सके हैं कि वे स्वायत्तता की बात किस आधार पर कर रहे हैं जबकि स्वायत्तता मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद का एक प्रमुख तत्व है।
2. हाफमैन का कहना है कि राजनीति को शक्ति का पर्यायवाची बना देना , और शक्ति संघर्ष को ही राजनीति का सब कुछ मान लेना उचित नहीं है। राजनीतिक मानव से आर्थिक मानव धार्मिक मानव, आदि भी शामिल हैं। अतः उसके केवल एक पक्षीय स्वरूप पर ही बल देने और उसे सम्पूर्ण राजनीति मान लेने का दृष्टिकोण युक्त है। हाफमैन का कहना है कि मार्गेन्थाऊ द्वारा शक्ति की व्याख्या एक दोषपूर्ण तथा घातक विचार है यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि राजनीति केवल बुराई है पर यह राजनीति का एक विकृत स्वरूप होगा। यथार्थ नहीं राजनीति को केवल बुराई ही नहीं कहा जा सकता क्योंकि मानव प्रवृत्ति में निहित तत्व अच्छे और बुरे दोनो ही होते हैं और इन्हीं तत्वों की अभिव्यक्ति राजनीति में भी होती है।
3. हाफमैन यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सभी मानव कार्यों के मूल में उसकी प्रवृत्ति सन्निहित हैं परिस्थितियों के प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कई बार मनुष्य स्वभाव के कारण नहीं बल्कि परिस्थितिक बुराई कर बैठता है इस प्रकार से मार्गेन्थाऊ का यथार्थवाद मानव प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी एक दोषपूर्ण तथा बहुत कुछ एकांगी विचार पर आधारित है।
4. हाफमैन ने एक आलोचना यह की है कि मार्गेन्थाऊने शक्ति पर कुछ अधिक ही बल दिया है। मार्गेन्थाऊ शक्ति या राजनीतिक कार्यों का साध्य मानता है जबकि वास्तविकता यह है कि शक्ति के द्वारा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार से शक्ति एक साधन है न कि साध्य। शक्ति के स्वरूप और उसकी मात्रा का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि उद्देश्य क्या है? यदि मार्गेन्थाऊ के उद्देश्यों के अध्ययन पर सही बल दिया होता तो वह शक्ति को साध्य बना देने की भूल न करता। हाफमैन इस बात पर खेद व्यक्त करता हैं कि मार्गेन्थाऊ ने उन सभी मान्यताओं को नकारा है जिनके आधार पर उद्देश्यों को निर्धारित किया जाता है।

5. इसके अतिरिक्त अध्ययन पद्धतियों के दृष्टिकोण से भी केवल शक्ति के विचार पर ही बल देना ठीक नहीं हैं शक्ति स्वयं विभिन्न तत्वों का सम्मिलित स्वरूप हैं । शक्ति की इन विभिन्नताओं की उपेक्षा करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र को अच्छी प्रकार से नहीं समझा जा सकता। मार्गेन्थाऊ ने 18 वीं तथा 19वीं शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है और इस तथ्य की उपेक्षा की है कि आधुनिक 20वीं शताब्दी के संसार में विभिन्नता और टकराव की जो स्थितियां मौजूद हैं वैसी पहले नहीं थीं। राष्ट्रों की आन्तरिक राजनीतिक घटनाओं की विदेश नीतियों को प्रभावित करती है। विभिन्न और परस्पर विरोधी राजनीतिक गुट तथा दबाव समूह, निरंतर सक्रिय रहकर विदेश नीति के निर्णायक कर्ताओं को प्रभावित करते हैं। नीतियों को प्रभावित करने वाली शक्तियां आज तिजनी प्रबल हैं उतनी 19वीं व 18वीं शताब्दियों में नहीं थी। उस समय की राजनीतिक सरकारें आज जैसे राजीनतिक प्रभावों और दबावों से बहुत कुछ मुक्त थी।
6. हाफमैन ने मार्गेन्थाऊ के राष्ट्रहित सम्बन्धी विचारों की भी आलोचना की हैं तथा उन्हें दोषपूर्ण बताया है। हाफमैन का कहना है कि मार्गेन्थाऊकी राष्ट्रहित की कल्पना उस युग के लिये ठीक हो सकती थी जिसमें समाज एकरूपता लिये हुए हो लेकिन आधुनिक समाज ऐसे नहीं हैं। आधुनिक समाज में अन्तरर्विरोधियों की भरमार है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राष्ट्रहित पर कहीं भी मत की एकता नहीं पाई जाती। आज का युग महान प्राविधिक और वैज्ञानिक विकास का है। जिसमें कि आए दिन राजनीतिक उथल पुथल हुआ करती है। भौगोलिक स्थितियों,प्रावृत्तिक साधनों तथा औद्योगिक क्षमताओं के बारे में हमारी पूर्व मान्यतायें बदल रही हैं। इन परिवर्तित स्थितियों, तथा मान्यताओं को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि मार्गेन्थाऊ के राष्ट्रहित सम्बन्धी विचारों में केवल एक ही दृष्टिकोण अपनाया गया हैं जो कि दोषपूर्ण है।
7. यदि मार्गेन्थाऊके सिद्धान्त को मान लिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केवल एक पहलू हैं और वह यह है - विभिन्न राष्ट्रों के हितों में टकराव अतः हमें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के विचार को हमेशा के लिए तिलांजलि देना होगा।
8. मार्गेन्थाऊ की यथार्थवादी राजनीति का एक तत्व विवेक है और मार्गेन्थाऊ ने विदेश नीति के विवेक पक्ष पर बहुत अधिक बल दिया है जबकि हाफमैन का कहना है कि आज का क्रान्तिकारी युग जटिलताओं से पटा पड़ा है, तथा कुछ राष्ट्र ऐसी विदेश नीतियों का अनुसरण करते हैं जो सर्वथा अविवेकपूर्ण लगती है। फिर भी वह उनके अपने हित में होती है।
9. मार्गेन्थाऊके यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार मानव प्रवृत्ति हैं परन्तु मानव प्रवृत्ति संबंधी धारणायें वैज्ञानिक न होकर बहुत कुछ अनुमान पर आधारित हैं।
10. राजनीतिक यथार्थवाद में नैतिकता के तत्व की भी आलोचना की गई है। मार्गेन्थाऊ का कहना है कि राष्ट्रहितों की पारस्परिक मान्यता के आधार पर विश्व के राष्ट्र संतुलित सम्बन्धों को स्थापित कर सकते हैं और यही सर्वोच्च नैतिकता हैं किन्तु इस प्रकार की मान्यता, उसी संदर्भ में उचित हो सकती हैं जिसमें राष्ट्रहित विवादग्रस्त विषय न हो।
11. विद्वानों ने तो मार्गेन्थाऊ के सिद्धान्त को यथार्थवादी मानने से ही इन्कार कर दिया है। उनका आरोप है कि मार्गेन्थाऊ ने जगह जगह पर वस्तु स्थिति का उल्लेख करने के साथ साथ ''चाहिए'' जैसे आदर्श सूचक शब्द का भी प्रयोग किया है इस प्रकार से आलोचना यह की गई है कि मार्गेन्थाऊ के विचारों को मानव प्रवृत्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रामाणिक तथा यथार्थवादी आधार नहीं माना जा सकता। मार्गेन्थाऊ के विचारों में असंगतियां हैं ।एक ओर तो उसने यथार्थवादी तथा आदर्शवादी तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है दूसरी ओर नियतिवाद, तथा पुरूषार्थवाद जैसे विरोधी विचारों में तालमेल

बैठाने की कोशिश की है। विश्लेषण से पता चलता है कि मार्गेन्थाऊ का सिद्धान्त यथार्थवादी होने के साथ साथ मूल्य परक भी है। इसी प्रकार से हम देखते हैं कि कूटनीति के द्वारा शान्ति स्थापना के प्रयोग में मार्गेन्थाऊ ने योग्य राजनीतिज्ञों की आवश्यकता पर बल दिया है किन्तु वह यह स्पष्ट नहीं करता कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संघर्ष पर आधारित है और संघर्षों का समाधान कूटनीति के द्वारा ही संपन्न है तो इस प्रकार की स्थिति में बेचारे शांतिवादी राजनीतिक किस प्रकार से प्रवेश पा सकेंगे। और शान्ति स्थापना का आदर्श किस प्रकार से प्राप्त करेंगे। आलोचकों का कहना है कि मार्गेन्थाऊ ने परस्पर विरोधी तत्वों और विचारों का सहारा लेकर अपने सिद्धान्त में विभिन्न सैद्धान्तिक जटिलताओं को पैदा कर दिया है।

2.3.1.4 मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त का महत्व

मार्गेन्थाऊ का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों के लिए भारी वाद विवाद का विषय बना हुआ है। हाफमैन तथा बेनो वासरमैन जैसे विद्वानों ने इसकी कटु आलोचना की है तो केनेथ डब्ल्यू. थामसन तथा डेविड सिंगर जैसे विद्वानों ने इस सिद्धान्त की काफी प्रशंसा की है। हेराल्ड स्प्राउट, क्विन्सी राइट जैसे विद्वानों ने मार्गेन्थाऊ की देन को स्वीकार करते हुए उसे अपूर्ण कहा है।

मार्गेन्थाऊ के यथार्थवादी सिद्धान्त की आलोचनाएं सबल हैं किन्तु पूर्ण सत्य नहीं हैं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में यथार्थवादी सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सिद्धान्त ने राष्ट्रीय हितों और उनकी प्राप्ति के लिये शक्ति के प्रयोग सम्बन्धी गम्भीर विचारों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पहली बार व्यापक विश्लेषण किया है और इस प्रकार से इस विषय को सैद्धान्तिक आधार दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हितों के महत्व और उनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले संघर्षों आदि तथ्यों को नकारा नहीं जा सकता। यह एक कटु सत्य है कि आज का युग एक बड़ी सीमा तक शक्ति संघर्ष का युग है जिसमें राजनीति के सभी दांव पेचों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक राष्ट्र अपने हित को ध्यान में रखकर ही अपनी विदेश नीति का संचालन करता हैं

प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थ पूर्ति में संलग्न हैं और उसका स्वार्थ यह है कि वह अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करें। इस बात पर जोर देकर यथार्थवादी विचारधारा दो प्रमुख संदेश देती हैं पहला संदेश यह है कि विदेश नीति ऐसी बनायी जाये जो शक्ति बढ़ाने तथा उसको बनाए रखने में अधिक से अधिक सहायता कर सके। दूसरा संदेश यह है कि हम अपनी विदेश नीति का निर्माण करते समय यह भी ध्यान में रखें कि दूसरे देश का राष्ट्रीय हित क्या है, तथा वह यथासंभव हमारे हित से टकराए नहीं।

इसके अतिरिक्त चूंकि यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार बुद्धि है अतः इससे प्रभावित होकर विदेश नीति की वृद्धि तथा तर्क पर आधारित होगी। इस प्रकार की विदेश नीति राजनीतिक रूप से सफल होती है तथा नैतिक रूप से भी उसकी प्रशंसा की जाती है। यह विदेश नीति का एक बड़ा गुण माना जाता है कि वह यथार्थवादी हो।

पिछले कई वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को वैज्ञानिक आधार पर अधिक से अधिक व्यवस्थित रूप देने की कोशिश की गई है और अनेक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये गये हैं जैसे रिचर्ड स्नाइडर का नीति निर्धारण सम्बन्धी दृष्टिकोण, कैपलान का व्यवस्था विश्लेषण , चार्ल्स मैकमिलन का सामान्य व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण, जार्ज लिस्का का साम्यावस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण, यह सब प्रयास इस ओर संकेत करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र मार्गेन्थाऊके सिद्धान्त से काफी आगे बढ़ चुका है। व्यवस्था दृष्टिकोण को आज यथार्थवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा अधिक विकसित माना जाता है। लेकिन यह सारी बातें मार्गेन्थाऊ की देन इस रूप में भी कम नहीं हैं कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय को वैज्ञानिक आधार प्रदान कर दूसरे विचारकों को भी इस दिशा में कार्य करने के लिए प्ररित किया। केनेथ डबलु. थम्पसन का लिया है। कि मार्गेन्थाऊका सिद्धान्त अभी विकास की अवस्था में है।

2.4 नव यथार्थवाद

केन्नेथ वाल्टज़ का ढाँचागत यथार्थवाद Structural Realism of Kenneth Waltz

केन्नेथ वाल्टज के ढाँचागत यथार्थवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विद्वानों पर गहरा प्रभाव डाला है। उसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में राज्यों के व्यवहार को तय करने का प्रमुख कारक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का ढाँचा है। उसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में कोई केन्द्रीय सत्ता व्यवस्था बनाये रखने के लिये नहीं है।

दूसरी प्रमुख बात वाल्टज़ के नव यथार्थवाद (Neorealism) की है वह है उसकी शक्ति की अवधारणा। जहाँ परम्परगत यथार्थवाद शक्ति के विभिन्न तत्वों में सैन्य शक्ति को सबसे अधिक महत्व देता है। वहीं वाल्टज इससे सहमत नहीं है। उसका कहना है कि शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण तत्व सिर्फ सैन्य शक्ति ही नहीं है क्योंकि किसी भी देश की शक्ति उसकी संयुक्त क्षमताओं से आती है। वैसे वह परम्परागत यथार्थवाद से इस बात पर सहमत है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में व्यवस्था कायम रखने के लिए शक्ति के संतुलन की आवश्यकता होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें मात्र अस्तित्व में रहने से प्रभावी नहीं होती हैं जैसा कि नव उदारवाद का मानना है, बल्कि उनके प्रभावी होने के लिये उनको विश्व की प्रमुख शक्तियों का समर्थन आवश्यक है।

तीसरा अंतर वाल्टज के यथार्थवाद और पारम्परिक यथार्थवाद में यह है कि जहॉ पारम्परिक यथार्थवाद अराजकता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की एक परिस्थिति मानता है वहीं नवयथार्थवाद का मानना है कि अराजकता स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को परिभाषित करती है। जहाँ परम्परागत यथार्थवाद के अनुसार अराजकता की स्थिति में राज्य अपने क्षेत्रफल , जहॉ पर वे स्थित है, घरेलू राजनीति तथा नेतृत्व के गुणों के आधार पर क्रिया- प्रक्रिया करते हैं वहीं वाल्टज के अनुसार राज्य अपनी शक्ति और क्षमताओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत की अराजकता से निपटते हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय जगत को आराजकता ही परिभाषित करती है इसलिये वह हर राज्य के लिये एक समान है।

जोसेफ ग्रीको Joseph Grieco का नवयथार्थवाद Neorealism

उसके अनुसार राज्य अपनी शक्ति और प्रभाव को बढ़ाने में रूचि रखते हैं इसलिये वे अपनी क्षमताओं को बढ़ाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अन्य कारकों एवं राज्यों से सहयोग करते हैं। परन्तु वे किसी भी सहयोगात्मक प्रयास में अन्य राज्यों द्वारा अर्जित शक्ति और प्रभाव पर भी नजर रखते हैं तथा उससे किसको अधिक लाभ हो रहा है आज के प्रतिस्पर्धात्मक माहौल में।

नव यथार्थवाद के प्रमुख तत्वः

1. राज्य एवं अन्य कारक एक अराजक माहौल में कार्य करते हैं जिसमें कि कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं रहती है।
2. व्यवस्था का ढाँचा कारकों के व्यवहार को निर्धारित करता हैं ।
3. राज्य स्वार्थपरक होते हैं तथा अराजक एवं प्रतिस्पर्धात्मक व्यवस्था राज्यों को अपने स्वार्थ को सहयोगात्मक व्यवहार के आगे प्राथमिकता देने के लिये मजबूर करती है।
4. राज्य बुद्धिपरक कारक है जो अपने लाभ को बढ़ाना और नुकसान को कम करना चाहेंगे।
5. अराजकता द्वारा प्रस्तुत सबसे गम्भीर समस्या है अपने अस्तित्व को बचाये रखना।
6. राज्य दूसरे राज्यों को भावी शत्रु तथा अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये खतरा मानते हैं।

आक्रामक नव यथार्थवाद (Offensive Neorealism) और सुरक्षात्मक नव यथार्थवाद (Defensive Neorealism) आक्रामक यथार्थवाद के प्रमुख प्रवक्ता जॉन मीयरशाईमर John Mearsheimer हैं। यह परम्परागत यथार्थवाद की तरह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में संघर्ष तो रहना ही है तथा राजनेताओं को शक्ति का विस्तार करने वाले राष्ट्रों से सावधान रहना चाहिए। वहीं सुरक्षात्मक यथार्थवाद (केनेथ वाल्ट्ज Kenneth Waltz) युद्ध की कीमतों को समझता है तथा युद्ध को समाज की अतार्किक शक्तियों का परिणाम मानता है। विस्तारवादी शक्तियाँ जो

सैन्य शक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं वे संसार में बिना शस्त्र के रहना कठिन कर देते हैं। सहयोग तो मित्र देशों के साथ ही सम्भव है। आक्रामक यथार्थवाद का मानना है कि राज्यों के आपसी हितों एवं लक्ष्यों के बीच सामन्जस्य न हो पाने से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में संघर्ष अवश्यम्भावी है तथा इसलिये राष्ट्रों को अपने रक्षा बजट में कटौती नहीं करना चाहिये क्योंकि वे अपने को फिर उन राष्ट्रों के हमले का ठिकाना बना लेंगे जो अपनी शक्तियों का विस्तार करना चाहते हैं।

2.5 आदर्शवाद

यथार्थवादियों के विपरीत, आदर्शवादी शक्ति राजनीति को इतिहास तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अस्थाई पक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि यथार्थवाद एक ऐसी अवधारणा है जो इतिहास के वास्तविक अर्थ को तोड़ती, मरोड़ती तथा भ्रष्ट करती है। आदर्शवाद समाज के क्रमिक विकास में विश्वास रखता है। इस दृष्टिकोण का प्रारम्भ 18वीं शताब्दी में हुआ था और यह फ्रेन्च तथा अमरीकी क्रान्तियों के पीछे प्रेरणा का एक प्रमुख श्रोत था। कान्डरसेट (Condorcet) इस दृष्टिकोण का प्रथम प्रमुख विचारक था। 1795 में उसने अपनी पुस्तक, *स्केच फार अ हिस्टारिक्ल पिक्चर आफ दि प्रोग्रेस आफ दि हयूमन स्पिरिट*, में एक ऐसी आदर्श विश्व व्यवस्था की कल्पना की है जिसमें युद्ध, विषमता तथा अत्याचार का सर्वथा अभाव हो, तथा विवेक शिक्षा, विज्ञान आदि के माध्यम से मानव कल्याण की धारा बहे।

संक्षेप में, आदर्शवाद Idealism भावी अन्तर्राष्ट्रीय समाज की वह तस्वीर खींचता है जिसमें शक्ति राजनीति, हिंसा, तथा अनैतिकता आदि के लिये कोई स्थान नहीं है। आदर्शवादियों का विचार है कि समुचित शिक्षा तथा प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय संगठन की सहायता से हम आज की अपेक्षा एक अधिक अच्छे संसार का निर्माण कर सकते है। उनका तर्क है कि अतीत में जो राजनीतिक संघर्ष हुए, वह शक्ति या प्रभाव के लिये नहीं हुए, बल्कि परस्पर विरोधी आदर्शों के बीच होने वाले संघर्ष थे। कल्पनावादी आदर्शवादियों का सुझाव है -

1- अन्तर्राष्ट्रीय जगत में परम्परागत शक्ति नीति का परित्याग, तथा नैतिक सिद्धान्तों का पालन किया जाए।
2- लोकतंत्र विरोधी सर्वाधिकारवादी शक्तियों के प्रभाव को समाप्त करने का हर संभव प्रयास किया जाए।
3- एक विश्व सरकार की स्थापना द्वारा शक्ति राजनीति को समाप्त किया जाए।

2.6 यथार्थवाद बनाम आदर्शवाद

राजनीतिक यथार्थवाद और राजनीतिक आदर्शवाद में परस्पर विरोध का सबसे बड़ा केन्द्र बिन्दु शक्ति की समस्या है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद वुडरो विल्सन तथा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बी.रसेल आदर्शवाद के प्रवर्तक रहे हैं। दो महायुद्धों के बीच, यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच विरोध काफी खुलकर सामने आया। यथार्थवाद को राष्ट्रीयता और आदर्शवाद को अन्तर्राष्ट्रीयता से सम्बद्ध समझा गया। साथ ही इस धारणा को भी बल मिला कि यथार्थवाद की नीतियाँ शांति विरोधी हैं, तथा उनका उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति का प्रसार है। इसके विपरीत साधारणतया यह समझा गया कि आदर्शवाद की नीतियाँ शांति को प्रोत्साहन देने वाली हैं। वास्तव में यदि देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि यथार्थवाद और आदर्शवाद के बीच संघर्ष का प्रमुख कारण यह है कि यथार्थवादी यह तय नहीं कर पाए हैं कि शक्ति का अनुसरण एक लक्ष्य है अथवा साधन। एक ओर तो उन्होंने शक्ति को सर्वोच्च मूल्य माना है, जिसकी प्राप्ति के लिये राज्य को प्रभावशील रहना चाहिए, तथा दूसरी ओर शक्ति को साधन के रूप में भी स्वीकार किया है।

यथार्थवाद तथा आदर्शवाद इन दोनों दृष्टिकोणों ने वास्तव में अतिवादी दृष्टिकोण अपना रखा है। एक उत्तर की ओर जाता है तो दूसरा दक्षिण की ओर। आवश्यकता इस बात की है कि समय और जरूरत के अनुसार दोनों दृष्टिकोणों की अच्छाइयों को अपनाया जाए। राजनीतिक रूप में यह उपयुक्त है कि राष्ट्रीय हितों के अनुसार सफलतापूर्वक

कार्य किया जाए, पर साथ ही नैतिक और राजनीतिक विवेक की मांग है कि यथा सम्भव अधिक से अधिक नैतिक मार्ग का भी इस तरह से अनुसरण किया जाए कि आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

आभ्यास प्रश्न

१. आदर्शवाद समाज के क्रमिक विकास में विश्वास रखता है ? सत्य/असत्य
२. स्केच फार अ हिस्टारिक्ल पिक्चर आफ दि प्रोग्रेस आफ दि हयूमन स्पिरिट, पुस्तक किस सन में प्रकाशित हुई थी ?
३. मार्गेन्थाऊ के यथार्थवाद के कितने सिद्धांत है ?
४. यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता कौन हैं ?

2.7 सारांश

इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के निमित विकसित प्रमुख उपागमों का वर्णन किया गया।
उपागम का आशय उस मापदण्ड से है जिसका प्रयोग अनुसंधान के दौरान समस्या और आंकड़े के चयन के लिये किया जाता है। प्रत्येक विषय के अपने निश्चित उपागम होते हैं।
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ प्रमुख उपागम है: **परम्परागत ऐतिहासिक संस्थात्मक उपागम,आदर्शवादी उपागम, यथार्थवादी उपागम तथा वैज्ञानिक/ व्यवहारवादी उपागम।**
ऐतिहासिक संस्थापक उपागम 18वीं और 19वीं शताब्दी और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में विशेष लोकप्रिय रहा। ऐतिहासिक उपागम वर्तमान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विश्लेषण भूतकाल के घटनाक्रम के आधार पर करना चाहता है। संस्थात्मक उपागम दोनों विश्व युद्धों के बीच के समयकाल में विशेष लोकप्रिय हुआ। इस उपागम में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से विश्व शान्ति करने पर विशेष बल दिया गया।
आदर्शवादी उपागम 20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशकों में विशेष चर्चित रहा। यह उपागम मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी मानता है और तदानुसार इसकी यह मान्यता है कि राष्ट्रों के मध्य सामन्जस्य पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की जा सकती है।
यथार्थवादी उपागम 18वीं और 19वीं सदी में लोकप्रिय रहा। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह पुनः चर्चा में आया। हैन्स जे. मर्गेन्थाऊ को इस उपागम का प्रतिनिधिकारी विचारक माना जाता है। इस उपागम की यह मान्यता है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य सभी राजननीति की भॉति, शक्ति के लिये संघर्ष है। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय हित, शक्ति और संघर्ष को सर्वाधिक महत्व देता है और यह मानता है कि 'शक्ति के संदर्भ में परिभाषित राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति है।
1945 के बाद समयकाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक व्यवहारवादी उपागम विकसित हुए। ये सभी उपागम वैज्ञानिक भी कहे जाते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में राज्यों के व्यवहार के बारे में सामान्यीकरण करने के लिये परिमाणन और संख्यकीय विश्लेषण का प्रयोग करते है। व्यवस्था उपागम राष्ट्रों के मध्य अन्तः क्रिया पर बल देता है। निर्णय निर्माण उपागम निर्णय निर्माण कर्ताओं द्वारा लिये गये निर्णयों का अध्ययन करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्याख्यायित करना चाहता है। इस उपागम से जुड़े कुछ विद्वानों का मत है कि निर्णय निर्माण में सबसे प्रमुख भूमिका पर्यावरण या वातावरण की होती है। कुछ दूसरे विद्वानों का मत है कि निर्णय निर्माण में सबसे प्रमुख भूमिका निर्णय लेने वाले के व्यक्तित्व की होती है। खेल उपागम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'रणनीति का खेल' मानता है। सौदेबाजी का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या का प्रयास करता है।

2.8 शब्दावली

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति - राष्ट्रों के मध्य राजनीति

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध -इसमें काफी व्यापकता पाई जाती है। उसके अन्तर्गत राष्ट्रों के आर्थिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी राजनीतिक खोज एवं अन्वेषण सम्बन्धी, और इसी प्रकार के सभी सम्बन्ध आ जाते हैं।

कूटनीति- अन्तरष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति को विदेश नीति को यर्थाथ रूप में क्रियान्वित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। मार्गेन्थाऊ जैसे विचारक इसे अन्तराष्ट्रीय राजनीत का आँख और कान भी कहते हैं।

2.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.सत्य ,२. 1975 , ३. 6 , ४. मार्गेन्थाऊ,

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Stanley Hoffman : Conflicting Approaches to the Study of International Relations
2. Trevor Taylor : Theories of International Relations.
3. Mahendra Kumar : Theoretical Aspects of International Relations.(Hindi Edition also)
4. Prakash Chandra : International Policies
5. बाबू लाल फाड़िया: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

2.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मॉरगेन्थू, हैन्स (1960), *पॉलिटिक्स अमोंग नेशन*, मैकमिलन-हिल ह्युमेनिटिज़।
2. ऑरगेन्सकी (1958), *वर्ल्ड पॉलिटिक्स*, द यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया।

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के परम्परागत उपागम की चर्चा कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के यथार्थवादी उपागम की विवेचना कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यवहारवादी उपागमों की विवेचना कीजिए।

इकाई 3 अंतराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के उपागम: परम्परावादी एवं व्यवहारवादी

3.1. प्रस्तावना

3.2. उद्देश्य

3.3. अन्तराष्ट्रीय संबंधों का परंपरावादी उपागम

3.4. परंपरावादी सिद्धांत की प्रमुख विषय-वस्तु

3.5. परंपरावादी उपागम की विशेषताएं

3.6. अन्तराष्ट्रीय संबंधों का व्यवहारवादी सिद्धांत

3.7. अन्तराष्ट्रीय संबंधों में व्यवस्था सिद्धांत

3.8. सारांश

3.9. अभ्यास प्रश्न

3.10 शब्दावली

3.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.12 सन्दर्भ-सूची

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

द्वितीय विश्वयुद्ध ने न केवल अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को मूलभूत रूप में प्रभावित किया अपितु कई महत्त्वपूर्ण मुद्दों की अभिव्यक्ति भी की। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कारकों में परिवर्तन, कारकों को व्यापक स्वरूप प्रदान करना, नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि अनेक विषयों के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का पूर्ण परिवेश ही बदल कर रख दिया है। जहाँ एक ओर सैद्धान्तिक स्तर पर यथार्थवाद व आदर्शवाद के वाद-विवाद तथा प्राचीनता व वैज्ञानिकता पर वाद-विवाद हो रहा है, वहीं दूसरी ओर व्यवहारिक स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विषय के प्रारूप के बारे में विवादास्पद प्रश्न उठ रहे थे कि - क्या अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक स्वायत्त विषय है या नहीं? यद्यपि आज अधिकतर विश्वविद्यालयों में स्नातक व स्नातकोत्तर स्तरों पर तथा शोध हेतु यह एक स्वायत्त विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है तथापि इसे सामाजिक विज्ञान के अन्य विषयों के समकक्ष मान्यता नहीं मिली है। इतना अवश्य हुआ है कि विकसित देशों में तो कई विश्वविद्यालयों में इसे पूर्ण रूप से स्वायत्त विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है। भारत जैसे विकासशील देशों में भी सुधार हुआ है। यहां प्रारम्भ में 'भारतीय अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विद्यालय, नई दिल्ली' जो बाद में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध विद्यालय के रूप में स्वायत्त रूप से कार्य कर रहा है। इसके

अतिरिक्त कई अन्य विश्वविद्यालयों जैसे जादवपुर विश्वविद्यालय, कलकत्ता, गोवा विश्वविद्यालय आदि में भी अब इसे स्वायत्त विषय का दर्जा मिला है।

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक स्वायत्त विषय के रूप में अध्ययन करने से पूर्व एक बात स्पष्ट करनी अति आवश्यक है कि जब हम इस विषय की स्वायत्तता के प्रश्न का अध्ययन करते हैं तो 'अन्तरराष्ट्रीय राजनीति' व अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को अलग-अलग विषय नहीं मानते हैं। यह इसलिए किया गया है कि दोनों ही विषयों को अभी स्वायत्त अनुशासन न मानकर राजनीतिशास्त्र विषय के एक उप-अनुशासन के रूप में ही मान्यता प्राप्त है। दूसरे इनका विभेद इतना सूक्ष्म है कि अनुशासन की स्वायत्तता की प्रमाणिकता के बाद इस विषय को सुलझाया जा सकता है।

3.2 उद्देश्य

- अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के परम्परावादी उपागम के सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन करना।
- अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के यथार्थवादी उपागम के सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन करना।

3.3 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का परम्परावादी उपागम

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के परम्परावादी दृष्टिकोण के अंतर्गत हम संप्रभु राष्ट्रों के विकास एवं परिवर्तन की यात्रा को दार्शनिक , ऐतिहासिक और विधिक (क़ानूनी) दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास करते हैं। परंपरवादी उपागम आदर्शवादी , क़ानूनी - औपचारिक- संस्थागत अध्ययन पर बल देते हैं तथा इसमें ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है। दर्शन , इतिहास एवं क़ानून अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परम्परावादी उपागम के प्रमुख श्रोत हैं। विभिन्न देशों के मध्य निर्मित अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने हेतु जब हम ऐतिहासिक घटनाओं , संस्थाओं के निर्माण के क्रम आदि को आधार बनाते हैं तो वह अध्ययन परम्परावादी अध्ययन कहलाता है।

3.4 परंपरावादी सिद्धांत की प्रमुख विषय-वस्तु

परम्परागत अध्ययन के अंतर्गत हम अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बल प्रयोग की भूमिका , हितों का संघर्ष एवं कूटनीति के महत्व जैसे व्यापक विषयवस्तु को समाहित करते हैं। परम्परागत उपागम ऐतिहासिक तथ्य ज्ञान एवं घटनाओं के विश्लेषण के माध्यम से समकालीन त्रुटियों को सुधारने पर बल देता है। इसके अतिरिक्त विधिवादी दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विश्लेषण हेतु विधिनियमों , अंतर्राष्ट्रीत क़ानून , संधियां , राज्यों के मध्य विधि व्यवस्था , संविधानिक उपबंधों को आधार बनाया जाता है। परम्परागत उपागम के अंतर्गत औपचारिक - संस्थागत अध्ययन की प्रधानता होती है।

हेडले बुल ने " इंटरनेशनल थियरी : द केस फ़ार क्लासिकल अप्रोच " वर्ल्ड पालिटिक्स (1966) के प्रकाशन के साथ ही वैज्ञानिक प्रणाली को चुनौती देते हुए परम्परागत उपागम को अपने अध्ययन का केंद्र बनाया।

हेडले बुल ने स्पष्ट किया कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्बंध मूलतः नैतिक प्रश्नो से है। इसलिए उसका अध्ययन वैज्ञानिक उपकरणों से नहीं किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येताओं को संप्रभु राज्यों की संरचना उद्देश्य , उनके बीच उपजे विवादों , युद्ध , बल प्रयोग , तनाव , बल प्रयोग के औचित्य , अनौचित्य आदि प्रश्नों के

समाधान ढूँढने होते हैं। अतः इतिहास और दर्शन का समीचीन अध्ययन इसलिए आवश्यक हो जाता है क्योंकि इसके अध्ययन के द्वारा आत्मलोचन एवं मंथन हो सकता है।

परम्परागत उपागम के अंतर्गत आने वाले विद्वानों में मार्टिन वाइट , ई० एच कार , एलफ्रेड जिमर्न , जार्ज स्वार्जनबर्गर , रेमाँ आरां प्रमुख नाम है।

3 .5 परंपरावादी उपागम की विशेषताएं

परंपरावादी उपागम की प्रमुख विशेषता यह है कि यह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विद्यमान विभिन्न संस्कृतियों , सभ्यताओं , व्यवस्थाओं एवं उनके विकास के क्रम का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके अंतरराष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इस उपागम में मानव जाति , मानव प्रकृति , प्रेरणाओं तथा समाजों के उत्थान-पतन से सम्बंधित प्रतिमान निर्मित किए जाते हैं जिससे अंतर्राष्ट्रीय समाज के परिचालन एवं प्रवृत्तियों की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की जा सके। परम्परागत उपागम के कुछ दोष भी हैं जैसे कि इतिहास के तथ्यों के विश्लेषण द्वारा यह पूर्व निर्णय की स्थिति को धारण कर लेता है। पूर्व निर्णय या अग्रिम निर्णय किसी भी घटनाक्रम के तर्कसंगत व्याख्या में अवरोधक सिद्ध होते हैं। परम्परागत उपागम के इतिहास विधि आदि को आधार बनाया जाता है जिसमें तथ्यों की बहुत अधिकता होती है। सामान्यतः हम अपनी रुचि के तथ्यों को छाँटते हैं जिससे हमारी पूर्व धारणाओं एवं पूर्वाग्रहों को बल मिलता है तथा इस तरह उन सभी तथ्यों की उपेक्षा कर दी जाती है जो हमारे पूर्वजों के अनुरूप नहीं होते हैं। पैडलफ़ोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में " वर्तमान युग में केवल राजनयिक इतिहास का अध्ययन लाभप्रद होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्येता के लिए अतीत के इतिहास से प्राप्त जानकारी की अपेक्षा वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में नीति निर्धारण प्रक्रिया तथा राजनीतिक सौदेबाज़ी की कला का ज्ञान कहीं अधिक है।

3.6 अन्तराष्ट्रीय संबंधों का व्यवहारवादी सिद्धांत

राजनीति शास्त्र के व्यवहारवादी उपागम की शुरुआत द्वितीय विश्व युद्ध के बाद मानी जाती है। राजनीति विज्ञान के अध्ययन के परम्परागत अध्ययन के उपागम के परिणामों से उपजे असंतोष एवं नवीन चुनौतियों जैसे - नैतिकता , मूल्य , राष्ट्रीय हित , तथ्यों की अधिकता से जुड़े सवालों की खोज के फकस्वरूप व्यवहारवादी उपागम को विद्वानों द्वारा स्वीकारोक्ति मिलनी शुरू हुई। व्यवहारवाद के युग के आगमन के साथ अधिकांश विज्ञान नैतिक सिद्धांत को त्यागकर व्याख्यात्मक सिद्धांतों का प्रतिपादन करना आरंभ कर दिए।

अद्वितीय घटनाओं (इडियोग्राफ़ी) के स्थान पर विद्वान लोग राजनीतिक व्यवहार में पुनरावृत्त करने वाली नियमितताओं (नोमोथैटिक) की खोज को अपने अध्ययन का केंद्र बिंदु मानने लगे। संदिग्ध एवं अस्पष्ट प्रत्ययों के स्थान पर ऐसे क्रियात्मक संप्रत्ययों का प्रयोग होने लगा जिनकी सहायता से की गयी व्याख्या का इंद्रियानुभविक आधार पर परीक्षण एवं सत्यापन हो सके। हालाँकि सन 1942 में क्विंसी राइट ने अपने युद्ध सम्बन्धी शोध (A study of war , Chicago ,1942) के माध्यम से व्यवहारवादी चिंतन को ठोस स्वरूप प्रदान किया था परंतु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवहारवादी शोध के प्रभाव 1960 के दशक के बाद ही दिखने शुरू हुए। व्यवहारवादी

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रतिमान निर्माण पर बल देते हैं एवं मानवीय मामलों में आकस्मिकता के तत्वों में कोई दिलचस्पी नहीं रखते। व्यवहारवाद किसी घटनाक्रम एवं स्थिति से सम्बंधित तथ्य एकत्र करके उसे अपनी आधार सामग्री मानकर उनका विश्लेषण करता है और अंततः वह अपने निष्कर्ष और निर्णय इस तरह से प्रेषित करता है मानो तथ्य अपनी कहानी स्वयं बयान कर रहें हो। व्यवहारवादी अनुसंधान हेतु दो बातें आवश्यक होती हैं — प्रथम , अनुसंधान हेतु चिन्हित की गयी समस्या का क्षेत्र छोटा होना चाहिए ताकि तथ्यों का संकलन सरलता से सम्भव हो ; अनुसंधान निष्कर्षों पर अपने पूर्वाग्रहों का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए अर्थात् अनुसंधान का परिणाम अनुसंधानकर्ता की व्यक्तिगत पसंद के आधार पर तय होना चाहिए।

क्रिक पैट्रिक के अनुसार — व्यवहारवाद चार तत्वों का मिश्रण है।

1- विश्लेषण की इकाई के रूप में संस्थाओं की अपेक्षा व्यक्ति तथा समूह के आचरण का अध्ययन

2- सामाजिक विज्ञानों की एकता पर बल तथा अंतः अनुशासनात्मक अध्ययन पर बल

3- तथ्यों के पर्यवेक्षण हेतु सांख्यिकीय तथा परिणात्मक तकनीकों पर बल

4- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक व्यवस्थित आनुभविक सिद्धांत के रूप में परिभाषित करना।

व्यवहारवाद के अध्ययन की इकाई मानव का ऐसा व्यवहार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पर्यवेक्षण , मापन और सत्यापन किया जा सकता है। राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन से राजनीति की संरचनाओं , प्रक्रियाओं इत्यादि के बारे में वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत व्याख्याएँ विकसित करना ही व्यवहारवाद का लक्ष्य है। वस्तुतः व्यवहारवाद एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसका लक्ष्य विश्लेषण की इकाईयों , नई पद्धतियों , नई तकनीकों , नए तथ्यों एवं एक व्यवस्थित सिद्धांत के विकास को प्राप्त करना है । व्यवहारवादी समस्त उपलब्ध वैज्ञानिक संसाधनों का प्रयोग करते हुए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विज्ञान को निर्मित करते हैं।

व्यवहारवाद के अंतर्गत कई सारे सिद्धांतों एवं अवधारणाओं का विकास हुआ है , जो निम्नलिखित है।-

(1) व्यवस्था सिद्दांत
(2) खेल सिद्धांत
(3) सौदेबाज़ी का सिद्धांत
(4) संचार सिद्धांत
(5) निर्णय निर्माण सिद्धांत

व्यवहारवाद के आगमन के साथ कई नवीन तकनीकें विकसित हुईं जैसे गणित एवं सांख्यिकी का प्रयोग , अंतर्वस्तु विश्लेषण और अनुरूपता की प्रयोगशाला वाली तकनीकें भी शामिल हैं।

3.7 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में व्यवस्था सिद्धांत

मार्टन कैपलान का सिद्धांत - अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यवस्था उपागम को लोकप्रिय करने में मार्टन कैपलन का विशेष योगदान है। 'शक्ति राजनीति' की धारणा को स्वीकार करते हुए उसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की कुछ विशिष्ट आत्म नियामक विशेषताएँ बतायी हैं। कैपलान का अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था दृष्टिकोण कई सैद्धांतिक मान्यताओं पर आधारित है। प्रथम मान्यता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक पद्धति (व्यवस्था) के अंतर्गत व्यवहारों के कुछ विशिष्ट एवं अवर्तनीय (repeatable) समुच्चय का अस्तित्व है। द्वितीय मान्यता यह है कि ये व्यवहार समुच्चय (

pattern) का रूप इसलिए धारण करते हैं कि इस समुच्चय के विभिन्न तत्वों में घनिष्ठ आंतरिक सम्बंध होता है तथा इनसे अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय आवश्यकताओं की सामान रूप से पूर्ति होती है। तृतीय मान्यता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों के समुच्चय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेने वाले लोगों और संस्थाओं के चरित्र एवं उनकी विशेषताओं को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही साथ उनके द्वारा सम्पादित किए जाने वाले कार्यों की विशेषताओं को भी प्रतिबिम्बित करते हैं। चतुर्थ मान्यता यह है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार कई तत्वों जैसे सैनिक तथा आर्थिक क्षमता , संचार तथा सूचना , तकनीकी परिवर्तन , जनसांख्यिकी परिवर्तन आदि तत्वों से सम्बंधित रहते हैं तथा इनके सम्बन्धों को दर्शाया भी जा सकता है। कैप्लन का ये भी कहना है कि राजनीतिक व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने के लिए शारीरिक बल कम से कम आख़िरी उपाय के तौर पर काम में लिया जाना चाहिए। इन मान्यताओं के आधार पर कैप्लन ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न प्रतिमानो की कल्पना की है। उसका विश्वास है कि इन प्रतिमानों (models) का व्यवहारवादी विश्लेषण सम्भव है तथा इनके विशिष्ट आधार वाक्यों की जाँच की जा सकती है।

कैप्लन ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक पद्धति (व्यवस्था) में छः प्रतिमानों की कल्पना की है। -

1- शक्ति संतुलन व्यवस्था (Balance of power system)

2-शिथिल द्विध्रुवीय व्यवस्था (Loose Bipolar system)

3- दृढ़ द्विध्रुवीय व्यवस्था (Tight Bipolar system)

4- विश्वव्यापी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Universal international system)

5- सोपानीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Hierarchical international system)

6- इकाई वीटो अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था (Unit veto international system)

(1) व्यवस्था सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था का सिद्धांत व्यावहारिक क्रांति की देन है। इस सिद्धांत के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक तंत्र कार्य करता है जिसके विभिन्न अंग आपस में एक दूसरे से सम्बंध स्थापित करते हैं। विश्व की राजनीतिक गतिविधियाँ सुव्यवस्थित ढाँचो के अंगों के आपसी क्रिया प्रतिक्रिया की परिणाम हैं। पिछले कुछ वर्षों से अंतरराष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन व्यवस्था विश्लेषण के सन्दर्भ में करने के प्रयत्न किए जा रहें हैं । इस दृष्टिकोण के समर्थकों का मत है कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन तभी किया जा सकता है जबकि इसे एक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय। अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की धारणा की कल्पना सर्वप्रथम के. डब्लू. थाम्पसन ने की और मार्टन कापलॉन ने इस धारणा का और अधिक विस्तार किया। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में व्यवस्था शब्द तीन अर्थों में प्रयोग होता है — **पहले अर्थ में** व्यवस्था का अर्थ है अंतर्राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं का ऐसा विन्यास जिसमें परस्पर क्रियायें स्पष्ट रूप से पहचानी जाती हैं। व्यवस्था का **दूसरा अर्थ** है कि विशेष विन्यास

जिसमें स्वयं विन्यास का स्वरूप ही राज्यों के व्यवहार की व्याख्या करने में सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। **तीसरे अर्थ में** अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में विशेष प्रकार की प्रविधियों के प्रयोग को व्यवस्था कहते हैं। पहला अर्थ अंतर्राष्ट्रीय वास्तविकता का दिग्दर्शन कराता है। जेम्स रोजेनाउ ने इसी अर्थ में व्यवस्था सिद्धांत का प्रयोग करते हुए इसे वर्णन का एक तरीक़ा माना है। दूसरा अर्थ अंतर्राष्ट्रीय वास्तविकता की व्याख्या करता है। केनेथ बॉल्डिंग और चार्ल्स मैक्लेलैंड ने इसी अर्थ में व्यवस्था सिद्धांत का प्रयोग करते हुए अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार के मुख्य चरों की व्याख्या का प्रयत्न किया है। तीसरा अर्थ अंतर्राष्ट्रीय वास्तविकता का विश्लेषण करता है। प्रणाली के रूप में व्यवस्था का अभिप्राय एक ऐसे विशिष्ट दृष्टिकोण से है जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विस्तृत आधार सामग्री में सैद्धांतिक व्यवस्था लाना चाहता है।जार्ज लिस्क़ा और आर्थर ली बर्न ने ऐसे ही विशिष्ट दृष्टिकोण विकसित कर उन्हें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर लागू किया है। संक्षेप में , विश्लेषण प्रणाली के रूप में व्यवस्था विश्लेषण की धारणा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक व्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करने की चेष्टा है। जेम्स एन. रोजेनाऊ ने सन् 1960 में ही अपनी पुस्तक में लिखा था कि , " अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों के अध्ययन में जो नवीनतम प्रवृत्तियाँ विकसित हो रहीं हैं उनमें से संभवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय प्रवृत्ति पूरे अंतर्राष्ट्रीय जगत को व्यवस्था मानकर चलने की है। इस प्रवृत्ति का मूलाधार अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक आचरण का भौतिकशास्त्र और जीवनशास्त्र की स्पष्ट संकल्पनाओं के आधार पर समझने का प्रयत्न करता है। व्यवस्था विश्लेषण में अंतर्राष्ट्रीय जगत को जीवनशास्त्र के आधार पर एक सावयव इकाई मानकर चला जाता है। जिस प्रकार भौतिक शास्त्रों में भविष्य कथन (Predictions) किए जाते हैं वैसे ही यहाँ भी करने का प्रयत्न किया जाता है। गणित में जिस प्रकार कार्यकारण का सम्बंध है उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय जगत की भी विवेचना की जा सकती है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था एक क्रियाशील गतिमान व्यवस्था है और विशिष्ट काल में उसका विशिष्ट रूप रहता है जैसे मानव शरीर में क्रम से बचपन , किशोरावस्था , यौवन और जरावस्था आती है। यदि एक व्यवस्था के समस्त अंग समान रूप से विकसित होते हैं तो वह स्वस्थ विकास होता है। जैसे सावयव में एक ही विशिष्ट अंग का बढ़ना रोग का लक्षण है वैसे ही अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में जब एक राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो उठता है तो युद्ध होते हैं। जिस प्रकार शरीर में बहुत अधिक असंतुलन हो जाता है तो ज्वर आदि उस असंतुलन को संतुलित करने में तीव्र कदम होते हैं , उसी प्रकार राज्यों में जब गहरे असंतुलन होते हैं तो क्रांतियाँ होती हैं और उसके उपरांत नया संतुलन स्थापित हो जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था की परिभाषा करते हुए डी. कोप्लिन ने लिखा है कि " अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को हम क्षेत्रीय आधार पर संगठित अर्द्ध स्वायत्त क़ानूनी और तथ्यात्मक राजनीतिक इकाइयों के एक सेट के रूप में देख सकते हैं। इन राजनीतिक इकाइयों का अभिप्राय राष्ट्रों अथवा राज्यों से है जो इस विश्व को घेरे हुए हैं और बड़ी संख्या में विवाद क्षेत्रों में एक दूसरे के प्रति स्वतंत्र और सामूहिक रूप से कार्य करते हैं॥

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था उन स्वतंत्र राजनीतिक इकाइयों का संग्रह है जो कुछ नियमित रीति से पारस्परिक क्रिया करती है। अर्थात् राज्यों में पारस्परिक क्रियायें नियमित भी होनी चाहिए और अनवरत भी , जहां ऐसी क्रियायें नहीं होती वहाँ किसी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यवस्था विश्लेषण धारणा के अनुसार किसी राष्ट्र

का व्यवहार अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था से कुछ लेने और उसे कुछ देने की दो तरफ़ा क्रिया है। व्यवस्था दृष्टिकोण राज्यों के व्यवहार के अध्ययन पर बल देता है राज्यों का व्यवहार अनवरत रूप में बदलता रहता है जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भी रूपांतरण होता है। प्राचीन काल में राज्यों की संख्या कम थी जिससे पारस्परिक अंतःक्रिया भी कम होती थी जैसे जैसे राज्यों की संख्या बढ़ती गयी वैसे वैसे राज्यों की पारस्परिक क्रियायें भी बढ़ने लगीं। व्यवस्था दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के भूत और वर्तमान से सम्बंधित है। यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए एक विशुद्ध सिद्धांत या संप्रत्यय अपनाने पर बल देता है। यह संप्रत्यय ऐसी संकल्पना का निर्माण करता है कि राज्यों का एक दूसरे के साथ सम्पर्क पारस्परिक क्रिया के प्रक्रम से बनने वाले सम्बन्धों के एक जटिल ढाँचे में होता है।

(2) खेल सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में खेल सिद्धांत के महत्व को पहचानने वालों में लीबनिट्ज , मार्टिन शुबिक , कार्ल डायच तथा आस्कर मॉर्गेन्स्टर्न प्रमुख नाम हैं।

खेल सिद्धांत के अंतर्गत सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को खेल के एक प्रतिमान (model) में ढालकर एक नमूना (pattern) बनाने की कोशिश की जाती है। यह नमूना गणतीय आधार पर तैयार किया जाता है। जर्मन गणितज्ञ लीबनिट्ज ने खेल सिद्धांत के महत्व एवं इसकी आवश्यकता को समझा पर इसके व्यापक प्रयोग श्रेय जॉन न्यूमैन को जाता है जिन्होंने इसका प्रयोग अर्थशास्त्र में किया। तदोपरांत इसका विकास टॉमस शैलिंग ने किया। मार्टन कैप्लन , आर्थर ली बर्न्स तथा रिचर्ड क्वांट ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में खेल सिद्धांतों को अपनाने का प्रयत्न किया। इन विचारकों ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए खेल सिद्धांत पर ज़ोर दिया। जहां क़ई सारे विकल्प मौजूद हों और उनमें से सबसे उपयुक्त एवं श्रेष्ठ विकल्प का चयन करते हुए उस परिस्थिति में सर्वोत्तम निर्णय लेने की प्रक्रिया खेल सिद्धांत का मूल है। यह सिद्धांत किसी परिस्थिति में कौन सी क्रिया (निर्णय) या विकल्प विवेकसंगत होगा , उसकी बात करता है। इसमें निर्णय प्रक्रिया का आधार तुलनात्मक विश्लेषण होता है।

खेल सिद्धांत अंतर्गत खेल में युक्तियों में रणनीति के माध्यम से खेला जाता है तथा परिणामों की अपेक्षा उसी अनुसार की जाती है इसमें संयोग के आधार पर परिणाम नहीं प्राप्त होते। यह युक्तियों (game of strategies) का खेल है ना कि संयोग (game of chance) का खेल। खेल सहकारितापूर्ण (co-operative) एवं प्रतिस्पर्धापूर्ण (competitive) दोनों हो सकता है। खेल के विश्लेषण की आधारभूत इकाई खिलाड़ी होते जिनकी मात्रा दो या दो से अधिक हो सकती है। **प्रमुख रूप से तीन प्रकार के खेल होते हैं** —

1- ज़ीरो सम खेल - इसमें कुल खिलाड़ियों की हानियों का अर्थ है दूसरे खिलाड़ियों के लाभ से समझा जाता है।

2- कांस्टैंट-सम गेम — कांस्टैंट-सम गेम में किसी भी पक्ष को लाभ किसी दूसरे की क़ीमत पर नहीं मिलता। जैसे एक बाज़ार में कुछ सामान निश्चित संख्या और क़ीमत पर मिलता है तो इसमें प्रतिद्वंदी को जो लाभ प्राप्त होगा वो किसी पक्ष को हानि पहुँचा कर नहीं प्राप्त होगा।

3- नॉन-ज़ीरो सम खेल - नॉन-ज़ीरो सम प्रकार का खेल ज़ीरो-सम-खेल और कांस्टैंट-सम खेल के बीच की स्थिति है। इसमें खेलों के विभिन्न पक्षों के बीच प्रतिस्पर्धा भी रह सकती है और सहयोग भी। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक खेल का मैदान है एवं इसमें शामिल सभी राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्रीय हितों को पूरा करने के लिए अपनी-अपनी व्यूह रचना करते हैं तथा खेल सिद्धांत के अंतर्गत विशेष रूप से शक्ति (Power) , निर्णय (Decision) , विवाद (Conflict) तथा सहयोग आदि अवधारणाओं का अध्ययन किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के खेल सिद्धांत में प्रतियोगिता कर रहे सभी खिलाड़ियों को समान समझा जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में खेल सिद्धांत के अंतर्गत राजनीतिक विश्लेषक मुख्यतः पाँच प्रश्नों एवं उसके समाधान की बात करते हैं -

1- आपके पास कौन-कौन सी युक्तियाँ (strategies) हैं ?

2- आपके विरोधी अथवा शत्रु के पास कौन कौन से युक्तियाँ हैं ?

3- दोनों की युक्तियों की तुलना करने पर क्या परिणाम निकलते हैं ?

4- विभिन्न परिणामों के आप क्या मूल्य आँकते हैं ?

5- आपके विरोधी या शत्रु विभिन्न परिणामों के क्या मूल्य आँकते हैं ?

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करने के उपरांत नीति नियंताओं को स्पष्ट निष्कर्ष निकालते हुए परिणामों का मूल्यांकन एवं गणना करनी होती है जिससे वह अपने लाभ एवं हानि की स्थिति का ठीक ठीक आकलन कर सकें।

खेल सिद्धांत वास्तव में तर्कसंगत व्यवहार का माडल पेश करता है । परिस्थिति विशेष में किस तरह के निर्णय लिए जाने चाहिए या किस तरह का व्यवहार किया जाना चाहिए तथा किस स्थिति में कौन सी कार्यवाही तर्कसंगत है सब कुछ खेल सिद्धांत के अंतर्गत आता है।

खेल सिद्धांत के अंतर्गत स्वरूपीकरण नामक पद्धति का प्रयोग किया जाने लगा है जिसका तात्पर्य है कि विभिन्न प्रक्रियाओं में ऐसी प्रतिक्रियाओं के स्वरूपों को छाँट लेना जो समान हैं तथा इन स्वरूपों को कालांतर में निहित तत्वों के आधार पर सामान्यीकृत करना। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में इस पद्धति का प्रयोग काफ़ी सरल है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के निश्चित स्वरूप होते हैं जैसे विरोध , तनाव , झड़प , दौत्य सम्बन्धों को तोड़ना , आर्थिक नाकेबन्दी , युद्ध आदि। इन स्वरूपों के विश्लेषण से हमारे लिए यह सम्भव हो सकता है कि हम संघर्ष की प्रत्येक सतह में निहित ख़तरे का आकलन कर लें। इसके अतिरिक्त माडलिंग नामक एक अन्य पद्धति के द्वारा भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन भी वर्तमान में कुछ विद्वानों द्वारा किया जा रहा है। इसमें माडल से तात्पर्य है कि हमारे अध्ययन की विषयवस्तु को एक समतुल्य वस्तु के द्वारा प्रस्तुत करना । मॉडल की रचना उस समय की जाती है जबकि हमारे लिए प्रत्यक्ष परीक्षण करना सम्भव नहीं होता। सामाजिक प्रक्रियाओं तथा विदेश नीतियों का अध्ययन करने के लिए विस्तृत सामाजिक मॉडलों की रचना अपेक्षित है। सामाजिक मॉडल वे पद्धतियाँ हैं जिनके द्वारा सामाजिक प्रक्रियाओं तथा घटनाओं को सही तरीक़े से व्यक्त किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के विश्लेषण हेतु माडलिंग

पद्धति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में काफ़ी प्रभावी मानी जाती है , क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति सदैव परिवर्तनीय है इसमें निरंतर घटनाएँ घटती रहती हैं इस कारण से कर्ताओं के बीच सम्बन्धों के विन्यास बदलते रहते हैं।

(3) सौदेबाज़ी का सिद्धांत

खेल सिद्धांत युद्ध की स्थितियों में लागू किया जा सकता है जबकि अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में युद्ध के अलावा सहयोग की स्थिति भी रहती है , राष्ट्र संघर्ष और विरोध के साथ साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बंध विकसित करने में लगे रहते हैं । अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए विभिन्न तरह के कूटनीतिक वार्ताएँ एवं विचार विमर्श चलता रहता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में वार्ता (negotiations) का बहुत अधिक महत्व होता है। वार्ताओं के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की व्यवस्था की जाने लगी है।वार्ता में जो कर्ता सबसे ज़्यादा निपुण , दूरदर्शी , और कौशल का प्रयोग करेगा।

सौदेबाज़ी उपागम में वार्ता करते समय राजनयिकों को अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु अपने विरोधियों के समक्ष अधिक से अधिक माँग रखनी चाहिए। सौदेबाज़ी सिद्धांत में वार्ता का विशेष महत्व है एवं वार्ताओं के सम्बंध में तीन मत हैं —

प्रथम वार्ता के दौरान माँगों का स्वरूप परिवर्तित नहीं करना चाहिए। वार्ता में भागीदार पक्षों की माँगे स्पष्ट एवं स्थिर रहनी चाहिए। **द्वितीय** वार्ता के मध्य दोनों पक्षों को अपनी अधिमान्यता बदलने का अधिकार होता है। **तृतीय** कुछ प्रकार की वार्ताएँ ऐसी होती हैं जिनमें कोई भी पक्ष समझौते पर नहीं पहुँचना चाहता परंतु कोई भी पक्ष यह प्रकट नहीं करना चाहता कि दूसरे पक्ष को बाध्य होकर वार्ता तोड़नी पड़े। अतः सभी प्रस्ताव इस ढंग से पेश किए जाते हैं कि आम जनता उन्हें पसंद करे , किंतु उनमें एक जोकर होता है ऐसा प्रस्ताव होता है जिसे दूसरा पक्ष किसी भी भाँति स्वीकार नहीं कर सकता और उसकी वजह से वह उसके सारे दावे को अस्वीकार करने को विवश हो जाता है।

ओरान यंग ने अपनी किताब " The politics of force : Bargaining in international crisis में सरल सौदेबाज़ी और युक्तिमूलक सौदेबाज़ी में अंतर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। सरल सौदेबाज़ी में सामान्य सूचनाओं के आधार पर कुछ ले देकर समझौता करने की इच्छा रहती है। युक्तिमूलक सौदेबाज़ी में कूटनीतिक दांव पेचों का सहारा लेते हुए सारपूर्ण तथ्य प्राप्त करने की इच्छा रहती है और इसके पीछे शक्ति के प्रबल तत्व रहते हैं। सौदेबाज़ी का यह प्रकार 'शक्ति के साथ वार्ता ' के विचार के बहुत निकट है। इस प्रकार सौदेबाज़ी हमेशा एक प्रकार का बल प्रयोग है।

(4) संचार सिद्धांत – अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में संचार सिद्धांत को सम्प्रेषण सिद्धांत भी कहते हैं। प्रशासन तथा राजनीती के निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालन और समायोजन की प्रक्रियायों की उपयोगिता को यह सिद्धांत उस अर्थ में देखता है जिसमें संचार वाहन को स्टीयरिंग के द्वारा अभीप्सित लक्ष्य की ओर तेज़ी से दौड़ाया जा सकता है। संचार सिद्धांत का प्रवर्तक प्रसिद्द अमेरिकी गणितज्ञ नारबर्ट वीनर को माना जाता है। वीनर ने सन्देश सिद्धांत (Theory of messages) , साइबरनेटिक्स तथा फीडबैक सिस्टम के आधार पर संचार सिद्धांत का विकास किया

। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में संचार सिद्धांत को लागू करने का श्रेय हॉवर्ड के प्रोफ़ेसर कार्ल डायच को जाता है। इस प्रकार से कार्ल डायच की रचना "नर्व्स ऑफ गवर्नमेंट" विशेष महत्त्व की रचना है। इसके अतिरिक्त डायच का शोध लेख – ' कम्युनिकेशन मोडल्स एंड डिसीजन सिस्टम' जो की जेम्स सी चार्ल्स वर्थ द्ववारा संपादित पुस्तक **"कन्टेम्परेरी पोलिटिकल एनालिसिस"** में प्रकाशित हुआ है – उसके विचारों को विस्तार अभिव्यक्त करता है। संचार सिद्धांत निर्णयों के परिणामों में उतनी रूचि नहीं लेता जीतनी उनके निर्माण की प्रक्रिया में – यह शायद साइबरनेटिक्स के प्रतिरूप के अनुकूल ही है क्योकि उसमें भी लक्ष्य से अधिक महत्त्व संचालन और समायोजन की प्रक्रियायों को दिया जाता है। कार्ल डायच ने संचार सिद्धांत की अपनी व्याख्या का आरम्भ संचार अभियांत्रिकी (Communication engineering) और शक्ति अभियांत्रिकी (power engineering) में अंतर बताने से करता है। डायच लिखते हैं कि शक्ति अभियांत्रिकी में परिवर्तन प्रायः उसी अनुपात में होता है जिसमें शक्ति का उपयोग होता है। इसके विपरीत संचार अभियांत्रिकी में थोड़ी सी शक्ति का प्रयोग भी कभी-कभी सन्देश प्राप्तकर्ता की स्थिति में बहुत भरी परिवर्तन ले आता है। ऐसे परिवर्तन प्रयोगों में लायी गयी शक्ति के अनुपात में सहस्त्रों गुना बड़े होते हैं। संचार सिद्धांत का समस्त आधार परिवर्तन पर है। परिवर्तन शक्ति के द्वारा लाया जाता है , परन्तु यह प्राप्त सूचना और उस पर अमल करने पर निर्भर रहता है। इसकी तुलना उस सूचना से की जा सकती है जो बन्दूक की नली को किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर मोड़ देने के लिए आवश्यक होती है। बन्दूक का कुंडा दबाने में कुछ भी शक्ति नहीं लगाती , परन्तु जिस लक्ष्य की ओर बन्दूक का निशाना होता है उस पर जोरदार प्रभाव पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संकेत को ले जाने के लिए कितनी शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी , यह जानना उतना लाभदायक नहीं जितना यह कि उसके उपयोग का परिणाम क्या निकला।

संचार सिद्धांत प्रशासन को विभिन्न सूचना प्रवाहों के आधार पर स्थित निर्णय निर्माण की एक व्यवस्था मानता है। संचार सिद्धांत का आधार दो प्रकार की संकल्पनाओं पर टिका है – प्रथम वे संकल्पनाएँ जिनका सम्बन्ध संचार का सञ्चालन करने वाली संरचनाओं से है , और द्वितीय वे संकल्पनाएँ जिनका लक्ष्य विभिन्न प्रकार के प्रवाहों और प्रक्रियायों को समझना है। पहले वर्ग में वे संरचनाएं आती हैं जिन्हें हम स्वागतकर्ताओं (receptor) या स्वागत व्यवस्थाओं (reception system) का नाम दे सकते हैं। दूसरा वर्ग , जिसका सम्बन्ध सूचना प्रवाहों से है , अधिक महत्वपूर्ण है। प्रवाह की संकल्पना के साथ अन्य संकल्पनाएँ जैसे चैनल (Channel) , भार (Load) और भर वाहिनी क्षमता (Load capacity) जुडी हुई हैं।

डायच का विचार है कि सूचना का मापतौल और उसकी गिनती की जा सकती है और भेजी गयी सूचना किस मात्रा में सही या विकृत रूप में प्राप्त की जा रही है उसका अनुमान लगाने के लिए सम्प्रेषण सारणियों की उपलब्धि , क्षमता या मर्यादा का परिणात्मक रूप से अध्ययन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में जान पड़ता है कि डायच पर विद्युत अभियांत्रिकी क्व क्षेत्र में किये गए गणित पर आधारित उच्च स्तरीय परिमापन का काफी प्रभाव है। डायच ने समूहों और समाजों , राज्यों और अंतर्राष्ट्रीय समाजों , सभी प्रकार के संगठनों की संश्लिष्टता का मापन करने के लिए सूचना प्रवाहों के अध्ययन की पद्धति का प्रयोग किया।

डायच ने संचार सिद्धांत के विश्लेषण में चार परिणात्मक तत्वों को जोड़ा जिससे संचार सिद्धांत का संकल्पनात्मक ढांचा अत्यधिक स्पष्ट हुआ। ये चार तत्व हैं – भार (Load) , पश्चता (Lag) , अभिलाभ (Gain) , और अग्रता (Lead)। भार का अर्थ परिवर्तनों की उस व्यापकता और गति से है जो एक ऐसी व्यवस्था जो उद्देश्य को प्राप्त करना चाहती है , अपने लक्ष्यों की स्थिति में ला सकती है। पश्चता का अर्थ निर्णयों और कार्यों के परिणाम के सम्बन्ध में सूचना के समय पर सही रूप में पहुँच जाने पर भी व्यवस्था के द्वारा उसे समझने अथवा उस पर सही कार्यवाही करने में शिथिलता से है। अधिलाभ का अर्थ है प्राप्त होने वाली सूचना के प्रति अनुक्रिया (responce) का व्यापक और प्रभावशाली होना। डायच प्रति संभरण के प्रतिरूप को परम्परागत विश्लेषण की तुलना में अधिक श्रेष्ठ मानता है।

(5) निर्णय – निर्माण सिद्धांत – निर्णय निर्माण सिद्धांत राजनीति शास्त्र के अध्ययन हेतु व्यवहारवादी आन्दोलन से प्रेरित है। इसका विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ जिसमें रिचर्ड स्नाइडर, बर्तन सापिन एवं एच डब्ल्यू बर्क के नाम प्रमुख हैं। 1954 में इन तीनों ने अपनी पुस्तक – 'डिसीजन मेकिंग एज एन अप्रोच टू द स्टडी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स' में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। संतुलन और व्यवस्था सिद्धांत के प्रतिकूल या सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों के बजाय उन अंतर्राष्ट्रीय कर्ताओं के अधिमान्य व्यवहार के अध्ययन पर बल देता है जो अंतर्राष्ट्रीय घटनाचक्र को निर्धारित और प्रभावित करते हैं। इस सिद्धांत के अंतर्गत विदेश नीति निर्माण की प्रक्रिया में लिए जा रहे निर्णयों का विश्लेषण किया जाता है। निर्णयपरक सिद्धांत का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से पहले गणितज्ञ , समाज वैज्ञानिक , अर्थशास्त्री और मनोवैज्ञानिक अपने-अपने अनुसन्धान में करते रहें हैं।

निर्णय निर्माण सिद्धांत के अध्ययन से पूर्व अध्येताओं को निति निर्माण एवं निर्णय निर्माण में अंतर स्पष्ट होना आवश्यक है क्योंकि यह दोनों कई सन्दर्भों में बिलकुल अलग अवधारणाएं हैं .(1) निर्णय परक दृष्टिकोण यह मानता है की निर्णय निर्माण का अध्ययन उसी राज्य की पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में होना चाहिए जिस परिवेश का वह भाग है। (2) इसका अध्ययन उन परिकल्पनाओं के आधार पर किया जाना चाहिए जिस आधार पर निर्णय लेने वाला विश्व की पुनर्रचना करना चाहता है। इस दृष्टिकोण को विकसित करने के दो उद्देश्य रहें हैं . (क) प्रत्येक देश के उन मार्मिक संरचनाओं का पहचानना आवश्यक है जहाँ परिवर्तन होते हैं , निर्णय लिए जाते हैं , कार्यवाहियां की जाती हैं (ख) निर्णय लेने वालों के व्यवहार की परिस्थितियों का सुव्यवस्थित अध्ययन किया जाना चाहिए। इस उपागम का मुख्य विचार है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मुख्य अभिकर्ता तो राष्ट्र ही होते हैं , परन्तु इस भूमिका का प्रयोग कुछ व्यक्तियों के माध्यम से करता है। अतः राष्ट्रों के व्यवहार का सही आंकलन राष्ट्र के उन प्रतिनिधियों के व्यवहार द्वारा संभव हो सकता है। अतः निर्णयकर्ताओं के व्यवहार का अध्ययन करना अति अनिवार्य है। लेकिन निर्णयकर्ताओं के इस व्यवहार का अध्ययन उसकी सभी परिस्थितियों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए जिसके माध्यम से वह निर्णय लेने वाला गुजरता है। अतः स्नाइडर एवं अन्य विद्वानों का मानना है कि किसी भी निर्णय को समझने हेतु यह जानना आवश्यक है कि (1) निर्णय किसने लिया ? (2) किन-किन बौद्धिक एवं अंतः क्रियायों के माध्यम से वह / वे व्यक्ति इस निर्णय पर पहुचें।

कुछ विद्वान् उन कार्यकर्ताओं के व्यवहार के अध्ययन पर बल देते हैं जो विदेश नीति निर्माण में सही मायने में भाग लेते हैं। ऐसे कार्यकर्त्ता दो प्रकार के हैं - एक तो वे जो विदेश सेवा में अधिकारी के रूप में कार्य करते हैं। कोहन के

विचार में विदेश नीति के निर्माण में हिस्सा लेने वाले सरकारी और गैर सरकारी अधिकारियों के दृष्टिकोणों और विश्वासों के अनुसार ही विदेश नीति का व्यवस्थित विश्लेषण होना चाहिए। उनका कहना है कि विभिन्न महत्वपूर्ण निर्णय करने में जितना अधिक प्रभाव राष्ट्रपति , प्रधानमंत्री , विदेश मंत्री ,आदि प्रमुख नेताओं तथा शासन के अधिकारियों का होता है उतना अन्य तत्वों का नहीं होता है। अतः निर्णयकरण की प्रक्रिया में हमें निर्णय करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व के अध्ययन पर अधिक बल देना चाहिए। इस मत को अलेक्जेंडर जार्ज तथा जूलियट जार्ज ने प्रस्तुत किया। प्रथम विश्व युद्ध में अमेरिका के सम्मलित होने और इस युद्ध के बाद वर्साय की संधि का स्पष्टीकरण उन्होंने तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के व्यक्तित्व के विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया। उन्होंने 1956 में प्रकाशित अपनी पुस्तक '**वुडरो विल्सन एंड कर्नल हॉउस**' में विल्सन की समूची जीवनी और व्यक्तित्व का तथा वर्साय की संधि में उनके परामर्शदाता कर्नल हॉउस का विस्तृत विवरण देते हुए बताया कि उनके व्यक्तित्व ने उनके राजनितिक कार्यों और निर्णयों को किस प्रकार प्रभावित किया। अमरीकी राष्ट्रपति जान केनेडी ने 1962 में प्रक्षेपास्त्र क्यूबा ले जाने वाले सोवियत जहाजों को रोकने के लिए प्रभावशाली कार्यवाही की थी। 1971 में भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने बांग्लादेश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाली मुक्ति वाहिनी को सहायता देने का निर्णय किया था। इन निर्णयों का यथार्थ महत्त्व और स्वरुप इनके व्यक्तित्व के आधार पर समझा जा सकता है और इससे उस समय की विदेश नीति की व्याख्या सही ढंग से करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। दूसरा , विदेश निति निर्माण में विधायिका और कार्यपालिका की विशिष्ट भूमिका होती है। अतः रोजर हिल्समैन के विचार में विधायिका और कार्यपालिका की संरचना , सदस्यों के आचरण , आदि का अध्ययन किया जाना चाहिए।

जान बर्टन ने अपनी किताब 'International Relations' में शक्ति के सन्दर्भ में निर्णय परक सिद्धांत का विश्लेषण किया है। माडलेस्की का सन्दर्भ देते हुए बर्टन ने लिखा कि राज्यों के आपसी संबंधों के निर्धारण में शक्ति का तत्व महत्वपूर्ण रहा है तथापि विदेश नीति विश्लेषण में शक्ति की जाँच नहीं की गयी है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के कारक को स्वीकार करते हुए भी निर्णय निर्माण प्रक्रम में इसकी उपेक्षा हुई है। उसने शक्ति आगत (power input) तथा शक्ति निर्गत (power output) प्रतिमान की रचना करते हुए विदेश नीति के निर्माण में निर्णयपरक सिद्धांत के कारकों का निरूपण किया है। उसके अनुसार एक राज्य का आगत दूसरे का निर्गत होगा और दूसरे की प्रक्रिया को समझे बिना भी निर्णय को लेना तर्क संगत नागिन होगा।

3.8 सारांश

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन की कोई निश्चित सीमा नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में विभिन्न राष्ट्रों की विदेश नीतियों का अध्ययन किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन क्षेत्र में मानव व्यव्हार भी सम्मिलित है। क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय जगत में निर्णय लेने की प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है और महत्वपूर्ण समस्यायों पर निर्णय व्यक्तिगत रूप में या समूह द्वारा लिए जाते हैं । अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय जीवन के ज्ञात तथ्यों एवं उन शक्तियों और परिस्थितियों पर रहता है जो पारस्परिक व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अंतर्गत देशों और राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों के समस्त पक्षों का अध्ययन किया जाता है। ये समस्त पक्ष राजनितिक होने के

अतिरिक्त गैर राजनितिक भी हो सकते हैं। ये शांतिमय हो सकते हैं अथवा संघर्षयुक्त , कानूनी अथवा सांस्कृतिक अथवा आर्थिक अथवा भौगोलिक , सरकारी अथवा गैर सरकारी।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के स्वरुप में निरंतर परिवर्तन आ रहा है। पहले अंतर्राष्ट्रीय राजनीति यूरोपीय राज्यों तक ही सीमित थी किन्तु अब एशियाई एवं अफ्रीकी राज्यों की समस्यायों तक इसके क्षेत्र का विस्तार हो रहा है। अत्यधिक जनसँख्या वृद्धि ने भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। अपने सीमित साधनों के साथ राष्ट्रों को बेरोजगारी व निर्धनता जैसी समस्यायों से जूझना पद रहा है। परमाणु शक्ति के विकास से अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तनाव के दौर से गुजर रही है तथा साथ ही साथ विश्व शक्ति संरचना निरंतर परिवर्तन के दौर से गुजर रही है।

वर्तमान में एकल ध्रुवीय व्यवस्था में सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था पर अमेरिका का वर्चस्व स्थापित है। कतिपय प्रभावी राष्ट्रवादी तत्वों के बावजूद अंतर्राष्ट्रीयतावाद की भावना का भी निरंतर विकास हो रहा है। समकालीन राज्यों की प्रभुसत्ता को विश्व – जनमत , अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता ,अंतर्राष्ट्रीय कानून , एकल ध्रुवीय व्यवस्था एवं विश्व शांति के प्रति वचनबद्धता आदि कारकों ने सीमित कर दिया है। वर्तमान में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को जातीय हिंसा ने नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है जो निःसंदेह एक नकारात्मक पहलू है।

21 वीं सदी की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक सकारात्मक पहलू यह है कि विश्व जनमत के उदय ने आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के संकीर्ण राष्ट्रवाद एवं आक्रामक प्रवृत्ति पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया है, और यह प्रयत्न अभी भी जारी है। तकनीकी क्रांति के परिणामस्वरूप यातायात , कृषि , संचार , औद्योगिक एवं सैनिक क्षेत्रों में हुए क्रांतिकारी विकासों ने भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधो की प्रवृत्ति जागरूक हुई है। इन अंतर्राष्ट्रीय निर्भरता ने जहाँ एक ओर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विशुद्ध विश्वस्तरीय स्वरुप की स्थापना की है वहीँ दूसरी ओर विश्व शांतिपूर्ण सहयोगात्मक संबंधों की स्थापना की ओर झुकाव भी उत्पन्न किया है ।

3.9 अभ्यास प्रश्न

1. **"राष्ट्रीय हित सर्वोपरि है "** की अवधारणा का सम्बन्ध है :

   (A. यथार्थवाद **(B.** उदारवाद **(C**. अराजकतावाद **(D.** बहुलवाद

2. इंटरनेशनल थियरी : द केस फ़ार क्लासिकल अप्रोच " वर्ल्ड पालिटिक्स (1966) पुस्तक के लेखक हैं ?

   (A. मैक्स लर्नर **(B.** डेविड रिकार्डो **(C.** ओपनहीम **(D.** हेडले बुल

3. खेल सिद्धांत खेल है :

   (A.युक्तियों का **(B.** संयोग का **(C.** वियोग का **(D.** नक्षत्रों का

4. निम्नलिखित में से कौन संचार सिद्धांत से सम्बंधित नहीं हैं?

   (A. लीबनिट्ज (B. मार्टिन शुबिक (C. कार्ल डायच (D. होर्खाइमार

3.10 शब्दावली

- **समीचीन अध्ययन** - उचित, न्यायसंगत या समायोजित अध्ययन .
- **एकल ध्रुवीय व्यवस्था** – अंतर्राष्ट्रीय जगत में जब सैनिक , सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में किसी एक राष्ट्र का वर्चस्व हो उसे एकल ध्रुवीय व्यवस्था कहते हैं. जैसे वर्तमान में संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति है .

3.11अभ्यास प्रश्न के उत्तर

1. (A) 2. (D) 3. (A) 4. (D)

3.12 सन्दर्भ-सूची

1. Heywood; Andrew 2011, "Global Politics", Palgrave Macmillan, Hampshire England.
2. Baylis John; Steve Smith 2004, "The Globalization of World Politics An Introduction to International Relations", Oxford University Press.
3. फडिया, बी.एल., 2010 "अन्तराष्ट्रीय राजनीति:सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे", साहित्य भवन पब्लिकेशन,इलाहबाद.
4. घई,यू.आर., 2007 "अन्तराष्ट्रीय राजनीति सिद्धांत एवं व्यवहार", न्यू अकेडमिक पब्लिशिंग कंपनी,जालंधर

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

1). अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में परम्परावादी उपागम की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें .

2). परम्परावादी उपागम एवं व्यवहारवादी उपागम में मूल अंतर को स्पष्ट करते हुए इनकी विशेषताओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करें .

3). व्यवहारवादी उपागम के अंतर्गत आने वाले मार्टन कप्लान के व्यवस्था सिद्धांत का मूल्यांकन कीजिये .

4). अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में खेल सिद्धांत के अंतर्गत आने वाले खेलों के प्रमुख प्रकारों की विस्तृत व्याख्या करें।

इकाई – 4 अंतराष्ट्रीय संबंधों के उदारवादी एवं नव उदारवादी उपागम

इकाई संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 अन्तराष्ट्रीय संबंधों का उदारवादी उपागम

4.3.1. उदारवादी सिद्धांत की प्रमुख विषय-वस्तु

4.4 उदारवादी उपागम की विशेषताएं

4.5 अन्तराष्ट्रीय संबंधों का नव-उदारवादी सिद्धांत

4.5.1 प्रमुख नव-उदारवादी उपागम

4.6 सारांश

4.7 अभ्यास प्रश्न

4.8 शब्दावली

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.10 सन्दर्भ

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

अन्तराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में उदारवादी उपागम का विशेष महत्व है। उदारवादी सिद्धांत अन्तराष्ट्रीय संबंधों का यथार्थवादी सिद्धांत से भिन्न विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उदारवादियों के अनुसार **"मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है",** अतः उदारवादी यथार्थवादियों की इस बात का खंडन करते हैं कि युद्ध विश्व राजनीति की अनिवार्य स्थिति है. उदारवादी इस बात से भी सहमत नहीं है कि विश्व के मंच पर राज्य ही एकमात्र प्रमुख अभिकर्ता है हालाँकि वे राज्य के महत्व को पूर्णतः इंकार भी नहीं करते। बल्कि उदारवादी विस्तृत अंतरास्ट्रीय क्षेत्र के समर्थक हैं। जिसमे विभिन्न अन्तराष्ट्रीय समुदाय , अन्तराष्ट्रीय संगठन , बहुराष्ट्रीय निगम आदि को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

यथार्थवाद और उदारवाद दोनों की, किसी लोकतंत्र में मुख्य राजनीतिक दलों से तुलना करते हुए **टिमोथी डन** ने लिखा है, **"राजनीतिक दलों की तरह सरकार का "स्वाभाविक दल" यथार्थवाद है और उदारवाद**

विपक्ष का नेता." रखना महत्वपूर्ण है कि फिर भी यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि उदारवादी प्रतिमान यथार्थवाद से पूर्णतः अलग नहीं हैं, ये दोनों ही कुछ मुख्यधारा की धारणाओं को साझा करते हैं। जैसे कि अंतराष्ट्रीय राजनीति कैसे काम करती है? उदारवाद का केंद्र-बिंदु व्यक्ति है। समाज और अन्य संस्थाएं व्यक्ति के कल्याण के साधन मात्र हैं इसीलिए समस्त राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति को केंद्र में रखकर होना चाहिए।

यथार्थवाद

- **राज्यों की शक्ति का अध्ययन**
- **राज्यों की कार्यप्रणाली का अध्ययन**
- **व्यापक स्थायित्व पर जोर**

उदारवाद

- **विभिन्न संस्थाओं और उनकी साझा शक्ति के अध्ययन की प्रधानता**
- **राज्यों द्वारा बाधाओं को दूर करने की प्रक्रिया पर जोर**

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम मुख्यतः अंतराष्ट्रीय सम्बन्ध के उदारवादी एवं नव-उदारवादी उपागम के विभिन्न पहलुओं, मान्यताओं का अध्ययन करेंगे:

1. अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के उदारवादी उपागम के सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन करना।
2. अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के नव-उदारवादी उपागम के सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन करना।

4.3 अन्तराष्ट्रीय संबंधों का उदारवादी उपागम

अन्तराष्ट्रीयवाद और विश्व शांति में उदारवादियों का पूर्ण विश्वास है अतः उदारवाद केवल एक राष्ट्र की सीमा के अंतर्गत ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए भी आदर्श प्रस्तुत करता है। स्वतंत्रता, सहयोग, शांति और प्रगति उदारवाद के आधार स्तम्भ हैं। इसे प्रायः व्यक्तिवाद के साथ जोड़कर देखा जाता है , क्यूंकि यह व्यक्ति, उसके अधिकारों और संपत्ति की स्वतंत्रता पर जोर देता है।

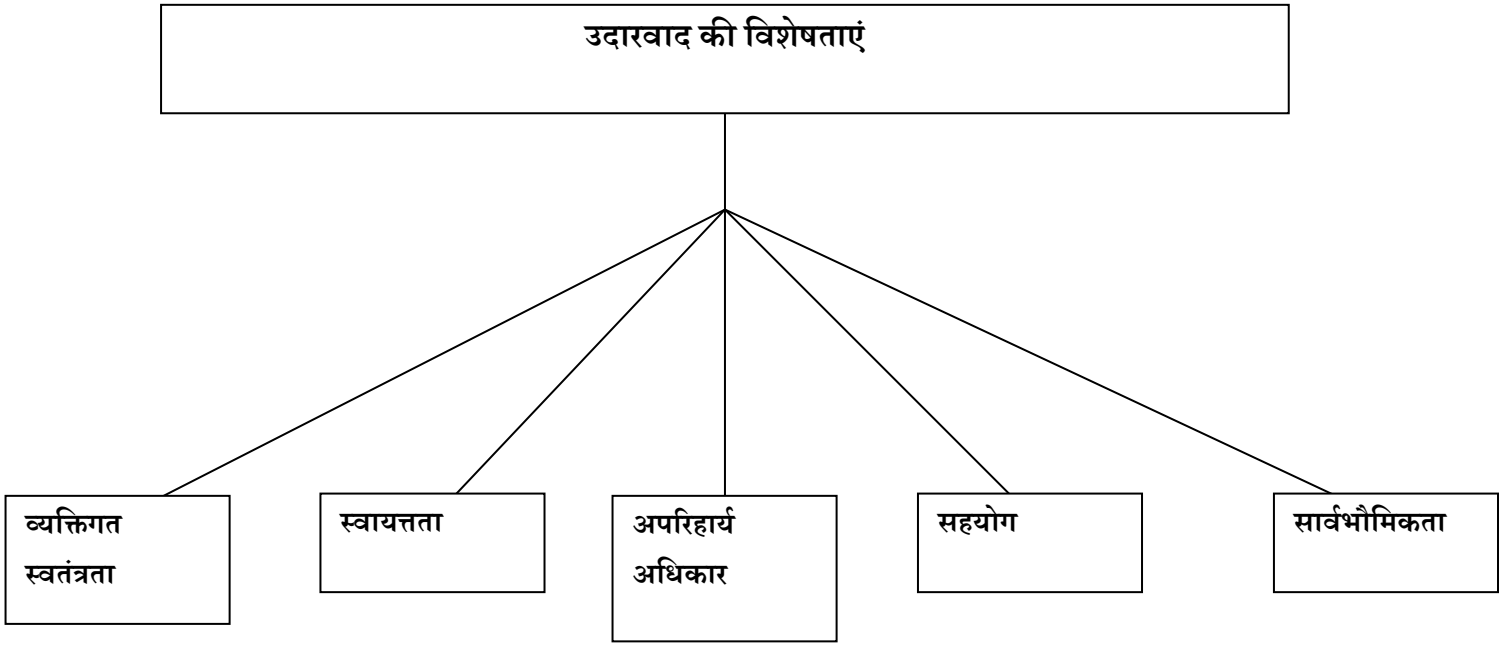

अपने सभी रूपों में उदारवाद का केंद्रीय विषय प्रतिस्पर्धी हितों के बीच सामंजस्य या संतुलन की धारणा है। गहरे अर्थों में, जो प्रतिस्पर्धी हित हैं वे एक-दूसरे के पूरक होते हैं. उदारवादियों के अनुसार , जिस प्रकार प्राकृतिक या अनियमित संतुलन आर्थिक जीवन में उभरने लगता है, वैसे ही दुनिया के राज्यों के बीच हितों का संतुलन विकसित होता है।

4.3.1 उदारवादी सिद्धांत की प्रमुख विषय-वस्तु

- अंतरनिर्भर उदारवाद
- गणतांत्रिक उदारवाद
- उदार संस्थावाद

अंतरनिर्भर उदारवाद

अंतरनिर्भरता के उदारवादी सिद्धांत का सम्बन्ध मुख्यतः व्यापार और आर्थिक संबंधों के विचार पर आधारित है। उन्नीसवीं शताब्दी में वाणिज्यिक उदारवाद के उदय के साथ इस दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इस परंपरा में डेविड रिकार्डो (1770–1823), रिचर्ड कॉब्बन (1804–1864) और जॉन ब्राइट (1811–1889) के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वाणिज्यिक उदारवाद की केंद्रीय मान्यता मुक्त व्यापार के गुणों में विश्वास थी। डेविड रिकार्डो ने तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत के माध्यम से यह तर्क दिया कि जब देश अपनी-अपनी विशेषज्ञता के

क्षेत्रों में उत्पादन कर परस्पर व्यापार करते हैं, तो सभी को लाभ होता है। समकालीन विश्व में भारत और बांग्लादेश के बीच वस्त्र, कृषि और सेवा क्षेत्र में होने वाला व्यापार इस सिद्धांत का व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करता है, जहाँ आर्थिक सहयोग ने दोनों देशों की आपसी निर्भरता को बढ़ाया है।

रिचर्ड कॉब्बन और जॉन ब्राइट ने मुक्त व्यापार को केवल आर्थिक समृद्धि का माध्यम नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय शांति का आधार माना। उनका तर्क था कि मुक्त व्यापार विभिन्न जातियों, पंथों और भाषाओं के लोगों को एक-दूसरे से जोड़ता है। कॉब्बन ने इसे "शाश्वत शांति के बंधन" के रूप में वर्णित किया। इस विचार की पुष्टि यूरोप के अनुभव से होती है, जहाँ द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आर्थिक सहयोग और व्यापारिक एकीकरण ने पारंपरिक शत्रु रहे फ्रांस और जर्मनी को घनिष्ठ साझेदार बना दिया। यूरोपीय संघ का विकास इस बात का प्रमाण है कि आर्थिक अंतरनिर्भरता युद्ध की संभावनाओं को कम कर सकती है।

वाणिज्यिक उदारवाद की इसी मूल अवधारणा—अंतरनिर्भरता—को आगे चलकर नव-उदारवादी विचारकों रॉबर्ट कोहेन और जोसेफ नाई ने विकसित करते हुए 'जटिल अंतरनिर्भरता' का सिद्धांत प्रस्तुत किया। यह सिद्धांत दर्शाता है कि आधुनिक विश्व में राज्य और समाज एक-दूसरे के निर्णयों और नीतियों से अनेक स्तरों पर प्रभावित होते हैं। आज अंतरराष्ट्रीय संबंध केवल सैन्य और राजनयिक मुद्दों तक सीमित नहीं रह गए हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण की 'उच्च राजनीति'—जैसे सुरक्षा, शक्ति और अस्तित्व—के स्थान पर 'निम्न राजनीति' के मुद्दों ने व्यापक महत्व प्राप्त किया है।

जटिल अंतरनिर्भरता को पर्यावरण संरक्षण और वैश्विक स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, जलवायु परिवर्तन एक ऐसा मुद्दा है जिसमें किसी एक देश की नीतियाँ पूरे विश्व को प्रभावित करती हैं। भारत, यूरोपीय संघ और अमेरिका की पर्यावरण एवं ऊर्जा नीतियाँ परस्पर जुड़ी हुई हैं और किसी भी देश का एकतरफा निर्णय वैश्विक प्रभाव उत्पन्न करता है। इसी प्रकार कोविड-19 महामारी के दौरान दवाइयों और वैक्सीन की वैश्विक आपूर्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि आधुनिक राष्ट्र एक-दूसरे पर कितनी गहराई से निर्भर हैं। भारत जहाँ कई देशों के लिए वैक्सीन आपूर्ति का केंद्र बना, वहीं कच्चे माल के लिए वह स्वयं अन्य देशों पर निर्भर रहा।

इस प्रकार, अंतरनिर्भरता का उदारवादी सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक, सामाजिक और मानवीय मुद्दे केंद्रीय भूमिका निभा रहे हैं। जटिल अंतरनिर्भरता की स्थिति में सहयोग, संवाद और परस्पर लाभ की भावना संघर्ष और टकराव की प्रवृत्तियों को सीमित करती है, जिससे अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था अधिक स्थिर और समावेशी बनने की संभावना उत्पन्न होती है।

गणतांत्रिक उदारवाद

गणतांत्रिक उदारवाद इस मान्यता पर आधारित है कि किसी राज्य का अंतरराष्ट्रीय व्यवहार उसके आंतरिक राजनीतिक और संवैधानिक ढाँचे से गहराई से प्रभावित होता है। उदारवादी विचारकों का तर्क है कि जिन राज्यों में संवैधानिक शासन, कानून का शासन, नागरिक स्वतंत्रताएँ और जवाबदेह संस्थाएँ मौजूद होती हैं, वे युद्ध और आक्रामकता की ओर कम प्रवृत्त होते हैं। इसके विपरीत, निरंकुश या सत्तावादी राज्य, जहाँ सत्ता कुछ व्यक्तियों या

संस्थानों में केंद्रीकृत होती है और जन-नियंत्रण कमजोर होता है, अधिक सैन्यवादी और आक्रामक व्यवहार करते हैं।

इस दृष्टिकोण को लोकतान्त्रिक शांति सिद्धांत के माध्यम से समझा जा सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार, लोकतान्त्रिक राज्य आपस में युद्ध नहीं करते या अत्यंत कम करते हैं। इसका एक प्रमुख उदाहरण पश्चिमी यूरोप है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और अन्य पश्चिमी यूरोपीय देशों ने लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ अपनाईं। इसके बाद इन देशों के बीच पारस्परिक संघर्ष की संभावना लगभग समाप्त हो गई। विशेष रूप से फ्रांस और जर्मनी, जो पहले बार-बार युद्ध कर चुके थे, लोकतान्त्रिक शासन और संस्थागत सहयोग के कारण शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के मॉडल बन गए।

गणतांत्रिक उदारवाद का एक और उदाहरण भारत और अन्य लोकतान्त्रिक देशों के साथ उसके संबंधों में देखा जा सकता है। भारत, अमेरिका, जापान और ऑस्ट्रेलिया जैसे लोकतान्त्रिक देशों के बीच सहयोग, चाहे वह क्वाड जैसे मंचों पर हो या व्यापार और तकनीकी साझेदारी के रूप में, अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण और संस्थागत ढंग से आगे बढ़ा है। इन संबंधों में विवाद होने पर भी उन्हें युद्ध की बजाय संवाद, कूटनीति और नियम-आधारित व्यवस्था के माध्यम से सुलझाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

इसके विपरीत, सत्तावादी राज्यों के व्यवहार को भी गणतांत्रिक उदारवाद के संदर्भ में समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए, इराक पर सद्दाम हुसैन के शासनकाल में कुवैत पर आक्रमण या उत्तर कोरिया का लगातार सैन्य उकसावे वाला व्यवहार ऐसे उदाहरण हैं जहाँ सत्ता के केंद्रीकरण और आंतरिक लोकतांत्रिक नियंत्रण की अनुपस्थिति ने आक्रामक विदेश नीति को बढ़ावा दिया।

शीत युद्ध की समाप्ति और साम्यवाद के पतन के बाद गणतांत्रिक उदारवाद को फ्रांसिस फुकुयामा के लेखन में नया बल मिला। फुकुयामा ने तर्क दिया कि उदार-लोकतान्त्रिक शासन और बाजार पूँजीवाद का वैश्विक प्रसार मानव राजनीतिक विकास की अंतिम अवस्था का संकेत देता है। उनके अनुसार, जब अधिक से अधिक राज्य उदार लोकतंत्र और मुक्त बाजार को अपनाएँगे, तो वैचारिक संघर्ष कम होंगे और वैश्विक व्यवस्था अधिक स्थिर तथा शांतिपूर्ण बनेगी। यूरोप के पूर्व साम्यवादी देशों—जैसे पोलैंड, हंगरी और चेक गणराज्य—का लोकतांत्रिक रूपांतरण और यूरोपीय संघ में उनका एकीकरण इस तर्क को आंशिक रूप से पुष्ट करता है।

इस प्रकार, गणतांत्रिक उदारवाद यह स्थापित करता है कि शांति केवल शक्ति-संतुलन का परिणाम नहीं होती, बल्कि वह लोकतांत्रिक संस्थाओं, नागरिक भागीदारी और संवैधानिक नियंत्रण से भी उत्पन्न होती है। लोकतन्त्र को इसलिए शांति की गारंटी के रूप में देखा गया है क्योंकि वह निर्णय-प्रक्रिया में पारदर्शिता, जवाबदेही और सहमति को महत्व देता है, जो युद्ध जैसे कठोर विकल्पों को अंतिम उपाय बना देता है।

उदार संस्थावाद :

इस तरह के दृष्टिकोण का आधार लोकतान्त्रिक सादृश्यता में निहित है, यह विचार कि अन्तराष्ट्रीय राजनीति में अंतर्दृष्टि घरेलू राजनीतिक संरचनाओं को प्रतिबिंबित करके प्राप्त की जा सकती है। हॉब्स और लॉक जैसे विचारकों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धांत इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि केवल एक संप्रभु शक्ति का निर्माण ही नागरिकों को प्राकृतिक स्थिति की अराजकता और बर्बरता से बचा सकता है।

अतः इस सिद्धांत को व्यवहार में लाने के लिए अन्तराष्ट्रीय स्तर पर विधि का शासन स्थापित करने हेतु विभिन्न अन्तराष्ट्रीय संस्थाओं के विकास पर जोर दिया गया। इसके साथ ही राष्ट्र संघ १९२० में अस्तित्व में आया, जो कि विभिन्न राष्ट्रों की एकजुटता का प्रथम प्रयास था। संयुक्त राष्ट्र ने व्यापक समर्थन को आकर्षित किया है और स्वयं को वैश्विक राजनीति की एक स्थायी विशेषता के रूप में स्थापित किया है। उदारवादियों ने इस प्रकार की संस्थाओं को एक नियम-शासित अन्तराष्ट्रीय प्रणाली के रूप में देखा है जो सामूहिक सुरक्षा और अन्तराष्ट्रीय कानून के सम्मान पर आधारित होगी।

4.4 उदारवादी उपागम की विशेषताएँ

अन्तराष्ट्रीय संबंधों से सम्बंधित उदारवादी उपागम की विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

1. **अन्तराष्ट्रीय अभिकर्ता के रूप में 'व्यक्ति' को प्राथमिकता :**
   उदारवादी समस्त क्रियाकलापों का केंद्र "व्यक्ति" को मानते हैं। उनका मानना है कि व्यक्ति के हित व समाज की प्रगति एक-दूसरे के पूरक हैं। विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध, विभिन्न मुद्दों, संघर्षों आदि का समाधान व्यक्ति के हितों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। जॉन लॉक ने सामाजिक समझौते के द्वारा जिस संवैधानिक राज्य की स्थापना की बात कही, उसका उद्देश्य भी व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना था। एक ऐसा राज्य जो नागरिकों के जीवन,स्वतंत्रता व संपत्ति के अधिकारों की रक्षा को सुनिश्चित करे। हालाँकि ऐसा नहीं है कि उदारवादी राज्य के महत्व को पूर्णतः नकारते हैं, बल्कि वे राज्य को आधुनिक युग का सबसे महत्वपूर्ण **सामूहिक व्यक्तित्व** मानते है।
2. **राज्यों के हित परिवर्तनीय होते हैं:**
   उदारवादियों का मानना है कि राज्यों के हित स्थायी या जड़ नहीं होते हैं, इनमे परिवर्तन होता रहता है। व्यक्तियों के मूल्य बदलते रहते हैं तथा समय-समय पर विभिन्न हित समूहों के शक्ति सम्बन्ध भी परिवर्तित होते रहते हैं। उदारवादी राज्य अन्य देशों के हितों और नीतियों को भी ध्यान में रखते हैं, उनका विशवास है कि उदार लोकतन्त्र का विकास अन्य व्यक्तियों के हितों की चिन्ता अपनी चिन्ता के रूप में देखने पर बल देता हैं। उदारवादी राज्य की भूमिका को लेकर इस प्रकार आशावादी है कि दीर्घकालीन नीतियों के रूप में राज्य शांति, जनकल्याण और न्याय को बढ़ावा देते हैं।
3. **व्यक्तियों और राज्यों के हितों को प्रभावित करने वाली राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय परिस्थितियां:**
   उदारवादियों का विचार है कि व्यक्तियों के हित विभिन्न राष्ट्रीय व अन्तराष्ट्रीय परिस्थतियों से प्रभावित होते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं की प्रकृति, विभिन्न मांगें, आर्थिक आधार ऐसे तत्त्व हैं,जो आंतरिक स्तर पर राष्ट्र के हितों को प्राथमिकता देते हैं। उदारवादी अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था को यथार्थवादियों को भांति अराजक नहीं मानते, उनके अनुसार, अन्तराष्ट्रीय संस्थाओं की गतिविधियों का क्षेत्र काफी व्यापक है अतः विभिन्न राज्यों के मध्य संबंधों को विभिन्न करक प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार समय व परिस्थति के अनुसार मानवीय मूल्यों में परिवर्तन होता है उसी प्रकार अन्तराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों के मध्य संबंधों को प्रभावित करने वाले कारकों में भी परिवर्तन होता रहता है।

4. **अन्तराष्ट्रीयवाद को बढ़ावा देने हेतु विभिन्न अन्तराष्ट्रीय संगठन के गठन पर जोर :**
   उदारवादियों का विशवास उदार लोकतंत्र ,पारस्परिक निर्भरता, ज्ञान,सामाजिक संबंधों, अन्तराष्ट्रीय संगठनों के अस्तित्व पर रहा है। उदारवादी इस बात से सहमत हैं कि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सहयोग और

राष्ट्रहितों की पूर्ति बल प्रयोग के बिना सहयोग के माध्यम से संभव है। अतः उन्होंने विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सहयोग और सामंजस्य को बढ़ने पर जोर दिया है। पारस्परिक निर्भरता, हितों में समानता ने अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था में परस्पर सहयोग की प्रवृति को बढ़ावा दिया है और साथ ही स्थायित्व पर भी जोर दिया है। जबकि यथार्थवादी सहयोग की जगह बल प्रयोग को विभिन्न राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का महत्वपूर्ण हथियार मानते है। यथार्थवादियों के अनुसार राष्ट्रों के मध्य सहयोग तभी संभव है जब कोई वर्चस्वशाली शक्ति मौजूद हो।

5. **तार्किकता,स्वतंत्रता,व्यक्तिवाद,न्याय और सहिष्णुता के मूल्यों पर जोर:**
उदावादी विचारक, व्यक्ति व साथ ही साथ उसके विकास हेतु प्राथमिक मूल्यों जैसे स्वतंत्रता,न्याय ,सहिष्णुता, तार्किकता पर जोर देते हैं। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि उदारवादियों के अध्ययन में व्यक्ति केंद्र बिंदु है। उदारवादी व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष जोर देते हैं। ख़ास तौर पर आर्थिक स्वतंत्रता जिसमे राज्य के हस्तक्षेप को पूर्णतः निषेध किया गया है।1 इसी के साथ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर इसका विश्वास है। वे तार्किकता को प्राथमिकता देते है।

4.5 अन्तराष्ट्रीय संबंधों का नव-उदारवादी सिद्धांत

सामान्यतः यह जानना आवश्यक है कि किन परिस्थितियों के कारण उदारवाद का स्थान नव-उदारवादी उपागम ने लिया? दोनों में मूल अंतर तथा समानताएं क्या हैं? वह क्या आवश्यकताएं रही जिनके कारण उदारवाद के पूर्व 'नव' शब्द का प्रयोग किया जाता है? इस भाग में हम इन प्रश्नों का जवाब तलाशने की कोशिश करेंगे।

अन्तराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में, नव-उदारवाद विचारधारा का यह मानना है कि एक देश का लक्ष्य दुसरे देशों से सापेक्ष लाभ के बजाय पूर्ण लाभ सुनिश्चित करना होता है, या होना चाहिए। नव-उदारवाद उदारवाद का संशोधित संस्करण है। नव-यथार्थवाद के साथ-साथ, नव-उदारवाद अन्तराष्ट्रीय संबंधों के दो सबसे प्रभावशाली समकालीन दृष्टिकोणों में से एक है- पिछले तीन दशकों से यही दो दृष्टिकोण अन्तराष्ट्रीय संबंधों के सबसे प्रभावी सिद्धांत रहे हैं। नव-उदारवादी मानव प्रगति तथा सहयोग के प्रति उदारवादियों की तुलना में कम आशावादी हैं। नई पीढ़ी के उदारवादियों में आशावादिता कम होने के कारण अनेक थे। जैसा कि जैचर एवं मैथ्यू का कहना है, " नव-उदारवादी यह नहीं चाहते की उन्हें युद्धों के मध्यांतर के अनेक उदारवादियों की भांति आदर्शवादी कहा जाए। 20 वी शताब्दी की अन्तराष्ट्रीय घटनाओं ने उमकी आशावादिता को संकोच में डाल दिया।

शैक्षणिक विश्व में, नव-उदारवाद का अर्थ नव-उदारवादी संस्थात्मकता से लिया जाता है या फिर अब उसे संस्थात्मक सिद्धांत भी कहा जाता है। नीतिगत विश्व में इसका अर्थ अलग लगाया जाता है। विदेश-नीति के सन्दर्भ में, नव-उदारवादी उपागम मुक्त व्यापर अथवा मुक्त बाज़ार को प्रोत्साहन देते हैं तथा साथ ही साथ वे पाश्चात्य लोकतान्त्रिक मूल्यों और उनकी संस्थाओं का प्रचार करते हैं। नव-उदारवाद का मुख्य प्रेरणास्रोत यह विश्वास है कि द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात स्थापित वित्तीय तथा कार्यात्मकवाद संस्थाएं समय की कसौटी पर खरी उतरी हैं।

नव-उदारवादी सिद्धांत उदारवादी उपागम को परिष्कृत करते हुए यह स्वीकारता है कि अन्तराष्ट्रीय संबंधों को बनाने हेतु 'राज्य' एक प्रमुख कर्ता है लेकिन साथ ही साथ वे गैर-राज्य कर्ता, अंतर्सरकारी संगठनों को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। शीतयुद्ध के दौरान विभिन्न राज्यों के मध्य अन्तराष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से सहयोग एवं अंतरनिर्भरता को बढता हुआ पाया गया अतः इसी कारण नव-उदारवाद को "नव-उदार संस्थावाद" भी कहा जाने लगा। नव-उदारवादी प्रमुख रोंप से विश्लेषण की इकाई "राज्यों" को मानते हैं और राज्यों का सरोकार आपसी लाभ से है, अतः वे उन संस्थाओं में रूचि दर्शाते हैं जिनसे सामूहिक लाभ अर्जित हो।

नव-उदारवादियों में उल्लेखनीय नाम हैं- स्टेफन गुस्ताव, रोनाल्ड रीगन, मार्ग्रेट थैचर तथा आलन ग्रीनस्पान,थॉमस एल. फ्रीडमैन। वैश्वीकरण नीतियों के विरोधी नव-उदारवाद के प्रखर आलोचक हैं क्यूंकि स्वतंत्र पूँजी बहाव की नीति के क्रियान्वयन से स्वतंत्र श्रम बहाव नहीं होता।

4.5.1 प्रमुख नव-उदारवादी उपागम

अन्तराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन की दृष्टि से प्रमुख नव-उदारवादी उपागम निम्नलिखित हैं:

1. **विश्व राज्य सिद्धांत या दृष्टिकोण**
2. **बहुलवादी सिद्धांत या दृष्टिकोण**
3. **भूमंडलीय अवधारणा**
4. **निवारकता सिद्धांत**
5. **निर्भरता और अंतरनिर्भरता सिद्धांत**
6. **कार्यात्मकतावाद का सिद्धांत.**

1. **विश्व राज्य सिद्धांत या दृष्टिकोण :**

वर्तमान में जिस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के मध्य अंतरनिर्भरता बदती जा रही है उसी प्रकार अन्ताख्रिया संगठनों का महत्व दिन प्रतिदिन बढता ही जा रहा है। अन्तराष्ट्रीय शांति, सुरक्षा, पारपरिक सहयोग और जन-कल्याणकारी कार्यों के लिए अन्तराष्ट्रीय संगठन की उपयोगिता एवं महत्व और अधिक बढता जा रहा है। राष्ट्रीयता के स्थान पर अंतराष्ट्रीयता की भावना की प्रगति, अन्तराष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकताओं तथा अन्तराष्ट्रीय संबंधों के परिपेक्ष्य में 'शक्ति' के स्थान पर अन्तराष्ट्रीय कानून, नैतिकता और रीति-रिवाजों पर बल के फलस्वरूप अन्तराष्ट्रीय संगठन का महत्व अन्तराष्ट्रीय संबंधो में बहुत बढ़ गया है। **क्लाड** के अनुसार, "**विश्व राज्य की सरकार ऐसी शक्तिशाली केन्द्रीय संस्था है जो अन्तराष्ट्रीय युद्धों को रोकने का कार्य सफलतापूर्वक कर सके"।**

निम्नलिखित कारणों से आज विश्व राज्य की आवश्यकता प्रकट होती है:

- विश्व राज्य के बिना स्थायीशांति की स्थापना संभव नहीं है.
- विश्व के आर्थिक विकास के लिए विश्व राज्य आवश्यक है.
- युद्धों को रोकने हेतु विश्व राज्य आवश्यक है.
- राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की विभीषिका से मानवता को बचाने का विकल्प भी विश्व राज्य ही है.

2. **बहुलवादी सिद्धांत या दृष्टिकोण:**

वर्तमान में अन्तराष्ट्रीय राजनीति के परिवेश एवं प्रकृति में क्रन्तिकारी परिवर्तन आ रहा है. पूर्व में अन्तराष्ट्रीय राजनीति 'राज्य' के इर्द-गिर्द ही घूमती थी; संप्रभु राज्य ही अन्तराष्ट्रीय राजनीति में प्रभावी कर्ता थे। **ओपेनहीम** के अनुसार, **"चूँकि अन्तराष्ट्रीय कानून राज्यों की सहमति पर आधारित है, अत: राज्य ही अन्तराष्ट्रीय कानून का मुख्य विषय है." फ्रेडरिक स्मिथ** के अनुसार**, " राज्य ही अन्तराष्ट्रीय व्यक्तित्व के धारक होते है।"** लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में बदलाव देखने को मिल रहा है अनेक शक्तिशाली **राज्येतर कर्ता** (गैर-राज्यीय कर्ता) भी अन्तराष्ट्रीय राजनीति में प्रभावी भूमिका निभा रहा है।

अंतराष्ट्रीय राजनीति के **"यथार्थवादी सिद्धांत"** के अनुसार अन्तराष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख पात्र **राज्य** होते हैं और इसके अंतर्गत राज्यों के बाह्य व्यवहार का अध्ययन किया जाता है जो कि शक्ति के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रहित की प्राप्ति हेतु कटिबद्ध रहते हैं। इसके विपरीत समकालीन युग में अन्तराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक अन्य लोकप्रिय दृष्टिकोण जिसे **"बहुलतावादी दृष्टिकोण"** भी कहते हैं, के अनुसार अन्तराष्ट्रीय राजनीति में वे सभी संगठन **कर्ता** की भूमिका अदा करते हैं जो संगठित होते हैं तथा अपने नीति लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किसी न किसी प्रकार जन-समर्थन पर आधारित होते हैं। बहुलवादी धारणा राज्य कर्ताओं के साथ साथ **गैर-सरकारी संगठनों, बहुराष्ट्रीय निगमों** तथा अंतराष्ट्रीय संगठनों को भी अंतराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के प्रभावी पात्र मानती है।

राज्येतर अथवा अन्तरा-राष्ट्रीय कर्ता: प्रकार एवं प्रकृति;

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही अंतराष्ट्रीय गैर सरकारी संगठनों की संख्या बढ़नी शुरू हो गयी थी. आज मोटे रूप से अग्रांकित प्रकार के गैर राज्यीय कर्ताअथवा अन्तरा-राष्ट्रीय संगठन विश्व राजनीति में सक्रिय हैं:

1. **बहुराष्ट्रीय निगम**
2. **गैर-सरकारी संगठन**
3. **अंतर-सरकारी संगठन**
4. **अंतराष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठन**
5. **धार्मिक संगठन**
6. **गुरिल्ला एवं आतंकवादी संगठन**

3. भूमंडलीय अवधारणा:

भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण राष्ट्रोंकी राजनीतिक सीमाओं के आर-पार आर्थिक लेनदेन की प्रक्रियाओं और उनके पबंधन का प्रवाह है। विश्व अर्थव्यवस्था में आया खुलापन, आपसी जुड़ाव और परस्पर निर्भाता के फैलाव को भूमंडलीकरण कहा जा सकता है। विश्व अर्थव्यवस्था में कई तरह की रुकावटें दूर होने से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के लिए रास्ता साफ़ हुआ है, व्यापार के क्षेत्र में खुलापन आया है और विदेशी निवेश के प्रति उदारता बड़ी है।

अनेक विचारक वर्तमान भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को 'ऊपर से थोपा गया भूमंडलीकारण' कहते हैं क्यूंकि इसका निर्माण शक्तिशाली राज्यों तथा बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा किया जा रहा है। भूमंडलीकरण ने कुछ ही लोगों, राष्ट्रों और प्रान्तों के लिए लाभ के ऐसे अवसर खोजे हैं जिनकी तीन दशक पहले कल्पना नहीं की जा सकती थी।

4. निवारकता सिद्धांत:

परमाणु युग में नए हथियारों के सर्वनाश करने की सामर्थ्य ने अन्तराष्ट्रीय राजनीति का स्वरुप लगभग बदल सा दिया है। नए आणविक शस्त्रों की सर्वनाशक क्षमता के कारण ही **मैक्स लर्नर** आज के युग को **अतिमारकता का युग** कहकर पुकारता है और उसने अपनि एक प्रसिद्ध कृति का नाम "द ऐज ऑफ़ ओवेरकिल" रखा था। विश्व राजनीति की यथार्थवादी प्रणाली का मुख्य केंद्र रहा है शक्ति और उसका बेहिचक प्रयोग । इस प्रणाली में शक्ति का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है और सभी राष्ट्र शक्ति हासिल करने और वृद्धि करने के लिए सदा उत्सुक रहते है। इस प्रकार यथार्थवादी विश्व राजनीति परंपरा से ही प्रतियोगितामूलक,शत्रुमूलक और शत्रुतामूलक होती है।

किन्तु समकालीन युग की अतिमारक सामर्थ्य से इस निर्णायक तत्त्व की भूमिका में आमूलचूल परिवर्तन आया है ।युद्ध को पहले की भांति आसानी से नहीं अपनाया जा सकता इसलिए अब हम यह नहीं कह सकते की युद्ध राष्ट्रीय नीति का साधन है।

5. निर्भरता और अंतर-निर्भरता सिद्धांत :

राष्ट्र-राज्यों के मध्य विधमान असमान अंतराष्ट्रीय संबंधों के आधार पर निर्भरता सिद्धांत अंतराष्ट्रीय राजनीति के उभरते स्वरुप के विश्लेषण का एक प्रयास है। निर्भरता सिद्धांत के समर्थक तीसरे विश्व के निर्धन और आर्थिक रूप से निर्भर देशों के विकास की निम्नस्तरीय स्थिति का अध्ययन उस सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में करते हैं जो कि इन देशों को विकसित एवं समृद्ध देशों के साथ जोडती हैं। अनेक विद्वान निम्नस्तर के अल्पविकसित देशों को "परिधियाँ" तथा विकसित देशों को "केंद्र" कहते हैं।

निर्भरता सिद्धांत के समर्थकों में आंद्रे गुंदर फ्रैंक, वाल्स्तीन, डोस सांतोस,संकल,फुतार्दो,स्तवन हेगन,यूजो फालेटो तथा फ्रांज फैनोन के नाम उल्लेखनीय हैं। वाल्स्तीन विश्व पूंजीवादी प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए केंद्र-परिधि प्रतिमान को रेखांकित करता है। वह पूंजीवादी देशों के आर्थिक विकास की व्यख्या कर्ता है तथा इससे उत्पन्न शोषण के स्वरुप का विश्लेषण करता है। उसके अनुसार हम विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में रहते हैं जो कि भौगौलिक रूप में विभाजित श्रम विभाजन है जिसकी तीन संरचनात्मक स्थितियां हैं- केंद्र, परिधि, तथा अर्ध-परिधि. अधिकांश निर्भरता सिद्धान्तकारों ने विकसित तथा अल्पविकसित देशों के संबंधों के रूप का विश्लेषण करने के लिए केंद्र परिधि मॉडल का प्रयोग किया है।

6. कार्यत्मक्तावाद का सिद्धांत:

अन्तराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में प्रयुक्त कार्यात्मकतावाद का सिद्धांत राज्यों में आपसी सहयोग,भाईचारा एवं शांति का परिवेश स्थापित करने के लिए अधिकतम सामाजिक-आर्थिक कल्याण के कार्यों को संपन्न करने पर जोर देता है। यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि राष्ट्र-राज्य व्यवस्था अब न केवल अपर्याप्त सिद्ध हो रही है अपितु मानवता की आवश्यकताओं को पूरा करने की स्थिति में भी नहीं है, राज्य की सर्वोपरिता, संकुचित राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय शक्ति,विचारधारा आदि पर ध्यान न देते हुए राज्यों के बीच कार्यात्मकता के आधार पर सहयोग बढ़ाना चाहिए, क्षेत्रीय एवं अंतराष्ट्रीय सहयोग के ऐसी संस्थाओं का गठन किया जाना चाहिए जो कि राज्यों के मध्य सामाजिक,आर्थिक, एवं सांस्कृतिक सहयोग एवं गतिविधियों को प्रोत्साहित करे।

4.6 सारांश

इस इकाई से यह स्पष्ट होता है कि सभी उदारवादी एक सी बात नहीं करते. उदारवाद के कई वर्ग हैं। उनमे से प्रत्येक का अपना दृष्टिकोण है। फिर भी उनकी कुछ समान धारणाएं हैं, जिनसे अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध में उदारवाद की सांझी पहचान उभरती है। उदाहरण के लिए, उदारवाद के सभी घटक यह मानते है कि मानव विवेक तथा विवेकशीलता की भूमिका अन्तराष्ट्रीय सहयोग सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण है। उनकी यही समान धारणा उदारवादियों तथा यथार्थवादियों में अंतर स्पष्ट करती है। यथार्थवादी कहते हैं कि संघर्ष समाधान का युद्ध एक अनिवार्य साधन है। इसके विपरीत, उदारवादी,बल प्रयोग के बिना अन्तराष्ट्रीय

सहयोग के माध्यम से संघर्ष निपटाए जाने की आशा व्यक्त करते हैं। उदारवादियों का विचार है कि समान हितों के आधार पर,बिना बल प्रयोग किये, राजनयिक उपायों से सहयोग संभव हो सकता है।

4.7 अभ्यास प्रश्न

1. **"मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है"** विचार दिया गया है:
   (A.यथार्थवाद **(B.** नव-यथार्थवाद **(C**. उदारवाद **(D.** नव-उदारवाद

2. कौन आज के युग को अतिमारकता का युग कहकर पुकारता है?
   (A.मैक्स लर्नर **(B.** डेविड रिकार्डो **(C.** ओपनहीम **(D.** जोसेफ नाई

3. जटिल अंतरनिर्भरता का सिद्धांत दिया गया:
   (A.मोर्गेंथाऊ **(B.** जॉन ब्राइट **(C.** कोहेन और नाई **(D.** फुकुयामा

4. कुछ विद्वान निम्न स्तर के अल्प-विकसित देशों को कहते है-
   (A. केंद्र **(B.** परिधि **(C.** अर्ध-परिधि **(D.** अर्ध-केंद्र

4.8 शब्दावली

1. **उच्च राजनीति:** संकुचित आयाम विभिन्न राज्यों के मध्य सैन्य और राजनयिक सम्बन्ध, सुरक्षा, अस्तित्व।
2. **निम्न राजनीति:** कल्याण, पर्यावरण संरक्षण, राजनीतिक न्याय जैसे विभिन्न एजेंडों को शामिल कर अन्तराष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र को व्यापक किया गया.

4.9. अभ्यास प्रश्न के उत्तर

2. (C) 2. (A) 3. (C) 4. (B)

4.10. सन्दर्भ-सूची

1. Heywood; Andrew 2011, "Global Politics", Palgrave Macmillan, Hampshire England.
2. Baylis John; Steve Smith 2004, "The Globalization of World Politics An Introduction to International Relations", Oxford University Press.
3. फडिया, बी.एल., 2010 "अन्तराष्ट्रीय राजनीति:सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे", साहित्य भवन पब्लिकेशन,इलाहबाद.

4. घई,यू.आर., 2007 "अन्तराष्ट्रीय राजनीति सिद्धांत एवं व्यवहार", न्यू अकेडमिक पब्लिशिंग कंपनी,जालंधर.

4.11. निबंधात्मक प्रश्न

1. उदारवाद की अन्तर्निहित पूर्वमान्यताओं की पहचान कीजिये. यह भी स्पष्ट कीजिए कि यथार्थवादी तथा उदारवादी विचारों में मूल अंतर क्या है?

2. उदारवाद की विषय-वस्तु के साथ उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

3. नव-उदारवादी तथा परंपरागत उदारवादी विचारकों में क्या अंतर है? क्या नव-उदारवादी विश्व राजनीति का परंपरागत उदारवादियों से पूरी तरह पृथक चित्रण करते हैं?

4. प्रमुख नव-उदारवादी उपागम की विस्तृत से व्याख्या करें।

इकाई 5 अंतराष्ट्रीय संबंधों का समाजवादी उपागम

5.1. प्रस्तावना

5.2. उद्देश्य

5.3. अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समाजवादी उपागम

5.4. मार्क्सवादी सिद्धांत की प्रमुख विषय-वस्तु

5.5. मार्क्सवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक एवं शास्त्रीय दृष्टिकोण

5.6. वालरस्टीन का विश्व प्रणाली सिद्धांत

5.7. अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में हालिया प्रवृत्ति –ऐतिहासिक समाजशास्त्र

5.8.निष्कर्ष

5.9. अभ्यास प्रश्न

5.10.शब्दावली

5.11 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

5.12 सन्दर्भ-सूची

5.13 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

समाजवादी दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समग्र दृष्टि से सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सन्दर्भ में समझने के प्रयास पर बल देता है। इसमें अंतरशास्त्रीय अध्ययन दृष्टिकोण निहित है। इस उपागम के अनुसार सामाजिक विज्ञानों को स्वायत्त अनुशासन के रूप में रखने से महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न , मुद्दे और घटनाएं राजनीति , अर्थशास्त्र , समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के पृथक- पृथक शैक्षणिक स्कूलों के बीच विभक्त होकर रह जाते हैं। इससे समस्यायों के समाधान नहीं होते और समस्याएं शैक्षणिक विवादों में फंसकर रह जाती हैं। इसलिए यह सम्पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था को इकाई या सन्दर्भ मानकर उसकी प्रक्रियात्मक अभिव्यक्तियों को समझने का प्रयास करते हैं। यह जंगल में लगी आग पर ध्यान केन्द्रित करने की बात करता है। एक-एक पेड़ की बीमारी की चिंता नहीं करता ।

मार्क्सवादी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को वैश्विक स्तर पर वर्ग संघर्ष के प्रतिरूप में देखते हैं। इसमें पूंजीवादी देश निर्धन देशों का शोषण करते हैं और अपने न्यस्त राष्ट्रिय हितो की सुरक्षा के लिए युद्धों तथा विस्तारवाद की नीति अपनाते हैं। इस समस्या के समाधान के लिए दुनिया के सभी मजदूर , जिनका कोई देश नहीं होता और जो केवल अपने वर्ग से सम्बंधित होते हैं , संगठित हों और पूंजीवाद तथा उससे सम्बंधित सभी बुराइयों को उखाड़ फेंकें। इस दृष्टिकोण का तात्कालिक उद्देश्य है पूंजीवाद का अंत और अंतिम उद्देश्य है अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक साम्यवादी समुदाय का निर्माण करना जिसमे पूंजीवादी व्यवस्था की बुराइयां – शोषण , आर्थिक विषमता, विस्तारवाद और युद्ध न हों।

5.2. उद्देश्य

1. **अन्तराष्ट्रीय सम्बन्ध के समाजवादी उपागम के सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन करना ।**
2. **समाजवादी उपागम से प्रेरणाप्राप्त वैश्विक रूप से स्थापित विमर्शों का अध्ययन करना।**

5.3 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समाजवादी उपागम

मार्क्सवादी दृष्टिकोण का पूरक लेनिनवाद है। जिसे अधिकांश समाजवादी विचारधारा के समर्थक विद्वानों का समर्थन प्राप्त है। 1919 में रूस में घटित समाजवादी क्रांति के बाद इस विचारधारा की लोकप्रियता बढ़ी और बुर्जुआ एवं मजदूरों का वर्ग संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अंतर्राष्ट्रीय राजीनीति को भी प्रभावित करने लगा।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति मार्क्सवादी विचार उसके राष्ट्रीय राजनीति के प्रति विचारों से निःसृत हैं। जिस प्रकार प्रत्येक राज्य के अन्दर अमीर और गरीब दो वर्गों के बीच संघर्ष चलता रहता है उसी तरह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में पूँजीवादी राज्यों तथा पूंजीवादी व्यवस्था द्वारा शोषित गरीब और पिछड़े हुए राज्यों में संघर्ष चलता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विस्तारवाद और युद्ध के द्वारा अमीर राज्य गरीब राज्यों का शोषण करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार दुनिया में समाजवाद की स्थापना के वाद शोषण का अंत होगा। आन्तरिक शोषकों के विरोध में मजदूर संघर्ष राज्यों में समाजवाद लायेंगे और आगे चलकर समस्त राज्यों की समाजवादी शक्तियां एकजुट होकर विश्वस्तरीय पूंजीवाद को उखाड़ फेंकेंगी।

5.4 मार्क्सवादी सिद्धांत की प्रमुख विषय-वस्तु

मार्क्स के अनुसार विश्व एक भौतिक जगत है। इसमें घटनायें तथा वस्तुएं एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। चूंकि भौतिक जगत में परिवर्तन निरंतर होते रहते हैं अतः सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहते हैं।। इन परिवर्तनों का कारण भौतिक परिस्थितियां हैं और भौतिक परिस्थितियों से मार्क्स का अभिप्राय आर्थिक संबंधों से है।

मार्क्स वर्ग संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का माध्यम मानता है। 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' के रचयिताओं ने यह सिद्धांत साफ़ –साफ़ निरुपित किया कि वर्ग आधारित विग्रहपूर्ण समाजों में विकास की प्रेरक शक्ति वर्ग संघर्ष ही होता है। "अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है। पूंजीवादी युग में दो वर्ग होते हैं : पूंजीपति या बुर्जुआ तथा श्रमजीवी या सर्वहारा। पूंजीवादी समाज का सबसे उत्पीड़ित वर्ग होने के साथ –साथ सर्वहारा सर्वाधिक क्रांतिकारी वर्ग भी होता है। मजदूर वर्ग का संघर्ष क्रांति का रूप ले लेता है जिसमें सर्वहारा वर्ग बुर्जुआजी को सत्ताच्युत कर अपना प्रभुत्व स्थापित करेगा।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय समाज भी अमीर और गरीब अर्थात विकसित और विकासशील राज्यों में विभाजित है। अमीर देश वे हैं जो विकसित और शक्तिशाली हैं तथा जिनका आर्थिक शक्ति पर एकाधिकार है। इसके विपरीत गरीब देश वे हैं जो पिछड़े हुए , अविकसित और जो बुर्जुआ राज्यों द्वारा शोषित किए जाते हैं।

पूंजीवादी देश आपसी कलह और संघर्ष में लगे रहते हैं , लेकिन गरीब तथा विकासशील देशों पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए एकजुट हो जाते हैं। आर्थिक शक्ति की सर्वोपरिता का तर्कसंगत परिणाम आर्थिक शक्तियुक्त वर्ग का प्रभुत्व की अवस्था में होना है। यह राजनीतिक शक्ति की गौणता का सूचक है।

अतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी सिद्धांत पर विचार किया जाता है तो निम्नांकित चार अन्तःसम्बंधित अवधारणाओं पर बल दिया जाता है:

(1) **सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयवाद** – अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मार्क्सवादी सिद्धांत सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद पर आधारित है , जो स्वयं विश्वस्तर पर श्रमिकों की एकजुटता के सिद्धांत पर जोर देती है। यह बुर्जुआ राष्ट्रवाद का विरोध करने एवं अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद की स्थापना पर जोर देता है। सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद दुनिया के मजदूरों के सामूहिक हित पर जोर देता है उसके अनुसार मजदूरों का अपना कोई देश नहीं होता ; सर्वहारा की मुक्ति के लिए संगठित कार्यवाही अपेक्षित है तथा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति द्वारा शोषण जब ख़त्म हो जायेगा तब उसी अनुपात में एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण भी ख़त्म हो जायेगा।

(2) **राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार** – मार्क्सवादी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार उपनिवेशवाद समाप्त होना चाहिए और दुनिया के सभी देशों को अपनी राजनितिक व्यवस्था निर्धारित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(3) **शांतिपूर्ण सहअस्तित्व** – मार्क्सवादी शांतिपूर्ण सहस्तित्व पर जोर देते हैं। उनके अनुसार सभी राष्ट्र राज्यों को किसी देश की सामाजिक , राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की आलोचना किए बिना शांतिपूर्ण ढंग से रहना चाहिए।

(4) **साम्राज्यवाद सम्बन्धी मार्क्सवादी अवधारणा** – साम्राज्यवाद सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धांत इस बौद्धिक विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक राजनीतिक घटना आर्थिक तथ्यों का दर्पण मात्र है , जो कि वास्तव में मार्क्सवादी विचारधारा का आधार ही है। साम्राज्यवाद रुपी राजनीतिक घटना उस आर्थिक व्यवस्था की उपज है जिसे पूंजीवाद कहते हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार पूंजीवादी समाज अपनी परिधि के भीतर अपनी उपज के अनुपात में व्यवसाय का पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त नहीं कर पाता तथा अपनी पूँजी को फिर उद्योग में लाने का अवसर नहीं दे पाता। इसी कारण उनमें गैर पूंजीवादी तथा अंत में पूंजीवादी क्षेत्रों में दासता की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। इससे उन्हें अपनी अतिरिक्त उपज की खपत के लिए पूंजीवादी देशों को भी अपना बाजार बनाना पड़ता है। इससे उन्हें अपनी स्वयं की अतिरिक्त पूँजी को नए उद्योग धंधों में लगाने का अवसर प्राप्त होता है।

काटस्की अथवा हिल्फर्डिंग जैसे उदारवादी मार्क्सवादी साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की एक अंतिम नीति मानते हैं। जबकि लेनिन तथा उसके अनुयायी , खासतौर पर बुखारिन पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को ही एक घटना के दो रूप मानते हैं। लेनिन के मतानुसार , " साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम विकसित और अंतिम दशा है"।

उसका यह कहना है कि पूंजीवाद का अधिकाधिक विकास होने पर क्रमशः एक दूसरे के बाद आने वाली तथा कार्यकरण का सम्बन्ध रखने वाली पञ्च दशाओं में से गुजरते हुए पूंजीवाद साम्राज्यवाद का रूप धारण करता है। पूंजीवाद का विकास होने पर इसमें केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है। विभिन्न उद्योगों के बड़े –बड़े संगठन , ट्रस्ट , मूल्य निर्धारक संघ (cartle) बनने लगते हैं। सारे उद्योग मुट्ठी भर पूंजीपतियों के हाथों में आते हैं। पहले विभिन्न उद्योगों पर पूंजीपतियों का एकाधिकार स्थापित हो जाता है। यही स्थिति वित्तीय क्षेत्र में आती है। बैंकों पर भी उद्योगपति नियंत्रण स्थापित करते हैं। पूंजीपति अपने देश में पूँजी लगाने और उद्योग बढ़ाने से संतुष्ट न होकर दुसरे देशों में भी कम पूँजी लगाकर उद्योग स्थापित करने लगते हैं। इस प्रकार पूंजीपति न केवल अपने माल का , अपितु पूँजी का भी अन्य देशों से भी निर्यात करने लगते हैं। इसके तीन बड़े परिणाम हो सकते हैं – **पहला** परिणाम साम्राज्यवाद का विकास है। पूंजीपति अपने देश से बाहर अन्य जिन देशों में अपनी पूँजी लगाते हैं ,वहां मुनाफा सुरक्षित रखने के लिए कच्चा माल पाने और अपने तैयार माल की खपत के लिए वे इस बात का पूरा ख्याल रखते हैं की वे देश उपनिवेश या वशवर्ती प्रदेश बनकर उनके राजनीतिक प्रभुत्व में आ जाएँ। उनके साम्राज्य का अंग बने रहें ताकि वे उपनिवेशवासियों का शोषण करके अधिकतम लाभ उठा सकें। अंग्रेजों ने भारत में ऐसा ही किया था। **दूसरा** परिणाम इस साम्राज्यवाद से युद्ध का पैदा होना है। दूसरे देशों में पूँजी लगाने से पूंजीवादी देशों में साम्राज्य एवं उपनिवेश पाने की प्रबल होड़ हो जाती है। इस होड़ के कारण विभिन्न देशों में गुटबंदियां होने लगाती हैं। विभिन्न आदेश अपने माल के लिए मंडियां सुरक्षित रखने और उपनिवेश रखने के लिए युद्ध आरंभ कर देते हैं। **तीसरा** परिणाम पूंजीवाद के विध्वंस तथा साम्यवादी पथ का प्रशस्त होना है , क्योकि इस प्रकार के युद्ध एक महान अंतर्विरोध (contradiction) पैदा करते हैं। पूंजीपति अपने स्वार्थों के लिए लड़े जाने वाले इन युद्धों में मजदूरों को बलि का बकरा बनाते हैं किन्तु मजदूर जल्द ही समझ जाते हैं कि उनका असली शत्रु विदेशी शक्तियां नहीं अपितु अपने देश के पूँजीपति हैं। अतः वे इनके विरुद्ध विद्रोह करते हुए पूंजीवाद का विध्वंस तथा साम्यवाद की स्थापना करते हैं। 1951 में रूस की बोल्शेविक क्रांति में ऐसा ही हुआ था।

5.5 मार्क्सवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक एवं शास्त्रीय दृष्टिकोण

मार्क्सवाद आलोचनात्मक एवं शास्त्रीय दोनों दृष्टिकोणों के माध्यम से अपना पक्ष रखता है। आलोचनात्मक दृष्टिकोण में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की मुख्यधारा के नीति संचालन पर प्रश्न उठाया जाता है दूसरी तरफ दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय परंपरा के माध्यम से मार्क्सवाद का शास्त्रीय दृष्टिकोण विकसित हुआ है। वास्तव में मार्क्सवाद अंतर्राष्ट्रीय संबंध से सम्बंधित एकमात्र ऐसा परिप्रेक्ष्य है जिसका नाम किसी व्यक्ति के नाम पर रखा गया है। अंतर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन से सम्बंधित ज्ञात समस्त महान विचारकों की श्रेणी में मार्क्स स्वाभाविक रूप से सबसे अधिक अंतर्राष्ट्रीयवादी होने के योग्य नहीं हो सकते। वास्तव में कार्ल मार्क्स एवं कभी-कभी उनके सह-लेखक रहे फ्रेडरिक एंगेल्स के कार्य राज्यों के गठन एवं उनके बीच होने वाली बातचीत से सम्बंधित नहीं थे। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उपजे हितों के टकराव ने मार्क्स को प्रभावित किया एवं उससे प्रभावित होने वाले वर्ग की अनदेखी ने उन्हें एंगेल्स के साथ मिलकर क्रांतिकारी दृष्टिकोण विकसित करने को विवश किया। एंगेल्स के साथ मिलकर उन्होंने अवधारणाओं के एक समूह की रूप रेखा तैयार की जिसके माध्यम से राष्ट्रीय मतभेदों को पार

करते हुए लोगों को एक अंतर्राष्ट्रीय आन्दोलन का निर्माण करने के बारे में एक व्यावहारिक सलाह भी प्रदान की। दुनिया भर के कारखानों के श्रमिक - सर्वहारा को पूंजीवाद के शोषणकारी और असमान प्रभावों का मुकाबला करने के लिए एक राजनीतिक रूप से क्रांतिकारी आंदोलन में संगठित होना था, जो औद्योगिक क्रांति द्वारा त्वरित और विस्तारित किया गया था। सर्वहारा वर्ग के रूप में अधिकांश मानवता के बीच इस संभावित गठजोड़ ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय क्षेत्र में मार्क्सवाद को एक विशेष आयाम से प्रवेश लेने की सहूलियत प्रदान की। सभी मार्क्सवादी अवधारणाएं मानव जाति और उसके पर्यावरण के प्रति बेहतर योगदान करने के सामान्य लक्ष्य से जुड़ी हुई हैं।

मार्क्सवाद को समझने के लिए हमें पूंजीवाद की उत्पत्ति और कार्यप्रणाली के संबंध में मार्क्स के नवाचारों के बुनियादी तत्वों को समझने की जरूरत है। इसके अलावा, हमें यह समझना चाहिए कि घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वे उत्पत्ति और कार्य एक साथ हो सकते हैं। इन कार्यों के संयोजन से मार्क्सवाद अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के विषय क्षेत्र को सबसे महत्वपूर्ण योगदान देता है: उत्पादन का पूंजीवादी तरीका और आधुनिक संप्रभु राज्य प्रणाली (जो लगभग एक ही समय में उभरी) प्राकृतिक या अपरिहार्य घटनाएं नहीं हैं। वे विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों और सामाजिक संबंधों के अन्योन्याश्रित उत्पाद हैं। मार्क्सवादियों का काम उन स्थितियों और सामाजिक संबंधों का नक्शा बनाना और उन्हें फिर से तैयार करना है और यह पता लगाना है कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली और संप्रभु राज्य प्रणाली एक ही सिक्के के दो पहलू के रूप में कैसे उभरी ?

इन दो प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं के बीच अन्योन्याश्रयता की कोटि (स्तर) पर बहस जारी हो सकती है, लेकिन अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध में मार्क्सवाद की उपलब्धि हमें उत्पादन का पूंजीवादी तरीका और आधुनिक संप्रभु राज्य प्रणाली के बारे में पृथक रूप से सोचने से रोकना है। मार्क्सवाद यह भी सलाह देता है कि अवधारणाएँ केवल दुनिया को समझने में हमारी मदद करने के लिए नहीं हैं बल्कि उन्हें इसे बदलने में भी हमारी मदद करनी चाहिए।

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में मार्क्सवाद की व्याख्या करने के लिए, हमें पूंजीवाद के विकास के लिए मार्क्स के मुख्य सिद्धांत: ऐतिहासिक भौतिकवाद से शुरुआत करनी होगी। सबसे सरल रूप से, ऐतिहासिक भौतिकवाद इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य - एक दूसरे के साथ उनके संबंधों और उनके पर्यावरण सहित - उन भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित होते हैं जिनमें वे जीवित रह सकते हैं और पुनरुत्पादन कर सकते हैं। इसलिए, मार्क्सवाद इस बात पर जोर देता है कि भौतिक परिस्थितियों को मनुष्यों के कार्यों के साथ-साथ घटनाओं से भी बदला जा सकता है - उदाहरण के लिए जलवायु परिवर्तन के बारे में सोचें, जो भौतिक घटनाओं के साथ-साथ मानव व्यवहार पर भी निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, ये भौतिक स्थितियां ऐतिहासिक हैं, ये स्थान और समय के साथ बदलती रहती हैं। लेकिन वे हमेशा उन प्रक्रियाओं और विचारों पर भी निर्भर होते हैं - और अक्सर बाधित होते हैं - जो उनके पहले थे, क्योंकि अतीत का भार वर्तमान पर होता है।

मार्क्सवाद इस बात पर जोर देता है कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में केवल राज्यों की विदेश नीति या राजनेताओं के व्यवहार के बारे में नहीं है, बल्कि अस्तित्व (या अधिक व्यापक रूप से, जीवन), प्रजनन, प्रौद्योगिकियों और श्रम के बारे में अधिक है। यदि यह सही है तो राजनीतिक और आर्थिक, या सार्वजनिक और निजी के बीच लगाव समस्याग्रस्त है क्योंकि वे श्रेणियां उन तरीकों को छुपाती हैं जिनमें राज्य और विदेश नीतियां वैश्विक अर्थव्यवस्था के सामाजिक संबंधों और संरचनाओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं - जैसे बहुराष्ट्रीय निगम या अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थान। दूसरे शब्दों में, मार्क्सवाद मौलिक रूप से सवाल करता है कि अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध में 'अंतर्राष्ट्रीय' क्या

है ? यह अंग्रेजी स्कूल के लिए अंतर्राष्ट्रीय समाज हो सकता है या यथार्थवादियों के लिए अराजकता हो सकता है , इसलिए मार्क्सवादियों का तर्क है कि ऐसी अवधारणाएँ समस्याग्रस्त हैं क्योंकि वे हमें दुनिया के बारे में भ्रम या मिथकों में विश्वास दिलाती हैं। उदाहरण के लिए, अराजकता की अवधारणा मृगतृष्णा पैदा करती है कि राज्य स्वायत्त एजेंट हैं जिनके तर्कसंगत व्यवहार की भविष्यवाणी की जा सकती है। हालांकि, यह क्षेत्रीय असमानताओं के धीरज और राज्यों, हिंसा और वैश्विक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के प्रमुख अभिनेताओं के बीच संरचनात्मक और ऐतिहासिक संबंधों की उपेक्षा करता है।

अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं की व्याख्या करने के लिए मार्क्सवादी विचारों का पहला प्रयोग बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दौर के कम्युनिस्टों और क्रांतिकारियों जैसे रोजा लक्जमबर्ग, रुडोल्फ हिल्फर्डिंग और व्लादिमीर लेनिन द्वारा किया गया था। इन लेखकों ने जो सिद्धांत विकसित किया उसे अब हम साम्राज्यवाद के शास्त्रीय सिद्धांत कहते हैं, यह समझने के लिए कि कैसे पूंजीवाद का विस्तार हुआ और उसे अंतर-साम्राज्यीय प्रतिद्वंद्विता की दुनिया के लिए अनुकूलित किया गया जिससे प्रथम विश्व युद्ध और यूरोपीय साम्राज्यों का धीमा विघटन हुआ।

5.6. वालरस्टीन का विश्व प्रणाली सिद्धांत

1954 में, इम्मानुएल वालरस्टीन ने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के परिवर्तनों को शामिल करने के लिए 'विश्व प्रणाली सिद्धांत' विकसित किया और साम्राज्यवाद को राज्य के नेतृत्व वाली प्रक्रिया के रूप में समझने के लिए पारंपरिक दृष्टिकोणों का मुकाबला किया। वालरस्टीन के दृष्टिकोण ने विश्लेषण की विभिन्न इकाइयों का इस्तेमाल किया और राज्यों के इतिहास और उनकी बातचीत के बारे में बहुत लंबी अवधि के दृष्टिकोण को अपनाया। उन्होंने राज्यों या क्षेत्रों के तीन समूहों को प्रतिष्ठित किया: कोर, अर्ध-परिधि और परिधि। इसका उद्देश्य यह समझना था कि सोलहवीं शताब्दी के बाद से राज्यों का एक-दूसरे के संबंध में विकास कैसे हुआ है, जिससे राज्यों के विभिन्न समूहों के बीच निर्भरता के संबंध विशिष्ट प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं और उद्योगों के आधार पर बनते हैं, जिनमें वे विशेषज्ञता रखते हैं।

इसलिए, निर्भरता और समूहों के इन संबंधों के लिए आवश्यक है कि हम राज्यों की तुलना में व्यापक इकाइयों के माध्यम से दुनिया को समझें। इन इकाइयों - या विश्व प्रणालियों - ने इस दुविधा को दूर करने में मदद की कि क्यों सभी राज्य पूंजीवादी बन गए, यद्यपि बहुत ही असमान और अलग-अलग तरीकों से। राज्यों का मुख्य समूह (जैसे पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में) लोकतांत्रिक सरकारों को उच्च मजदूरी प्रदान करने और उच्च स्तर के निवेश और कल्याण सेवाओं को प्रोत्साहित करने के लिए संदर्भित करता है। अर्ध-परिधि राज्य (जैसे लैटिन अमेरिका में) सत्तावादी सरकारें हैं जो अपने नागरिकों के लिए कम वेतन और खराब कल्याणकारी सेवाएं प्रदान करती हैं। परिधीय राज्य (जैसे उप-सहारा और मध्य अफ्रीका, दक्षिण एशिया) गैर-लोकतांत्रिक सरकारों को संदर्भित करते हैं जहां श्रमिक ज्यादातर निर्वाह स्तर से नीचे मजदूरी की उम्मीद कर सकते हैं और जहां कोई कल्याणकारी सेवाएं नहीं हैं।

कोर (केंद्र) स्वयं के साथ-साथ अर्ध-परिधि और परिधि बाजारों के लिए उच्च-लाभ उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करने में सक्षम है क्योंकि परिधि इन उच्च-लाभ उपभोग वस्तुओं को बनाने के लिए आवश्यक कोर (केंद्र) और अर्ध-परिधि को सस्ता श्रम और कच्चा माल प्रदान करती है। हालांकि ऐतिहासिक रूप से कुछ राज्यों ने अपने समूह को बदल दिया है (उदाहरण के लिए परिधि से अर्ध-परिधि में), पूंजीवाद को हमेशा एक परिधीय क्षेत्र की आवश्यकता होती है जो उच्च स्तर की खपत और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए कोर (केंद्र) के लिए साधन प्रदान करता है। इस

प्रकार, निर्भरता और असमानता के संबंध पूंजीवाद के लिए आवश्यक हैं और इन्हें महत्वपूर्ण रूप से कम नहीं किया जा सकता है।

साम्राज्यवाद के शास्त्रीय सिद्धांतों की एक और प्रभावशाली अद्यतन मार्क्सवादी नव-ग्रामशियन धारा है। एंटोनियो ग्राम्स्की (1891-1935) की आधिपत्य की अवधारणा को कुछ लोग आज साम्राज्यवाद की अवधारणा की तुलना में अधिक उपयोगी मानते हैं। यह दो बातों पर जोर देता है। सबसे पहले, अन्य समूहों पर व्यक्तियों के कुछ समूहों (या राज्यों के समूहों) का वर्चस्व भी वैचारिक कारकों पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, पूंजीवाद को ऐतिहासिक रूप से और दुनिया भर में अलग-अलग तरीकों से अनुभव किया जाता है क्योंकि लोग इसे समझते हैं - और इसलिए अलग-अलग तरीकों से इससे सहमत या विरोध करते हैं। दूसरा, निर्भरता के संबंध और उन संबंधों को समझने के लिए उपयोग किए जाने वाले समूहों (या इकाइयों) के प्रकार विश्व प्रणाली सिद्धांत की तुलना में अधिक विविध और तरल हैं। इसलिए, पूंजीवाद हमारे सामाजिक संबंधों पर हावी है क्योंकि यह जबरदस्ती और सहमति के माध्यम से पुन: उत्पन्न होता है। इस अवधारणा का उपयोग यह समझाने के लिए किया गया था कि पश्चिमी यूरोप में शिक्षित और संगठित श्रमिक 'अपनी जंजीरों को खोने' के लिए 'एकजुट' क्यों नहीं हुए, जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने भविष्यवाणी की थी। आधिपत्य की एक नव-ग्रामीशियन अवधारणा सहमति के तरीकों पर केंद्रित है जिसमें अंतरराष्ट्रीय वर्ग, संगठन और अंतर्राष्ट्रीय कानून पूंजीवाद और इसकी असमानताओं को पुन: पेश करते हैं। अंतरराष्ट्रीय पूंजीवादी वर्ग - महान शक्तियों का प्रभुत्व - एक 'वैश्विक नागरिक समाज' बनाता है जो शास्त्रीय साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की अधिक जबरदस्त प्रक्रियाओं के माध्यम से खुद को थोपने के बजाय उदार आदर्शों को सार्वभौमिक बनाता है, जैसा कि पहले के समय में होता था।

उदाहरण के लिए, सिंगापुर, हांगकांग, दक्षिण कोरिया और ताइवान को उनके तीव्र औद्योगीकरण और 1960 से 1990 के दशक तक उच्च विकास दर के कारण चार एशियाई बाघों के रूप में जाना जाता था। इन देशों में, एक मजबूत शासक अभिजात वर्ग ने एक विशिष्ट प्रकार की वित्तीय अर्थव्यवस्था के लिए सहमति व्यक्त की - जिसे अक्सर 'नवउदारवादी' मॉडल कहा जाता है - जिसने दुनिया भर में अलग-अलग डिग्री (स्तर) तक पकड़ बना ली क्योंकि अन्य राज्यों ने इस 'सफलता' का अनुकरण करने की मांग की। हालाँकि, विश्व स्तर पर नवउदारवाद के प्रभुत्व के बावजूद कई समाजों में भारी असमानताएँ और मानवाधिकारों का उल्लंघन बढ़ रहा है। इससे पता चलता है कि यद्यपि नवउदारवादी आधिपत्य उस सफलता का उत्पादन करने से बहुत दूर है, जिसका मूल रूप से अनुमान लगाया गया था, यह कथित सफलता पूंजीवाद के मुख्य चालकों में से एक बनी हुई है क्योंकि यह लोगों को बल के खतरे के बिना पूंजीवाद के लिए सहमति देने के लिए आश्वस्त करती है।

5.7 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में हालिया प्रवृत्ति –ऐतिहासिक समाजशास्त्र

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में मार्क्सवाद की एक और हालिया प्रवृत्ति - ऐतिहासिक समाजशास्त्र - अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की कुछ अधिक शास्त्रीय समस्याओं की ओर लौटती है। विशेष रूप से, यह आधुनिक राज्य प्रणाली के विकास को पूंजीवाद में संक्रमण और औपनिवेशिक और शाही विस्तार के विभिन्न क्षणों के संबंध में देखता है। यह यूरोप के अंदर लेकिन यूरोप के बाहर भी क्या हुआ, इसे और अधिक बारीकी से देखता है। अधिक विशेष रूप से, यह 1648 में वेस्टफेलिया की संधियों के बाद संप्रभु राज्य प्रणाली के जन्म का विरोध करता है और इसके बजाय उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संबंधों में महत्वपूर्ण बदलावों को परिभाषित करने के लिए अधिक सामाजिक-

आर्थिक प्रक्रियाओं पर ध्यान केंद्रित करता है। यह इस बात को रेखांकित करता है कि कैसे मार्क्सवाद और आईआर के व्यापक अनुशासन में पाए जाने वाले यूरोकेन्द्रिक मान्यताओं को संबोधित करने के लिए विद्वान यूरोप से परे इतिहास पर जोर दे रहे हैं।

संक्षेप में, अन्योन्याश्रितता मार्क्सवाद की विशेषता है। इसके लिए मार्क्सवादी शब्द द्वंद्वात्मकता है, जो इस अध्याय में खोजी गई पिछली सभी अवधारणाओं को एक-दूसरे से संबंधित करने के तरीके को रेखांकित करता है। मार्क्सवाद के लिए, सभी अवधारणाएं सामाजिक संबंधों को दर्शाती हैं, लेकिन श्रेणियां स्वयं का जीवन लेती हैं और अक्सर उन सामाजिक संबंधों को छुपाती हैं। इस अवधारणा को अधिक जटिल या दुरुपयोग करना आसान है। हालाँकि, यह दुनिया को उसके अलग-अलग हिस्सों के बजाय समग्र रूप से समझने के लिए एक महत्वपूर्ण प्रारंभिक बिंदु है, क्योंकि 'द्वंद्वात्मकता सोचने का एक तरीका है जो दुनिया में होने वाले परिवर्तनों और अंतःक्रियाओं की पूरी श्रृंखला पर ध्यान केंद्रित करता है'।

5.8 निष्कर्ष

सिद्धांतों और ज्ञान की भूमिका आम तौर पर यह प्रकट करना है कि वास्तविक क्या है और भ्रम क्या है? ऐतिहासिक भौतिकवाद - वह सिद्धांत जो मार्क्सवाद को संचालित करता है - इस सलाह को अंतरराष्ट्रीय संबंधों की समझ के आधार पर लागू करने की कोशिश करता है जिसमें लोगों ने भूमि को बदल दिया है, उस पर चीजों का उत्पादन किया है और अंततः राजनीतिक संस्थानों को आकार देने के लिए इसके संसाधनों पर निर्भर हैं जैसे कि राज्य और अंतर्राष्ट्रीय संगठन। मार्क्सवाद ने आईआर के अनुशासन के विकास में आंतरिक रूप से उन तरीकों से संबंधित होने के कारण कई घुसपैठ की है जिसमें लोग - और समूह - सीमाओं के पार चीजों को बातचीत और उत्पादन करते हैं, साथ ही साथ उत्पादन के प्रबंधन और प्रतिस्पर्धा के लिए संस्थानों के माध्यम से खुद को कैसे व्यवस्थित करते हैं और दुनिया भर में चीजों का वितरण अधिक विशेष रूप से, यह तर्क देता है कि आधुनिक सीमाओं का निर्माण पूंजीवाद के विकास द्वारा निर्धारित या विभिन्न तरीकों से जुड़ा हुआ है।

5.9 अभ्यास प्रश्न

1. निम्नलिखित देशों में से कौन सा देश एशियाई बाघ माने जाने जाने वाले देशों के समूह में नहीं है :

   (Aसिंगापुर **(B.** हांगकांग **(C**. दक्षिण कोरिया **(D.** पाकिस्तान

2. रूस में बोल्शेविक क्रांति कब हुई थी ?

   (A 1828 **(B.** 1915 **(C.** 1934 **(D.** 1869

3. अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं की व्याख्या करने के लिए मार्क्सवादी विचारों का पहला प्रयोग शुरू हुआ :

   (A.बीसवी शताब्दी का शुरुआती दौर **(B.** 18वीं शताब्दी **(C.** 15वीं शताब्दी **(D.** 21वीं शताब्दी

4. बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के परिवर्तनों को शामिल करने के लिए विश्व प्रणाली सिद्धांत किसने विकसित किया ?

(A.मार्क्स **(B.** ट्राटस्की **(C.** वालरस्टीन **(D.** होर्खाइमार

5.10 शब्दावली

अन्योन्याश्रयता -. एक दूसरे पर आश्रित होना

अधिपत्य – प्रभुत्व , अधिकार

5.11 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

1. (D) 2. (B) 3. (A) 4. (C)

5.12 सन्दर्भ-सूची

1. Heywood Andrew; 2011, "Global Politics", Palgrave Macmillan, Hampshire England.
2. Baylis John; Steve Smith 2004, "The Globalization of World Politics An Introduction to International Relations", Oxford University Press.
3. फडिया, बी.एल., 2010, "अन्तराष्ट्रीय राजनीति:सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे", साहित्य भवन पब्लिकेशन,इलाहाबाद।
4. प्रो०मुखर्जी सुब्रत; डॉ रामास्वामी सुशीला 1999, "समाजवादी चिंतन का इतिहास ", हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय,दिल्ली विश्वविद्यालय।
5. Frank Gunder Andre;1969,"Capitalism and Underdevelopment in Latin America : Historical studies of Chile and Brazil"

5.13 निबंधात्मक प्रश्न

1) समाजवादी दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय राजनीती को समझने हेतु अंतरशास्त्रीय अध्ययन क्यों आवश्यक है ? विस्तार से समझायें।

2) परम्परावादी उपागम एवं व्यवहारवादी उपागम में मूल अंतर को स्पष्ट करते हुए इनकी विशेषताओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करें।

3) व्यवहारवादी उपागम के अंतर्गत आने वाले मार्टन कप्लान के व्यवस्था सिद्धांत का मूल्यांकन कीजिये।

4) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में खेल सिद्धांत के अंतर्गत आने वाले खेलों के प्रमुख प्रकारों की विस्तृत व्याख्या करें।

इकाई 6 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति कि अवधारणा

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 शक्ति परिभाषा एवं मूल स्वभाव

6.4 शक्ति के प्रमुख सिद्धांतकार एवं उनके दृष्टिकोण

6.5 राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व

6.6 शक्ति के प्रकार एवं प्रयोग विधियाँ

6.7 अंतर्राष्ट्रीय स्थिरता एवं संघर्ष के सिद्धांत

6.7.1 शक्ति संतुलन

6.7.2 शक्ति शून्यता

6.8 शक्ति का समकालीन परिप्रेक्ष एवं महत्व

6.9 निष्कर्ष

6.10 शब्दावली

6.11 अभ्यास प्रश्न

6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.13 निबंधात्मक प्रश्न

6.14 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.1 प्रस्तावना: अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की केंद्रीयता

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की बुनियादी वास्तविकता यह है कि यह एक अराजक (Anarchic) व्यवस्था है, जहाँ राष्ट्र-राज्यों के ऊपर कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं है जो कानून लागू कर सके या संघर्षों का निपटारा कर सके। ऐसी स्व-सहायता (Self-Help) की इस दुनिया में, शक्ति वह मूल सिक्का बन जाती है जिसके द्वारा राष्ट्र अपने अस्तित्व को सुरक्षित करते हैं, अपने हितों को आगे बढ़ाते हैं और एक दूसरे के साथ संबंधों का स्वरूप तय करते हैं। यह वह

केंद्रीय धुरी है जिसके इर्द-गिर्द सहयोग, प्रतिस्पर्धा, गठजोड़ और यहाँ तक कि संघर्ष भी घूमते हैं। शक्ति के बिना अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की कोई भी व्याख्या अधूरी और सतही रह जाती है।

पारंपरिक रूप से, शक्ति को अक्सर सैन्य बल, आर्थिक समृद्धि और भौगोलिक विस्तार के संदर्भ में देखा जाता रहा है। यथार्थवादी विचारक जैसे हंस मोर्गेन्थाऊ ने इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का परम उद्देश्य और प्राथमिक साधन दोनों ही बताया। उनके लिए, राज्यों का व्यवहार शक्ति को अधिकतम करने की निरंतर खोज से निर्धारित होता है। हालाँकि, समय के साथ शक्ति की यह संकीर्ण परिभाषा व्यापक हुई है। आज, शक्ति की अवधारणा में केवल कठोर बल (Hard Power) ही नहीं, बल्कि आकर्षण और अनुनय की मृदु शक्ति (Soft Power) और संस्थाओं व विचारों के माध्यम से काम करने वाली संरचनात्मक शक्ति (Structural Power) भी शामिल है।

शक्ति का स्वरूप स्थिर नहीं, बल्कि अत्यधिक गतिशील है। यह सापेक्ष है—किसी देश की शक्ति का असली मूल्य उसके प्रतिद्वंद्वी की शक्ति के संदर्भ में ही निर्धारित होता है। यह बहुआयामी है, जो सैन्य क्षमता, आर्थिक सामर्थ्य, तकनीकी नवाचार, राजनीतिक स्थिरता, सांस्कृतिक प्रभाव और राष्ट्रीय मनोबल जैसे अनेक तत्वों के जटिल मिश्रण से उपजती है। किसी एक तत्व, चाहे वह विशाल सेना हो या विशाल अर्थव्यवस्था, को शक्ति का एकमात्र निर्धारक मान लेना एक गंभीर भूल होगी।

6.2 उद्देश्य

इस यूनिट का उद्देश्य शक्ति की इसी जटिल और बहुआयामी अवधारणा को समझाना है। हम शक्ति के विभिन्न सिद्धांतों, उसके मूर्त व अमूर्त तत्वों, उसके प्रयोग के विविध तरीकों और समकालीन वैश्विक परिदृश्य में उसके बदलते स्वरूप का विश्लेषण करेंगे। शक्ति-संतुलन जैसे पारंपरिक तंत्र से लेकर शक्ति-शून्यता और सॉफ्ट पावर जैसी आधुनिक अवधारणाओं तक, यह अध्ययन हमें यह समझने में मदद करेगा कि कैसे शक्ति के प्रवाह और प्रदर्शन ने ऐतिहासिक और वर्तमान वैश्विक घटनाक्रम को आकार दिया है। अंततः, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की गतिशीलता को समझने के लिए शक्ति की भाषा सीखना एक अनिवार्य पहला कदम है।

6.3 शक्ति: परिभाषा एवं मूल स्वभाव

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 'शक्ति' (Power) वह मूलभूत अवधारणा है जिस पर राज्यों के आपसी व्यवहार और वैश्विक व्यवस्था की संरचना टिकी हुई है। सरल शब्दों में, शक्ति को "दूसरों पर अपनी इच्छा थोपने की क्षमता" के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में, यह परिभाषा और विस्तृत हो जाती है: शक्ति किसी राष्ट्र की वह सामर्थ्य है जिसके माध्यम से वह अन्य राष्ट्रों के निर्णयों, नीतियों और कार्यों को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल प्रभावित, निर्देशित या नियंत्रित कर सकता है। यह प्रभाव कूटनीतिक वार्ता, आर्थिक प्रलोभन, सांस्कृतिक आकर्षण, या अंतिम उपाय के रूप में सैन्य दबाव के माध्यम से लागू किया जा सकता है।

शक्ति को समझने के लिए इसके चार मूलभूत स्वभावों या विशेषताओं को जानना आवश्यक है:-

1. **सापेक्षता (Relativity) -** शक्ति कभी भी एक निरपेक्ष या अकेली इकाई नहीं होती। इसका वास्तविक मूल्य और प्रभाव हमेशा दूसरे राज्यों की शक्ति के सापेक्ष ही आँका जाता है। किसी देश की शक्ति का अर्थ उसकी स्वयं की क्षमताओं से कम और उसके प्रतिद्वंद्वी या पड़ोसी की तुलनात्मक क्षमताओं से अधिक निकलता है। उदाहरण के लिए, एक देश की सैन्य शक्ति तभी प्रभावी है जब वह अपने विरोधी से अधिक या कम से कम समकक्ष हो। यह सापेक्षता ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निरंतर प्रतिस्पर्धा और शक्ति-संतुलन की प्रक्रिया को जन्म देती है।

2. बहुआयामीता (Multidimensionality) - एक सामान्य धारणा के विपरीत, शक्ति केवल सैन्य बल या आर्थिक समृद्धि का पर्याय नहीं है। यह एक जटिल समग्रता है, जो अनेक मूर्त और अमूर्त तत्वों के सम्मिश्रण से बनती है। इनमें भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक संसाधन, औद्योगिक क्षमता, तकनीकी नवाचार, जनसंख्या, राजनीतिक स्थिरता, राष्ट्रीय मनोबल, कूटनीतिक कौशल और सांस्कृतिक-विचारधारात्मक आकर्षण शामिल हैं। एक सफल राष्ट्र वही होता है जो इन विभिन्न आयामों में संतुलित शक्ति का विकास करता है। जोसेफ नाये द्वारा प्रतिपादित 'हार्ड पावर' (सैन्य-आर्थिक) और 'सॉफ्ट पावर' (सांस्कृतिक-विचारात्मक) का विभेद इसी बहुआयामी प्रकृति को उजागर करता है।

3. गतिशीलता (Dynamic Nature) - शक्ति स्थिर या स्थायी नहीं होती। यह एक गतिशील घटक है जो समय के साथ परिवर्तनशील आंतरिक और बाह्य कारकों से प्रभावित होता रहता है। तकनीकी क्रांति (जैसे साइबर और अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी), आर्थिक मंदी या उछाल, सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल, प्राकृतिक आपदाएँ, और वैश्विक घटनाक्रम किसी भी राष्ट्र की शक्ति के स्तर को बदल सकते हैं। सोवियत संघ का पतन इस गतिशीलता का चरम उदाहरण है की एक महाशक्ति कुछ ही वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव खो बैठी। इसी प्रकार, चीन का आर्थिक उदय और उसकी बढ़ती वैश्विक भूमिका भी शक्ति के गतिशील स्वरूप को दर्शाता है।

4. साधन और साध्य दोनों (A Means as well as an End) - शक्ति एक द्वंद्वात्मक भूमिका निभाती है। एक ओर, यह अन्य वांछित लक्ष्यों जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा, क्षेत्रीय स्थिरता, आर्थिक समृद्धि, और जनकल्याण को प्राप्त करने का एक साधन (Means) है। दूसरी ओर, अंतर्राष्ट्रीय अराजकता में, अधिक शक्ति स्वयं में ही सुरक्षा और प्रभाव की गारंटी मान ली जाती है, जिससे यह एक साध्य (End) या अंतिम लक्ष्य भी बन जाती है। मोर्गेन्थाऊ ने इसी द्वंद्व पर जोर देते हुए कहा था कि शक्ति की खोज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का तात्कालिक उद्देश्य है। हालाँकि, कैनेथ वाल्ट्ज जैसे विद्वान मानते हैं कि शक्ति साध्य नहीं, बल्कि सुरक्षा प्राप्ति का एक माध्यम मात्र है।

इन विशेषताओं को समझे बिना, अंतर्राष्ट्रीय मंच पर होने वाली घटनाओं चाहे वह व्यापार युद्ध हो, कूटनीतिक गठजोड़ हो, या सैन्य तनाव का सही विश्लेषण संभव नहीं है। शक्ति का यह बहुआयामी, सापेक्ष और गतिशील स्वभाव ही वैश्विक राजनीति को निरंतर बदलते एक जीवंत खेल का रूप प्रदान करता है।

6.4 शक्ति के प्रमुख सिद्धांतकार एवं उनके दृष्टिकोण

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति की अवधारणा को समझने के लिए विभिन्न विचारधाराओं के प्रमुख सिद्धांतकारों के दृष्टिकोण को जानना आवश्यक है। इन विद्वानों ने शक्ति के स्वरूप, उद्देश्य और प्रयोग को अलग-अलग ढंग से परिभाषित एवं विश्लेषित किया है, जिससे शक्ति के बहुआयामी चरित्र को समझने में मदद मिलती है।

1. **हंस मोर्गेन्थाऊ –**

   हंस मोर्गेन्थाऊ, जिन्हें आधुनिक यथार्थवाद का संस्थापक माना जाता है, ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पॉलिटिक्स अमंग नेशंस' (1948) में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषण के लिए एक सुस्पष्ट सैद्धांतिक ढाँचा प्रस्तुत किया। मोर्गेन्थाऊ का केंद्रीय तर्क यह है कि सभी राजनीति, चाहे वह राष्ट्रीय स्तर की हो या अंतर्राष्ट्रीय, मूलतः शक्ति के लिए संघर्ष है। उनके दृष्टिकोण की नींव यह मान्यता है कि मानव स्वभाव ही शक्ति की निरंतर इच्छा से प्रेरित होता है, और चूँकि राज्य व्यक्तियों के सामूहिक रूप हैं, इसलिए उनका व्यवहार भी शक्ति को अधिकतम करने की इसी मूल प्रवृत्ति से निर्देशित होता है। उनके लिए, शक्ति एक साधन भी है और एक साध्य भी; यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का परम उद्देश्य है। मोर्गेन्थाऊ ने 'राष्ट्रीय हित' को ही 'शक्ति' के पर्याय के रूप में परिभाषित किया और तर्क दिया कि एक तर्कसंगत राजनेता का प्राथमिक कर्तव्य इसी हित का पीछा करना है। हालाँकि, इस निरंतर शक्ति-संघर्ष से उत्पन्न होने वाले संघर्ष और अराजकता को नियंत्रित करने के लिए, मोर्गेन्थाऊ ने शक्ति संतुलन को एक अनिवार्य और व्यावहारिक तंत्र के रूप में स्वीकार किया, जिसमें राज्य गठबंधन बनाकर किसी एक की प्रभुत्वकारी शक्ति का प्रतिकार करते हैं। उनका यह शक्ति-केंद्रित दृष्टिकोण अत्यंत प्रभावशाली रहा, परंतु इसकी आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह शक्ति को मुख्यतः सैन्य और राजनीतिक पहलुओं तक सीमित देखता है तथा आर्थिक अंतर्निर्भरता और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भूमिका को पर्याप्त महत्व नहीं देता।

2. **कैनेथ वाल्ट्ज –**

   कैनेथ वाल्ट्ज ने अपनी मौलिक कृति 'थ्योरी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स' (1979) में मोर्गेन्थाऊ के शास्त्रीय यथार्थवाद को एक नया और अधिक व्यवस्थित रूप प्रदान किया, जिसे नव-यथार्थवाद या संरचनात्मक यथार्थवाद कहा गया। वाल्ट्ज ने शक्ति के स्रोत को मानव स्वभाव में न ढूँढकर अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की संरचना में खोजा। उनका मुख्य तर्क है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मूलभूत संरचना अराजक है, अर्थात् इसमें राज्यों के ऊपर कोई केंद्रीय सत्ता नहीं है जो उनकी सुरक्षा की गारंटी दे सके। यही अराजक संरचना राज्यों के व्यवहार को निर्धारित करती है और उन्हें स्व-सहायता पर निर्भर रहने के लिए बाध्य करती है। मोर्गेन्थाऊ से एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि वाल्ट्ज के लिए शक्ति स्वयं में कोई अंत नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय सुरक्षा और अस्तित्व सुनिश्चित करने का एक साधन मात्र है। राज्य शक्ति का संचय इसलिए करते हैं ताकि इस अनिश्चित और संभावित खतरों से भरी अराजक व्यवस्था में अपना अस्तित्व बचाए रख सकें। इसी कारण, उनकी नीतियाँ सापेक्ष लाभ की मानसिकता से प्रेरित होती हैं, जहाँ यह सुनिश्चित करना कि प्रतिद्वंद्वी अधिक शक्तिशाली न बन जाए, निरपेक्ष लाभ से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। वाल्ट्ज यह भी मानते हैं कि यह अराजक संरचना स्वतः ही शक्ति संतुलन के उदय को प्रेरित करती है; यदि कोई राज्य बहुत

शक्तिशाली हो जाता है, तो अन्य राज्य स्वाभाविक रूप से उसके विरुद्ध संतुलन कायम करने के लिए गठबंधन बना लेंगे। हालाँकि इस दृष्टिकोण को व्यवस्थित और वैज्ञानिक माना जाता है, पर इस आलोचना का सामना भी करना पड़ा है कि यह राज्यों को एकसमान 'बिलियर्ड बॉल' मानकर उनके भीतरी स्वरूप, संस्कृति और शासन प्रणाली के अंतरों की उपेक्षा करता है।

3. जोसेफ नाये –

जोसेफ नाये, एक प्रमुख उदारवादी विचारक, ने शक्ति की समझ को गहराई और विस्तार दिया। उन्होंने तर्क दिया कि शक्ति केवल दबाव डालने या भुगतान करने की क्षमता नहीं है; यह आकर्षित करने की क्षमता भी है।उनके योगदान को तीन प्रमुख अवधारणाओं में समझा जा सकता है:-

i) हार्ड पावर - यह शक्ति का पारंपरिक रूप है, जिसमें सैन्य बल (छड़ी) और आर्थिक प्रलोभन या दबाव (गाजर) के माध्यम से दूसरों को मनवाया जाता है। यह मुख्यतः भय या लालच पर कार्य करती है।

ii) सॉफ्ट पावर - नाये की सबसे प्रभावशाली अवधारणा। यह आकर्षण और अनुनय की शक्ति है, जो किसी देश की संस्कृति, राजनीतिक मूल्यों और विदेश नीति की वैधता से उत्पन्न होती है। जब एक देश का आदर्श दूसरों के लिए आकर्षक होता है, तो वे उसके लक्ष्यों को स्वतः अपना लेते हैं। उदाहरण: अमेरिकी उच्च शिक्षा, हॉलीवुड फिल्में, या लोकतांत्रिक आदर्श।

iii) स्मार्ट पावर - नाये ने बताया कि 21वीं सदी की जटिल चुनौतियों के लिए हार्ड और सॉफ्ट पावर में से किसी एक पर निर्भर रहना पर्याप्त नहीं है। सफलता के लिए दोनों के कुशल मिश्रण की आवश्यकता है, जिसे उन्होंने 'स्मार्ट पावर' नाम दिया। इसमें सही परिस्थिति में सही साधनों का चयन और प्रयोग शामिल है।

नाये का दृष्टिकोण अधिक संतुलित और समकालीन वास्तविकताओं के अनुरूप है, जो यह दर्शाता है कि सूचना युग में विचारों और प्रतिष्ठा की लड़ाई हथियारों की लड़ाई जितनी ही महत्वपूर्ण है।

4. सुसान स्ट्रेंज –

ब्रिटिश अर्थशास्त्री सुसान स्ट्रेंज ने शक्ति के विश्लेषण में एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण पेश किया। उन्होंने तर्क दिया कि वास्तविक शक्ति केवल राज्यों के बीच संबंधों में नहीं, बल्कि वैश्विक ढाँचे को ही आकार देने की क्षमता में निहित है। उन्होंने इसे 'संरचनात्मक शक्ति' कहा।

स्ट्रेंज के अनुसार, शक्तिशाली देश (और कभी-कभी गैर-राज्य अभिकर्ता, जैसे बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ) उन नियमों और ढाँचों को निर्धारित करते हैं जिनमें अन्य सभी को कार्य करना होता है। उन्होंने शक्ति के चार प्रमुख संरचनात्मक क्षेत्र बताए:-

1. सुरक्षा संरचना- हिंसा के स्रोतों पर नियंत्रण। (उदाहरण - अमेरिका की वैश्विक सैन्य उपस्थिति)

2. उत्पादन संरचनान- क्या, कैसे, कहाँ और किसके द्वारा उत्पादन किया जाएगा। (उदाहरण - वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाओं पर नियंत्रण)

3. वित्तीय संरचना- ऋण, मुद्रा और निवेश के स्रोतों तक पहुँच। (उदाहरण - अमेरिकी डॉलर की वैश्विक रिजर्व मुद्रा की स्थिति)

4. ज्ञान संरचना- सूचना के प्रसार और प्रौद्योगिकी पर नियंत्रण। (उदाहरण - इंटरनेट प्रोटोकॉल और डिजिटल मानकों पर प्रभुत्व)

स्ट्रेंज का मानना था कि इस संरचनात्मक शक्ति का प्रयोग अक्सर इतना सूक्ष्म होता है कि लक्षित देशों को एहसास भी नहीं होता कि वे किस प्रकार नियंत्रित हो रहे हैं। यह दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक और तकनीकी कारकों की गहरी भूमिका को रेखांकित करता है।

6.5 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व: एक व्यापक विश्लेषण

राष्ट्रीय शक्ति एक जटिल और बहुआयामी समग्रता है, जो विभिन्न साधनों और क्षमताओं के सम्मिलन से निर्मित होती है। इन तत्वों के बिना, अंतर्राष्ट्रीय मंच पर किसी देश का प्रभाव या स्थान निर्धारित नहीं हो सकता। इन तत्वों को सुविधा के लिए दो प्रमुख श्रेणियों—मूर्त/भौतिक तत्व और अमूर्त/मनोवैज्ञानिक तत्व—में विभाजित किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के तत्वों का सामंजस्यपूर्ण विकास ही एक स्थायी और प्रभावी राष्ट्रीय शक्ति का आधार है।

1. **मूर्त या भौतिक तत्व:** शक्ति की दृश्यमान नींव ये तत्व ठोस, मापने योग्य और प्रायः भौतिक संसाधनों से संबंधित होते हैं। ये शक्ति के आधारभूत ढाँचे का निर्माण करते हैं।

I. **भूगोल:-** भूगोल एक ऐसास्थायी तत्व है जो किसी राष्ट्र की रणनीतिक स्थिति को मूल रूप से परिभाषित करता है। कुछ प्रमुख प्रकार हैं

- **स्थान एवं आकार -** एक विशाल क्षेत्रफल (जैसे रूस, कनाडा) प्राकृतिक संसाधनों और रणनीतिक गहराई प्रदान करता है। समुद्री तट पर स्थिति (जैसे यूनाइटेड किंगडम, जापान) व्यापार और नौसैनिक शक्ति के लिए लाभप्रद है, जबकि भू-आवेष्ठित देश (जैसे अफगानिस्तान, बोलिविया) चुनौतियों का सामना करते हैं।
- **जलवायु एवं स्थलाकृति -** अनुकूल जलवायु कृषि और बस्तियों के विकास में सहायक होती है। पर्वत और नदियाँ प्राकृतिक सीमाएँ और रक्षात्मक लाभ प्रदान कर सकती हैं।
- **रणनीतिक अवस्थिति -** महत्वपूर्ण समुद्री मार्गों या अन्य देशों के बीच स्थिति (जैसे सिंगापुर, मिस्र स्वेज नहर के कारण) एक देश को अतिरिक्त कूटनीतिक और आर्थिक महत्व प्रदान करती है।

II. **प्राकृतिक संसाधन:-** ये किसी राष्ट्र की आर्थिक और औद्योगिक क्षमता का आधार हैं।

- **ऊर्जा संसाधन -** तेल, प्राकृतिक गैस, कोयला और यूरेनियम जैसे संसाधनों पर नियंत्रण अत्यधिक शक्ति प्रदान करता है, क्योंकि ये आधुनिक अर्थव्यवस्था की धमनियाँ हैं। खाड़ी देशों का प्रभाव इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।
- **खनिज संसाधन -** लौह अयस्क, तांबा, दुर्लभ मृदा धातुएँ आदि उन्नत विनिर्माण, प्रौद्योगिकी और रक्षा उद्योग के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।
- **कृषि योग्य भूमि एवं जल -** खाद्य सुरक्षा और जल संसाधनों की पर्याप्तता दीर्घकालिक स्थिरता और आत्मनिर्भरता के लिए आवश्यक हैं। इनकी कमी किसी देश को बाह्य सहायता पर निर्भर बना सकती है।

III. **आर्थिक क्षमता:-** आर्थिक शक्ति आधुनिक विश्व में राष्ट्रीय शक्ति का सबसे महत्वपूर्ण घटक बन गई है। यह अन्य सभी तत्वों, यहाँ तक कि सैन्य शक्ति के विकास का भी आधार है।

- **सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) -** अर्थव्यवस्था का आकार और वृद्धि दर देश के समग्र संसाधन आधार को दर्शाती है।
- **औद्योगिक एवं तकनीकी आधार -** एक विविध और उन्नत औद्योगिक क्षमता, विशेष रूप से उच्च-प्रौद्योगिकी और रक्षा क्षेत्र में, देश को रणनीतिक स्वायत्तता प्रदान करती है।
- **व्यापार एवं वित्तीय स्वास्थ्य -** निर्यात क्षमता, विदेशी मुद्रा भंडार और वैश्विक वित्तीय प्रणाली में एकीकरण देश के प्रभाव को बढ़ाते हैं।
- **बुनियादी ढाँचा -** परिवहन, संचार और ऊर्जा के मजबूत ढाँचे आर्थिक दक्षता और सामरिक गतिशीलता सुनिश्चित करते हैं।

IV. **सैन्य शक्ति:-** यह शक्ति का सबसे पारंपरिक और प्रत्यक्ष प्रतीक है, जो किसी देश की अपनी संप्रभुता की रक्षा और विदेशों में हित साधन करने की क्षमता को दर्शाता है।

- **परम्परागत सैन्य बल -** सेना, नौसेना और वायु सेना का आकार, उनकी तत्परता, प्रशिक्षण और उन्नत हथियार प्रणालियों से लैस होना।
- **रक्षा औद्योगिक आधार -** स्वदेशी हथियारों के अनुसंधान, विकास और निर्माण की क्षमता देश को बाहरी आपूर्ति पर निर्भरता से मुक्त करती है और इसे एक महत्वपूर्ण निर्यातक भी बना सकती है।

- **परमाणु अस्त्र क्षमता -** परमाणु हथियार रखना एक अंतिम निवारक के रूप में कार्य करता है और किसी देश को एक विशेष रणनीतिक स्तर पर ला खड़ा करता है।
- **असिमेट्रिक युद्ध क्षमता -** साइबर युद्ध, अंतरिक्ष और इलेक्ट्रॉनिक युद्ध क्षमताएँ 21वीं सदी की सैन्य शक्ति के नए आयाम हैं।

V. **जनसंख्या:-** जनसंख्या एक दोधारी तलवार है—इसका आकार और गुणवत्ता दोनों महत्वपूर्ण हैं।

- **आकार -** एक बड़ी जनसंख्या एक विशाल श्रम बल, उपभोक्ता बाजार और सैन्य जनशक्ति का स्रोत होती है (जैसे चीन, भारत)।
- **गुणवत्ता -** जनसंख्या की शिक्षा, कौशल, स्वास्थ्य और वैज्ञानिक दक्षता कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। एक छोटी परंतु अत्यधिक शिक्षित और नवप्रवर्तनकारी जनसंख्या (जैसे जापान, जर्मनी) बड़ी परंतु अशिक्षित जनसंख्या से अधिक शक्ति उत्पन्न कर सकती है। जनसंख्या की आयु संरचना (युवा बनाम वृद्ध) भी दीर्घकालिक आर्थिक गतिशीलता को प्रभावित करती है।

2. **अमूर्त या मनोवैज्ञानिक तत्व:-** शक्ति का अदृश्य स्तम्भ ये तत्व अमूर्त, मापने में कठिन परंतु अत्यंत प्रभावशाली होते हैं। ये भौतिक संसाधनों की प्रभावशीलता को कई गुना बढ़ा या घटा सकते हैं।

i. **राष्ट्रीय मनोबल -** यह राष्ट्र कीआत्मा है—नागरिकों की सामूहिक इच्छाशक्ति, एकजुटता और संकट का सामना करने की दृढ़ता।

- **सामूहिक एकता -** जातीय, धार्मिक या क्षेत्रीय विभाजन राष्ट्रीय शक्ति को कमजोर करते हैं, जबकि सामाजिक सद्भाव और राष्ट्रीय एकता इसे मजबूत करते हैं।
- **संकट सहने की क्षमता -** युद्ध, आर्थिक संकट या प्राकृतिक आपदा के समय जनता का लचीलापन और देशभक्ति अमूल्य होती है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन का सामूहिक संकल्प इसका उदाहरण है।
- **सरकार एवं संस्थाओं में विश्वास -** जनता का शासन व्यवस्था और राष्ट्रीय संस्थाओं में विश्वास राज्य की नीतियों को लागू करने की क्षमता को बढ़ाता है।

ii. **राजनीतिक स्थिरता एवं नेतृत्व-** एक सक्षम और स्थिर राजनीतिक व्यवस्थाभौतिक संसाधनों के कुशल प्रबंधन की कुंजी है।

- **शासन की गुणवत्ता -** एक कुशल, पारदर्शी और जवाबदेह प्रशासनिक तंत्र नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन को सुनिश्चित करता है। भ्रष्टाचार और अक्षमता राष्ट्रीय शक्ति को खोखला कर देते हैं।
- **राजनीतिक स्थिरता -** लगातार सरकारें, शांतिपूर्ण सत्ता परिवर्तन और कानून के शासन का पालन देश के भीतर और बाहर विश्वास पैदा करते हैं।
- **नेतृत्व की दूरदर्शिता -** राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दूरदर्शी, तर्कसंगत और निर्णायक नेतृत्व संकट के समय देश को सही दिशा दे सकता है और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ा सकता है।

iii. **कूटनीतिक कौशल:-** यह सीमित संसाधनों के साथ अधिकतम प्रभाव प्राप्त करने की कला है।

- **वार्ता कौशल -** संघर्षों को शांतिपूर्ण समाधान, अनुकूल समझौते और गठबंधन निर्माण की क्षमता।
- **वैश्विक समझ एवं छवि प्रबंधन -** अंतर्राष्ट्रीय मीडिया और जनमत को प्रभावित करने की क्षमता। एक विश्वसनीय और जिम्मेदार अंतर्राष्ट्रीय छवि सॉफ्ट पावर का हिस्सा है।
- **अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में प्रभाव -** संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद, विश्व व्यापार संगठन आदि जैसे मंचों पर प्रभावी प्रतिनिधित्व और गठबंधन बनाने की क्षमता।

iv. **सांस्कृतिक आकर्षण एवं विचारधारात्मक प्रभाव (सॉफ्ट पावर):-** जोसेफ नायेद्वारा प्रतिपादित यह अवधारणा शक्ति के एक नए आयाम को दर्शाती है—आकर्षण की शक्ति।

- **सांस्कृतिक आकर्षण -** देश की कला, साहित्य, संगीत, भोजन, सिनेमा और भाषा का वैश्विक अपील रखना। हॉलीवुड, कोरियन पॉप (के-पॉप), या जापानी एनीमे इसके उदाहरण हैं जो देशों की छवि को सकारात्मक रूप से आकार देते हैं।
- **राजनीतिक मूल्य एवं विचारधारा -** लोकतंत्र, मानवाधिकार, स्वतंत्रता, समानता जैसे मूल्यों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करना और उन पर अमल करना। जब एक देश के मूल्य दूसरों के लिए प्रेरणा बनते हैं, तो उसकी नीतियों के लिए स्वाभाविक समर्थन मिलता है।
- **शिक्षा एवं ज्ञान का प्रसार -** विश्व स्तरीय विश्वविद्यालय और थिंक टैंक विदेशी छात्रों और बुद्धिजीवियों को आकर्षित करते हैं, जो दीर्घकाल में भावी नेताओं के मन में देश के प्रति सद्भावना पैदा करते हैं।

6.6 शक्ति के प्रकार एवं प्रयोग विधियाँ

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति केवल एक रूप में प्रकट नहीं होती। यह विभिन्न साधनों और व्यवहारों के माध्यम से कार्य करती है, जिससे राष्ट्र दूसरों को प्रभावित करने के लिए अलग-अलग रणनीतियाँ अपनाते हैं। शक्ति के प्रकार और उसके प्रयोग के पारंपरिक एवं समकालीन तरीकों को समझना, वैश्विक व्यवहारों की जटिलता को समझने की कुंजी है।

6.6.1 शक्ति के प्रकार के बहुआयामी दृष्टिकोण

1. **हार्ड पावर (कठोर शक्ति) -** हार्ड पावर शक्ति का सबसे पारंपरिक और प्रत्यक्ष रूप है। यह दबाव और जबरदस्ती पर आधारित है, जिसका प्राथमिक उद्देश्य दूसरों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने के लिए मजबूर करना है। हार्ड पावर का प्रभाव तत्काल और दृश्यमान हो सकता है, लेकिन यह अक्सर महंगा, विध्वंसक होता है और दीर्घकाल में विद्वेष पैदा कर सकता है। इसे दो मुख्य साधनों के माध्यम से लागू किया जाता है:-
   - **सैन्य शक्ति -** यह हार्ड पावर का सबसे स्पष्ट रूप है। इसमें सैन्य बल की धमकी, सैन्य गठजोड़, या वास्तविक सशस्त्र संघर्ष (युद्ध) शामिल है। उदाहरण के लिए, 2003 में इराक पर अमेरिकी नेतृत्व वाले आक्रमण को हार्ड पावर के प्रत्यक्ष प्रयोग के रूप में देखा जाता है। सैन्य अभ्यास करना या सीमा पर सेना की तैनाती भी एक प्रकार की धमकी है।
   - **आर्थिक शक्ति -** इसमें आर्थिक प्रलोभन (कैरट) या आर्थिक दबाव (स्टिक) का उपयोग शामिल है। आर्थिक सहायता, व्यापारिक रियायतें, या निवेश प्रदान करना प्रलोभन है। वहीं, व्यापारिक प्रतिबंध, निवेश पर रोक, या वैश्विक वित्तीय प्रणाली से बहिष्कार दबाव के उपकरण हैं। उत्तरी कोरिया या ईरान पर लगाए गए अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबंध हार्ड पावर के आर्थिक रूप के उदाहरण हैं।
2. **सॉफ्ट पावर (मृदु शक्ति) -** अमेरिकी राजनीतिक विज्ञानी जोसेफ नाये द्वारा प्रतिपादित यह अवधारणा शक्ति के एक सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष रूप को दर्शाती है। सॉफ्ट पावर जबरदस्ती नहीं, बल्कि आकर्षण और अनुनय की शक्ति है। यह किसी राष्ट्र की संस्कृति, राजनीतिक मूल्यों और विदेश नीति की वैधता से उत्पन्न होती है। जब कोई देश दूसरों के लिए आकर्षक लगता है, तो वे स्वेच्छा से उसके लक्ष्यों का समर्थन करते हैं। सॉफ्ट पावर का निर्माण धीमा और दीर्घकालिक प्रक्रिया है, लेकिन इसका प्रभाव गहरा और टिकाऊ होता है, जो विश्वास और सद्भावना का निर्माण करता है।इसके मुख्य स्रोत इस प्रकार हैं:
   - **संस्कृति -** साहित्य, कला, संगीत, सिनेमा, भोजन और भाषा का वैश्विक अपील रखना। हॉलीवुड फिल्मों, के-पॉप, या जापानी एनीमे के वैश्विक प्रसार से अमेरिका, दक्षिण कोरिया और जापान की सॉफ्ट पावर बढ़ती है।
   - **राजनीतिक मूल्य -** लोकतंत्र, मानवाधिकार, स्वतंत्रता और कानून के शासन जैसे मूल्यों को सफलतापूर्वक अपनाना और प्रचारित करना।

- **विदेश नीति की वैधता -** जब किसी देश की विदेश नीति नैतिक रूप से प्रशंसनीय और दूसरों के हित में प्रतीत होती है, तो वह सॉफ्ट पावर उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए, मानवीय सहायता अभियान या जलवायु परिवर्तन जैसे वैश्विक मुद्दों पर नेतृत्व करना।

3. **स्मार्ट पावर (चतुर शक्ति) -** जोसेफ नाये ने ही यह स्वीकार किया कि 21वीं सदी की जटिल चुनौतियों का सामना करने के लिए केवल हार्ड या केवल सॉफ्ट पावर पर्याप्त नहीं है। इसलिए, उन्होंने 'स्मार्ट पावर' की अवधारणा दी। स्मार्ट पावर, हार्ड पावर और सॉफ्ट पावर का एक कुशल, स्थिति-अनुकूल और समन्वित मिश्रण है। इसका सार यह है कि किस स्थिति में किस साधन का प्रयोग सबसे प्रभावी होगा। स्मार्ट पावर लचीलेपन और व्यावहारिकता पर जोर देता है, जिसमें उपलब्ध सभी उपकरणों का रचनात्मक ढंग से उपयोग किया जाता है। एक स्मार्ट पावर की मुख्या रणनीतियां इस प्रकार हैं

   - किसी संघर्ष में मध्यस्थता के लिए कूटनीति (सॉफ्ट) का प्रयोग, लेकिन साथ ही शांति बनाए रखने के लिए शांति सेना (हार्ड) की तैनाती।
   - विकासशील देशों को आर्थिक सहायता और शिक्षा कार्यक्रम (सॉफ्ट) प्रदान करना, साथ ही रणनीतिक साझेदारी और सुरक्षा सहयोग (हार्ड) को बढ़ावा देना।
   - साइबर हमलों का मुकाबला करने के लिए तकनीकी क्षमता (हार्ड) का निर्माण करना, और साथ ही इंटरनेट की स्वतंत्रता और खुलेपन (सॉफ्ट) के लिए अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों को बढ़ावा देना।

4. **संरचनात्मक शक्ति (Structural Power) -** ब्रिटिश अर्थशास्त्री सुसान स्ट्रेंज द्वारा विकसित यह अवधारणा सबसे सूक्ष्म और गहन रूप है। संरचनात्मक शक्ति, सीधे नियंत्रण करने की नहीं, बल्कि वह नियम और ढाँचा बनाने की क्षमता है जिसके भीतर अन्य सभी देशों को कार्य करना पड़ता है। यह अप्रत्यक्ष रूप से यह तय करती है कि अंतर्राष्ट्रीय मामलों में क्या संभव है और क्या नहीं। इसके प्रमुख क्षेत्र इस प्रकार हैं:-

   - **सुरक्षा संरचना -** हिंसा के स्रोतों और सुरक्षा गारंटियों पर नियंत्रण (जैसे नाटो में अमेरिकी भूमिका)।
   - **उत्पादन संरचना** - वैश्विक उत्पादन और आपूर्ति श्रृंखलाओं को निर्धारित करना।
   - **वित्तीय संरचना -** वैश्विक वित्तीय प्रणाली, मुद्राओं और ऋण तक पहुँच को आकार देना। अमेरिकी डॉलर की वैश्विक रिजर्व मुद्रा की स्थिति एक शक्तिशाली संरचनात्मक शक्ति है।
   - **ज्ञान संरचना -** वैज्ञानिक अनुसंधान, प्रौद्योगिकी मानकों, और सूचना के प्रवाह को नियंत्रित करना।

संरचनात्मक शक्ति का प्रयोग अक्सर इतना सूक्ष्म होता है कि प्रभावित देशों को पता भी नहीं चलता कि उनके विकल्प पहले से ही सीमित कर दिए गए हैं।

6.6.2 शक्ति प्रयोग की विधियाँ - साम, दाम, दंड, भेद का आधुनिक अनुप्रयोग

प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन में वर्णित ये चार उपाय, आज भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति के प्रयोग के मूलभूत तरीकों को दर्शाते हैं।

1. **समझाना (साम / अनुनय) -** यह सबसे शांतिपूर्ण और सहयोगात्मक विधि है। इसमें कूटनीति, वार्ता, तर्क और संवाद के माध्यम से दूसरे पक्ष को अपने दृष्टिकोण के औचित्य से सहमत कराया जाता है। लक्ष्य जीत-हार नहीं, बल्कि एक ऐसी सहमति बनाना है जिससे दोनों पक्षों का हित सधे। इसका आधुनिक रूप द्विपक्षीय वार्ता, बहुपक्षीय शिखर सम्मेलन (जैसे जी20), संयुक्त राष्ट्र में चर्चा, और संधि-वार्ताएँ। जलवायु परिवर्तन पर पेरिस समझौता इसी प्रक्रिया का परिणाम है। यह दीर्घकालिक संबंधों और विश्वास का निर्माण करता है। इसकी लागत कम और स्थायित्व अधिक होता है।
2. **प्रलोभन देना (दाम / पुरस्कार) -** जब अनुनय काम नहींकरता, तो पुरस्कार या प्रलोभन का उपयोग किया जाता है। इसमें किसी वांछित व्यवहार के बदले में लाभ प्रदान करना शामिल है। यह हार्ड पावर का एक सकारात्मक पहलू है। इसका आधुनिक स्वरूप: आर्थिक सहायता पैकेज, तकनीकी हस्तांतरण, व्यापार समझौते, रियायती ऋण, राजनीतिक मान्यता, या सुरक्षा गारंटी प्रदान करना। अमेरिका द्वारा कैम्प डेविड समझौते के बाद इजरायल और मिस्र को दी जाने वाली भारी सहायता इसका उदाहरण है। यह सहयोग को प्रोत्साहित करता है और गठजोड़ को मजबूत बनाता है। हालाँकि, यह लागतग्रस्त हो सकता है और लाभ प्राप्तकर्ता को निर्भर बना सकता है।
3. **दंड देना या धमकी (दंड / दबाव) -** जब पुरस्कार भीकारगर नहीं होते, तो दंड या दबाव का सहारा लिया जाता है। इसमें अवांछित व्यवहार को रोकने के लिए नकारात्मक परिणामों की धमकी या उन्हें लागू करना शामिल है। यह हार्ड पावर का नकारात्मक पहलू है। इसका आधुनिक स्वरूप आर्थिक प्रतिबंध और नाकेबंदी, कूटनीतिक अलगाव (राजदूतों को वापस बुलाना), अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों में मुकदमे, सैन्य अभ्यास द्वारा शक्ति प्रदर्शन, और सैन्य कार्रवाई की स्पष्ट चेतावनी देना है। इसका प्रभाव तेजी से हो सकता है। हालाँकि, यह अक्सर विरोध और प्रतिशोध को जन्म देता है, दोनों पक्षों को आर्थिक नुकसान पहुँचा सकता है, और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में निंदा का कारण बन सकता है।
4. **बल का प्रयोग (भेद / विभाजन एवं जबरदस्ती) -** यह अंतिम उपाय है।इसमें 'भेद' की व्याख्या कई बार विभाजन करने की कूटनीति के रूप में भी की जाती है, लेकिन यहाँ हम इसे शक्ति के सर्वाधिक प्रत्यक्ष और जबरदस्त प्रयोग के संदर्भ में ले रहे हैं। इसका आधुनिक स्वरूप पूर्ण पैमाने का युद्ध, सीमित सैन्य हस्तक्षेप, विद्रोही समूहों को गुप्त सहायता, सैन्य तख्तापलट को प्रोत्साहन, या साइबर हमलों जैसा अर्ध-सैन्य बल है। रूस द्वारा यूक्रेन पर आक्रमण या 1990 में इराक द्वारा कुवैत पर कब्जा इसके चरम उदाहरण हैं। यह विधि अत्यधिक विनाशकारी, जानलेवा, आर्थिक रूप से क्षयकारी और अप्रत्याशित परिणामों वाली होती है। इससे बड़े पैमाने पर मानवीय संकट पैदा हो सकते हैं और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में गहरा उथल-पुथल हो सकता है।

6.7 अंतर्राष्ट्रीय स्थिरता एवं संघर्ष के सिद्धांत

अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अराजक प्रकृति में, शक्ति के असीमित संचय और प्रयोग को नियंत्रित करने के लिए ऐतिहासिक रूप से दो महत्वपूर्ण सिद्धांत उभरे हैं: शक्ति-संतुलन और शक्ति-शून्यता। ये दोनों ही शक्ति के वितरण में परिवर्तन से उत्पन्न होने वाली गतिशीलता को समझाते हैं।

6.7.1 शक्ति-संतुलन (स्थिरता का पारंपरिक तंत्र)

शक्ति-संतुलन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक मौलिक और ऐतिहासिक सिद्धांत है, जो यह मानता है कि कोई भी एक राज्य या गुट इतना शक्तिशाली नहीं होना चाहिए कि वह अन्य सभी पर अपनी इच्छा थोप सके। यह एक स्वतःस्फूर्त तंत्र के रूप में कार्य करता है, जिसके अंतर्गत जब कोई एक राष्ट्र या गठबंधन अत्यधिक शक्तिशाली होने लगता है और "संतुलन" को खतरे में डालता है, तो अन्य राज्य स्वाभाविक रूप से उसकी शक्ति का प्रतिकार करने के लिए आपस में गठबंधन बना लेते हैं।अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्थिरता बनाए रखना और किसी एक की प्रभुत्वकारी स्थिति को रोकना, जिससे सामूहिक सुरक्षा मिलती है। यह गठबंधन-निर्माण, गठबंधन-परिवर्तन, कूटनीतिक मोलभाव, सैन्य खर्च में वृद्धि, और कभी-कभी सीमित संघर्ष के माध्यम से कार्यान्वित होता है। कुछ ऐतिहासिक उदाहरण इस प्रकार हैं :-

i. **19वीं सदी का यूरोप -** नेपोलियन के फ्रांस के उदय के बाद, ब्रिटेन, रूस, प्रशिया और ऑस्ट्रिया जैसी यूरोपीय शक्तियों ने गठबंधन बनाकर शक्ति संतुलन को पुनर्स्थापित किया। वियना कांग्रेस (1815) के बाद की व्यवस्था स्पष्ट रूप से शक्ति संतुलन पर आधारित थी।
ii. **शीत युद्ध -** संयुक्त राज्य अमेरिका (नाटो गठबंधन) और सोवियत संघ (वारसॉ संधि) के बीच की द्विध्रुवीय व्यवस्था एक स्पष्ट शक्ति संतुलन थी, जहाँ दोनों महाशक्तियाँ एक-दूसरे को सीधे संघर्ष से रोकती थीं, जिससे "शांति" बनी रही।

महत्व एवं आलोचना - शक्ति-संतुलन ने बड़े युद्धों को रोकने में कई बार मदद की है। हालाँकि, इसकी आलोचना यह है कि यह शांति के बजाय केवल अस्थायी और नाजुक स्थिरता प्रदान करता है, जो कभी भी टूट सकती है। यह निरंतर शस्त्रीकरण और गुटबंदी को बढ़ावा देता है और छोटे देशों को महज मोहरे की तरह प्रयोग करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

6.7.2 शक्ति-शून्यता सिद्धांत (संक्रमणकालीन अराजकता का सिद्धांत)

शक्ति-शून्यता सिद्धांत उस स्थिति का वर्णन करता है जब कोई प्रमुख शक्ति किसी विशेष क्षेत्र या वैश्विक भू-राजनीतिक स्थान से अपना प्रभाव या नियंत्रण समाप्त कर देती है, लेकिन तुरंत कोई अन्य शक्ति उसकी जगह लेने में सक्षम नहीं होती। इससे एक शक्ति का खालीपन (Vacuum) पैदा हो जाता है। प्रकृति शून्यता को सहन नहीं करती यह शून्य अन्य महत्वाकांक्षी शक्तियों के बीच प्रभाव बढ़ाने की प्रतिस्पर्धा, होड़ और अक्सर प्रत्यक्ष संघर्ष को आमंत्रित करता है। यह सिद्धांत अक्सर साम्राज्यों के पतन या महाशक्तियों के किसी क्षेत्र से पीछे हटने के साथ जुड़ा होता है।इससे क्षेत्रीय अस्थिरता, प्रॉक्सी युद्ध (दूसरों के हाथों लड़े जाने वाले युद्ध), और नई गुटबंदी का जन्म होता है। इसका प्रमुख उदाहरण है :-

i. **मध्य-पूर्व में शीत युद्ध (आइजनहावर सिद्धारणा) -** 1956 के स्वेज संकट के बाद जब ब्रिटेन और फ्रांस का क्षेत्र में प्रभाव कम हुआ, तो अमेरिका और सोवियत संघ ने इजरायल, मिस्र, सीरिया आदि देशों

को सैन्य एवं आर्थिक सहायता देकर उस शून्य को भरने की होड़ शुरू कर दी। यह प्रतिस्पर्धा दशकों तक चली और क्षेत्र को अस्थिर बनाए रखा।

ii. **सोवियत संघ का पतन (1991) -** मध्य एशिया और पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभाव के अचानक समाप्त होने से कई नए स्वतंत्र देशों में शक्ति शून्यता पैदा हो गई। इसने अमेरिकी प्रभाव के विस्तार, नाटो के विस्तार, और रूस द्वारा अपने "निकट विदेश" में प्रभाव बनाए रखने के प्रयासों को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप जॉर्जिया (2008) और यूक्रेन (2014 से) में संघर्ष हुए।

iii. **अफगानिस्तान (2021) -** अमेरिकी सेनाओं की वापसी के बाद तालिबान का तेजी से उदय, क्षेत्र में चीन, रूस, पाकिस्तान और ईरान जैसी शक्तियों के बीच नई प्रतिस्पर्धा का एक समकालीन उदाहरण है।

शक्ति-संतुलन और शक्ति-शून्यता सिद्धांत दर्शाते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था गतिशील है और शक्ति का वितरण स्थिर नहीं रहता। जहाँ शक्ति-संतुलन स्थिति को संभालने का एक सक्रिय उपाय है, वहीं शक्ति-शून्यता अक्सर एक ऐसी निष्क्रिय स्थिति से उत्पन्न होती है जो नए संकटों को जन्म देती है।

6.8 शक्ति का समकालीन परिप्रेक्ष्य एवं महत्व

21वीं सदी में वैश्वीकरण, डिजिटलीकरण और अंतर्निर्भरता ने शक्ति के स्वरूप, धारकों और प्रयोग के तरीकों में गुणात्मक परिवर्तन ला दिया है। आज शक्ति का विश्लेषण करना पहले से कहीं अधिक जटिल और बहुआयामी हो गया है।

1. **गैर-राज्य अभिकर्ताओं का उदय -** पारंपरिक राज्य-केंद्रित मॉडल अब पूर्ण नहींरह गया है। कई गैर-राज्य अभिकर्ता अब महत्वपूर्ण शक्ति के धारक बन गए हैं जैसे :-
   - **बहुराष्ट्रीय निगम (MNCs) -** एपल, सऊदी अरामको या गाज़प्रोम जैसी कंपनियों का आर्थिक कारोबार कई देशों के सकल घरेलू उत्पाद से बड़ा है। वे निवेश, रोजगार और प्रौद्योगिकी के माध्यम से देशों की नीतियों को प्रभावित कर सकती हैं।
   - **अंतर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठन (INGOs) -** अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, या ग्रीनपीस जैसे संगठन वैश्विक नीतिगत ढाँचे को आकार देते हैं और जनमत को प्रभावित करते हैं।
   - **आतंकवादी संगठन एवं साइबर अपराधी गुट -** अल-कायदा या आईएसआईएस जैसे संगठनों ने दिखाया कि परंपरागत सैन्य शक्ति के बिना भी वे वैश्विक सुरक्षा को चुनौती दे सकते हैं और अंतर्राष्ट्रीय एजेंडा तय कर सकते हैं।
2. **साइबर एवं अंतरिक्ष क्षेत्र -** नए सामरिक दायरे डिजिटल युग में,शक्ति का विस्तार भौतिक क्षेत्र से आभासी क्षेत्र में हो गया है कुछ नयी प्रकार की शक्तियों का वर्चस्व बढ़ रहा है जैसे:-
   - **साइबर शक्ति -** किसी देश की साइबर हमले करने, साइबर हमलों का बचाव करने और साइबर मानदंडों को निर्धारित करने की क्षमता। साइबर जासूसी, महत्वपूर्ण बुनियादी ढाँचे (पावर ग्रिड, बैंकिंग)

पर हमले, और प्रोपेगेंडा फैलाना नई लड़ाई के मोर्चे हैं। राष्ट्र-राज्य अब "साइबर सेनाएँ" विकसित कर रहे हैं।

- **अंतरिक्ष शक्ति -** उपग्रहों पर नियंत्रण संचार, नेविगेशन (जीपीएस), बुद्धिमत्ता और हथियार मार्गदर्शन प्रणालियों पर नियंत्रण सुनिश्चित करता है। अंतरिक्ष को "चौथा युद्ध का क्षेत्र" माना जाने लगा है। अमेरिका, रूस, चीन और भारत जैसे देश अपनी अंतरिक्ष सैन्य क्षमताओं में निवेश कर रहे हैं।

3. **वैश्विक चुनौतियों पर नेतृत्व -**पारंपरिक सैन्य ,आर्थिक शक्ति अब उन देशों की प्रतिष्ठा निर्धारित नहीं करती जो वैश्विक सार्वजनिक वस्तुएँ प्रदान करते हैं। नई शक्ति का स्रोत वैश्विक समस्याओं का समाधान करने की क्षमता में निहित है। कुछ वैश्विक सामूहिक चुनौतियाँ इस प्रकार हैं :-
   - **जलवायु परिवर्तन एवं स्वच्छ ऊर्जा -** वह देश जो हरित प्रौद्योगिकी का नेतृत्व करता है, कार्बन उत्सर्जन कम करने के लिए नए मानदंड बनाता है, या विकासशील देशों को जलवायु वित्त उपलब्ध कराता है, वह महत्वपूर्ण मृदु और आर्थिक शक्ति अर्जित करता है।
   - **सार्वजनिक स्वास्थ्य -** कोविड-19 महामारी ने दिखाया कि वैक्सीन विकसित करने और वितरित करने की क्षमता (वैक्सीन कूटनीति) एक शक्तिशाली कूटनीतिक उपकरण हो सकती है।
   - **डिजिटल शासन और नैतिकता -** कृत्रिम बुद्धिमत्ता, डेटा गोपनीयता और इंटरनेट के नियमन पर मानदंड निर्धारित करने की दौर में, वह देश जो तकनीकी मानक तय करता है, उसकी संरचनात्मक शक्ति बढ़ जाती है।
4. **एक बहुध्रुवीय विश्व में पदानुक्रम -** शीत युद्ध केबाद के अमेरिकी प्रभुत्व (एकध्रुवीय क्षण) के बाद, विश्व एक अधिक बहुध्रुवीय व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है, जहाँ शक्ति कई केंद्रों में बँटी हुई है। इसने एक स्पष्ट पदानुक्रम को जन्म दिया है:
   - **वैश्विक शक्ति (Global Power) -** संयुक्त राज्य अमेरिका अभी भी सैन्य, आर्थिक, तकनीकी और सांस्कृतिक क्षमताओं के समग्र संयोजन में अग्रणी है।
   - **महाशक्तियाँ (Great Powers) -** चीन (आर्थिक और सैन्य शक्ति), रूस (सैन्य और ऊर्जा शक्ति) और एक सामूहिक इकाई के रूप में यूरोपीय संघ।
   - **क्षेत्रीय शक्तियाँ (Regional Powers) -** ये देश अपने-अपने भौगोलिक क्षेत्रों में प्रमुख प्रभाव रखते हैं और वैश्विक मामलों में अपनी आवाज उठाते हैं। इनमें भारत (दक्षिण एशिया), ब्राजील (दक्षिण अमेरिका), दक्षिण अफ्रीका (अफ्रीका), तुर्की और सऊदी अरब (मध्य-पूर्व), तथा ऑस्ट्रेलिया और इंडोनेशिया (इंडो-पैसिफिक) शामिल हैं।
   - **मध्यम एवं छोटी शक्तियाँ -** अन्य देश गठजोड़ बनाने, बहुपक्षवाद का लाभ उठाने या विशिष्ट क्षेत्रों में विशेषज्ञता विकसित करके अपने प्रभाव को अधिकतम करने की रणनीति अपनाते हैं।

6.9 . निष्कर्ष

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की अवधारणा समय की कसौटी पर खरी उतरी है और निरंतर विकसित हो रही है। यह केवल युद्ध जीतने या भूमि जीतने की क्षमता नहीं रह गई है। आज, शक्ति समान रूप से आर्थिक नेटवर्क बनाने, तकनीकी मानदंड तय करने, जनमत को आकार देने, वैश्विक संस्थाओं में प्रभाव डालने और विचारों के बाजार में सफलता पाने की क्षमता है।

हंस मोर्गेन्थाऊ के शक्ति-केंद्रित यथार्थवाद से लेकर जोसेफ नाये के सॉफ्ट पावर और सुसान स्ट्रेंज की संरचनात्मक शक्ति तक, सिद्धांतकारों ने शक्ति के बदलते चेहरे को समझाने का प्रयास किया है। शक्ति-संतुलन का पारंपरिक खेल अब साइबर स्पेस और अंतरिक्ष में भी खेला जा रहा है, जबकि शक्ति-शून्यता की गतिशीलता नए क्षेत्रीय संकटों को जन्म दे रही है।

निस्संदेह, 21वीं सदी में शक्ति अधिक विकेंद्रित, अधिक विविध और अधिक जटिल हो गई है। गैर-राज्य अभिकर्ता, डिजिटल प्लेटफॉर्म और वैश्विक चुनौतियाँ नए समीकरण पेश कर रहे हैं। फिर भी, राज्य अभी भी केंद्रीय अभिकर्ता बने हुए हैं, और शक्ति का संचय और प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का मूल मंत्र बना हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को समझने, राज्यों के व्यवहार की भविष्यवाणी करने और वैश्विक शांति एवं स्थिरता के मार्ग की कल्पना करने के लिए शक्ति की इस बहुआयामी अवधारणा को समझना आज भी उतना ही प्रासंगिक और अनिवार्य है जितना कि वेस्टफेलिया व्यवस्था के आरंभिक दिनों में था। शक्ति का विश्लेषण वैश्विक राजनीति की भाषा सीखने का पहला पाठ बना रहेगा।

6.10 शब्दावली

1. **अराजक व्यवस्था (Anarchy)** - अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में सर्वोच्च सत्ता का अभाव।
2. **सापेक्ष शक्ति (Relative Power)** - अन्य राज्यों की तुलना में किसी राज्य की शक्ति।
3. **हार्ड पावर (Hard Power)** - सैन्य बल व आर्थिक दबाव पर आधारित शक्ति।
4. **सॉफ्ट पावर (Soft Power)** - संस्कृति, मूल्य व आकर्षण के माध्यम से प्रभाव डालने की क्षमता।
5. **स्मार्ट पावर (Smart Power)** - हार्ड और सॉफ्ट पावर का संतुलित प्रयोग।
6. **संरचनात्मक शक्ति (Structural Power)** - वैश्विक नियमों और ढाँचों को निर्धारित करने की क्षमता।
7. **शक्ति-संतुलन (Balance of Power)** - किसी एक राज्य के प्रभुत्व को रोकने की व्यवस्था।
8. **शक्ति-शून्यता (Power Vacuum)** - किसी क्षेत्र में प्रभावशाली शक्ति के अभाव की स्थिति।

6.11 अभ्यास प्रश्न

1.अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की केंद्रीयता का प्रमुख कारण क्या है?

A. वैश्विक कानून की सर्वोच्चता B. अंतर्राष्ट्रीय अराजक व्यवस्था

C. सांस्कृतिक विविधता D. वैश्वीकरण

2.'शक्ति स्वयं में साध्य भी है और साधन भी'—यह विचार किस विद्वान से संबंधित है?

A. कैनेथ वाल्ट्ज B. जोसेफ नाये

C. हंस मोर्गेन्थाऊ D. सुसान स्ट्रेंज

3.'सॉफ्ट पावर' की अवधारणा किसने प्रतिपादित की?

A. एडवर्ड एच. कार B. जोसेफ नाये

C. स्टीफन क्रासनर D. जॉन गद्दीस

4. वैश्विक वित्तीय प्रणाली और मुद्रा व्यवस्था पर नियंत्रण किस प्रकार की शक्ति का उदाहरण है?

A. हार्ड पावर B. सॉफ्ट पावर

C. संरचनात्मक शक्ति D. सैन्य शक्ति

5. शक्ति-शून्यता सिद्धांत का प्रमुख परिणाम क्या होता है?

A. स्थायी शांति B. क्षेत्रीय सहयोग

C. प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष D. निरस्त्रीकरण

उत्तर: 1-B, 2-C, 3-B, 4-C, 5-C

6.12 संदर्भ ग्रंथ

1. Ideology and International Relations (विचारधारा और अंतर्राष्ट्रीय संबंध). (n.d.). Review essay. ScienceDirect. Elsevier Publications.
2. Ideology, Interests, and Foreign Policy (विचारधारा, हित एवं विदेश नीति). (n.d.). Research article. Journal of International Relations. JSTOR.
3. Baylis, J., Smith, S., & Owens, P. (Eds.). (2017). The globalization of world politics: An introduction to international relations (विश्व राजनीति का वैश्वीकरण: अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का परिचय). Oxford: Oxford University Press.
4. Heywood, A. (2014). Global politics (वैश्विक राजनीति). London: Palgrave Macmillan.

6.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति की अवधारणा को परिभाषित करते हुए उसके सापेक्ष, बहुआयामी एवं गतिशील स्वरूप की विवेचना कीजिए।
2. हंस मोर्गेन्थाऊ, कैनेथ वाल्ट्ज और जोसेफ नाये के शक्ति संबंधी दृष्टिकोणों की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. राष्ट्रीय शक्ति के मूर्त एवं अमूर्त तत्वों का विस्तार से विश्लेषण कीजिए।
4. शक्ति के विभिन्न प्रकारों हार्ड पावर, सॉफ्ट पावर, स्मार्ट पावर और संरचनात्मक शक्ति की समालोचनात्मक चर्चा कीजिए।

5. शक्ति-संतुलन एवं शक्ति-शून्यता सिद्धांतों की व्याख्या करते हुए समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में उनकी प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

6.14 सहायक पाठ्य सामग्री

1. मोर्गेन्थाऊ, हंस जे. (1948). पॉलिटिक्स अमंग नेशंस: द स्ट्रगल फॉर पावर एंड पीस. न्यूयॉर्क: ए.ए. नॉफ़।
2. कार, एडवर्ड हैलेट. (1939). द ट्वेंटी इयर्स क्राइसिस, 1919-1939: एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ़ इंटरनेशनल रिलेशंस. लंदन: मैकमिलन।
3. वाल्ट्ज, कैनेथ एन. (1979). थ्योरी ऑफ़ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स. रीडिंग, एमए: एडिसन-वेस्ले।
4. स्ट्रेंज, सुसान. (1996). द रिट्रीट ऑफ़ द स्टेट: द डिफ्यूज़न ऑफ़ पावर इन द वर्ल्ड इकॉनमी. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
5. नाये, जोसेफ एस. जूनियर. (2004). सॉफ्ट पावर: द मीन्स टू सक्सेस इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स. न्यूयॉर्क: पब्लिक अफेयर्स।

इकाई 7 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : बदलते स्वरूप

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 राष्ट्रीय शक्ति का महत्व

7.4 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व

7.5 राष्ट्रीय शक्ति के बदलते स्वरूप

7.5.1 अमेरिका और चीन: परंपरागत बनाम आधुनिक शक्ति

7.5.2 भारत और यूरोपीय संघ : राष्ट्रीय शक्ति के भिन्न दृष्टिकोण

7.5.3 छोटे देशों की सामरिक एवं सॉफ्ट पावर रणनीति

7.6 राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों में बदलाव का कारण

7.7 सारांश

7.7 अभ्यास प्रश्न

7.9 निबंधात्मक प्रश्न

7. 10 सन्दर्भ-सूची

7 .1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय शक्ति का अर्थ है किसी राष्ट्र की वह क्षमता, जिसके माध्यम से वह अन्य राष्ट्रों को प्रभावित कर सके। यह शक्ति राष्ट्र की आशाओं और महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने का एक उपकरण है, और इसी आधार पर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उसका स्थान, महत्व और प्रभाव निश्चित होता है। मार्गेन्थाऊ ने भी शक्ति को अंतरराष्ट्रीय राजनीति का केंद्रीय तत्व मानते हुए कहा है कि ''अंतरराष्ट्रीय राजनीति मूलतः शक्ति के लिए संघर्ष है, और किसी भी राष्ट्र का अंतरराष्ट्रीय उद्देश्य चाहे जो भी हो, उसका तत्काल लक्ष्य शक्ति प्राप्त करना होता है।''

जब कोई इकाई किसी दूसरी इकाई को प्रभावित करके उनसे अपना वांछित कार्य करा लेती है तथा अवांछित करने से रोक लेती है तो ऐसी इकाई को हम शक्ति सम्पन्न कहते हैं। इसी प्रकार यदि शक्ति को व्यक्तिगत संदर्भ में न लेकर राष्ट्रीय संदर्भ में ले तो इसे 'राष्ट्रीय शक्ति' कहतें हैं। प्रत्येक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों को बढ़ाने के लिए अधिकतम राष्ट्रीय शक्ति हासिल करने का प्रयास करता है। समस्या तब उत्पन्न होती है जब कोई राज्य अपने हितों की पूर्ति के

लिए पूरी तरह से दूसरे राज्यों की सुरक्षा की कीमत पर कार्य करता है। जब सभी राज्य अपने राष्ट्रीय हितों को अधिकतम करने का प्रयास करते हैं, तो प्रायः अंतरराष्ट्रीय शांति और सद्भाव को स्थापित करने में समस्या उत्पन्न होती है। इस चुनौती से निपटने के लिए अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था ने शक्ति संतुलन (Balance of Power – BOP) का तंत्र विकसित किया, जो युद्ध और संघर्ष के जोखिम को कम करने का एक साधन है। इसके अतिरिक्त, सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत भी अपनाया गया, जिसके तहत संयुक्त राष्ट्र चार्टर के माध्यम से आक्रामकता से बचाने के लिए एक राज्य की रक्षा में सभी सदस्य राज्य सामूहिक रूप से कार्य कर सकते हैं।

आर्गेन्सकी ए. एफ. के. अनुसार : " राष्ट्रीय शक्ति एक के अनुसार दूसरे के व्यवहार को प्रभावित करने की क्षमता है। चार्ल्स ने स्पष्ट किया है कि "एक व्यक्ति जो करना चाहता है उसे करने की क्षमता है और वह नहीं जो वह नहीं करना चाहता है।"

जॉर्ज श्वार्ज़ेनबर्गर के अनुसार : 'शक्ति अनुपालन के मामले में प्रभावी प्रतिबंधों पर भरोसे के द्वारा किसी की इच्छा को दूसरे पर थोपने की क्षमता है।"

विलियम एबेन्स्टीन के अनुसार , "राष्ट्रीय शक्ति जनसंख्या के योग, कच्चेपन और मात्रात्मक कारकों से कुछ अधिक है। इसमें नागरिक समर्पण, संस्थानों का लचीलापन, तकनीकी जानकारी, राष्ट्रीय चरित्र शामिल हैं। जो एक राष्ट्र की कुल ताकत का निर्धारण करता है।"

7.2 उद्देश्य

1. राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न आयामों को समझना
2. बदलती वैश्विक परिस्थितियों में राष्ट्रीय शक्ति के बदलते स्वरूप का विश्लेषण
3. राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों में बदलाव के कारणों की पड़ताल

7.3 राष्ट्रीय शक्ति का महत्व

किसी भी राष्ट्र के लिए अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति बिना शक्ति के संभव नहीं होती। जो राष्ट्र जितना अधिक शक्ति-सम्पन्न होता है, वह अपने हितों को उतनी ही प्रभावशीलता के साथ सुरक्षित और आगे बढ़ा पाता है। वास्तव में, राष्ट्रीय हितों में सबसे महत्वपूर्ण हित स्वयं राष्ट्रीय शक्ति को बनाए रखना और उसका विस्तार करना होता है, क्योंकि यही शक्ति राष्ट्र की आकांक्षाओं और दीर्घकालीन उद्देश्यों को पूरा करने का साधन बनती है। इसी कारण राष्ट्रीय शक्ति को अंतरराष्ट्रीय संबंधों की धुरी कहा जाता है। राष्ट्रीय शक्ति किसी भी देश की विदेश नीति का मूल आधार होती है। केवल वही राष्ट्र अपनी विदेश नीति के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रभाव डाल सकता है, जिसके पास पर्याप्त शक्ति हो। राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों की अन्य राष्ट्रों के साथ बातचीत, समझौते या टकराव की क्षमता भी काफी हद तक उनके राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, विदेश नीति की सफलता अंततः शक्ति की उपलब्धता और उसके विवेकपूर्ण प्रयोग से जुड़ी होती है। राष्ट्रीय शक्ति किसी राष्ट्र के लिए साधन और साध्य दोनों के रूप में कार्य करती है। एक ओर राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए शक्ति का प्रयोग साधन के रूप में करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे शक्ति को बनाए रखना और बढ़ाना भी चाहते हैं, ताकि भविष्य में अपनी सुरक्षा

और प्रभाव को सुनिश्चित कर सकें। वी. वी. डाइक के शब्दों में, "शक्ति राष्ट्र द्वारा प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्यों में सर्वोच्च स्थान रखती है और उन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने की विधियों की आधारशिला भी है।"

7.4 राष्ट्रीय शक्ति के तत्व

राष्ट्रीय शक्ति कोई एकल तत्व नहीं होती, बल्कि यह कई परस्पर जुड़े कारकों से मिलकर बनती है। अलग–अलग विद्वानों ने इन कारकों को समझाने और वर्गीकृत करने के लिए विभिन्न ढाँचे प्रस्तुत किए हैं। हंस मार्गेन्थाऊ ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को स्थायी और अस्थायी तत्वों में विभाजित किया। उनके अनुसार कुछ तत्व अपेक्षाकृत स्थिर होते हैं, जैसे भूगोल, जबकि कुछ तत्व समय और परिस्थितियों के साथ बदलते रहते हैं, जैसे नेतृत्व और कूटनीतिक कौशल।

ऑर्गास्की ने राष्ट्रीय शक्ति को दो व्यापक श्रेणियों में वर्गीकृत किया—प्राकृतिक निर्धारक और सामाजिक निर्धारक। प्राकृतिक निर्धारकों में भूगोल, प्राकृतिक संसाधन और जनसंख्या शामिल हैं, जो किसी राष्ट्र को प्राकृतिक रूप से प्राप्त होते हैं। वहीं सामाजिक निर्धारकों में आर्थिक विकास का स्तर, राजनीतिक संरचना और राष्ट्रीय मनोबल जैसे तत्व आते हैं, जो समाज और शासन व्यवस्था के माध्यम से विकसित होते हैं। पामर और पर्किन्स सहित कई विद्वान राष्ट्रीय शक्ति के मूर्त और अमूर्त तत्वों के बीच भेद करते हैं। मूर्त तत्व वे होते हैं, जिन्हें मात्रात्मक रूप में मापा जा सकता है, जैसे आर्थिक विकास, प्राकृतिक संसाधन, भूगोल, जनसंख्या, औद्योगिक क्षमता और प्रौद्योगिकी। इसके विपरीत, अमूर्त तत्व वे होते हैं, जिनका सीधा मापन संभव नहीं होता, लेकिन जिनका प्रभाव अत्यंत गहरा होता है। इनमें विचारधारा, राष्ट्रीय मनोबल, नेतृत्व की गुणवत्ता, व्यक्तित्व, संगठनात्मक क्षमता और कूटनीति की प्रभावशीलता शामिल हैं।

सार रूप में कहा जाए तो राष्ट्रीय शक्ति के प्रमुख तत्वों में भूगोल; प्राकृतिक संसाधन, विशेषकर कच्चा माल और खाद्य संसाधन; जनसंख्या; आर्थिक विकास और औद्योगिक क्षमता; प्रौद्योगिकी; सैन्य तैयारी; विचारधारा; नेतृत्व और शासन की गुणवत्ता; राष्ट्रीय चरित्र एवं मनोबल; तथा कूटनीति जैसे कारक सम्मिलित होते हैं। ये सभी तत्व मिलकर यह निर्धारित करते हैं कि कोई राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में कितनी प्रभावी भूमिका निभा सकता है।

जनसंख्या - जनसंख्या किसी भी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति का एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व होती है। केवल बड़ी जनसंख्या होना अपने आप में शक्ति का संकेत नहीं है; वास्तविक शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वह जनसंख्या कितनी सशक्त, शिक्षित और उत्पादक है। जिस देश की जनसंख्या आलसी, अनपढ़, अक्षम, बेरोजगार और अकुशल होती है, वह न तो आर्थिक विकास की गति बनाए रख सकता है और न ही अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रभावशाली भूमिका निभा सकता है। ऐसी जनसंख्या राष्ट्र के लिए संपत्ति के बजाय बोझ बन जाती है।

इसके विपरीत, यदि किसी देश की जनसंख्या मजबूत, स्वस्थ, अनुशासित, साक्षर, प्रशिक्षित और कुशल हो, तो वह राष्ट्र के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास को गति प्रदान करती है। कुशल मानव संसाधन औद्योगिक उत्पादन, तकनीकी नवाचार, प्रशासनिक दक्षता और सैन्य क्षमता सभी को सुदृढ़ करते हैं, जिससे राष्ट्रीय शक्ति में निरंतर वृद्धि होती है।

मानव संसाधन विकास में किया गया निवेश—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, कौशल विकास और रोजगार सृजन—किसी भी राज्य की राष्ट्र निर्माण के प्रति प्रतिबद्धता का स्पष्ट संकेत होता है। यह निवेश न केवल आंतरिक स्थिरता और

विकास को बढ़ावा देता है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र की प्रतिष्ठा और प्रभाव को भी मजबूत करता है। इस प्रकार, जनसंख्या की गुणवत्ता, न कि केवल उसकी संख्या, किसी राष्ट्र की वास्तविक शक्ति का निर्धारण करती है।

भूगोल - भूगोल राष्ट्रीय शक्ति के निर्धारकों में सबसे अधिक स्थायी, मूर्त, प्राकृतिक और अपेक्षाकृत अपरिवर्तनीय तत्व है। भूगोल के महत्व को रेखांकित करते हुए नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा था कि किसी देश की विदेश नीति उसके भूगोल से निर्धारित होती है। राष्ट्रीय शक्ति के संदर्भ में भूगोल को समझने के लिए किसी देश के आकार, स्थान, जलवायु, स्थलाकृति और सीमाओं के महत्व को समझना आवश्यक है।

आकार- किसी देश का बड़ा भौगोलिक आकार बाहरी आक्रमण की स्थिति में पीछे हटकर रक्षा करने की रणनीति को संभव बनाता है। साथ ही, यह अधिक प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता, बड़ी जनसंख्या के समायोजन और बड़े औद्योगिक परिसरों की स्थापना में सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए, चीन का विशाल क्षेत्रफल उसे विविध प्राकृतिक संसाधन, व्यापक कृषि क्षेत्र और औद्योगिक विस्तार की सुविधा प्रदान करता है। हालाँकि, बड़ा आकार हमेशा शक्ति का पर्याय नहीं होता। विशाल क्षेत्र के बावजूद यदि संसाधनों की कमी, प्रतिकूल जलवायु या प्रशासनिक अक्षमता हो, तो आकार विकास में बाधा भी बन सकता है। इसके विपरीत, अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्रफल वाला भारत, अपने आकार की सीमाओं के बावजूद, आर्थिक, सैन्य और कूटनीतिक क्षमता के बल पर एशिया में एक प्रभावशाली शक्ति के रूप में उभरा है। इससे स्पष्ट होता है कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों में केवल आकार ही निर्णायक नहीं होता।

स्थान- किसी देश का भौगोलिक स्थान उसकी सुरक्षा, विदेश नीति और आर्थिक संभावनाओं को गहराई से प्रभावित करता है। भारत का हिंद महासागर क्षेत्र में स्थित होना उसे समुद्री व्यापार, ऊर्जा मार्गों और सामरिक समुद्री सुरक्षा के संदर्भ में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है। यही कारण है कि भारत की विदेश नीति में हिंद महासागर क्षेत्र को विशेष प्राथमिकता दी जाती है। इसी प्रकार, चीन का पूर्वी एशिया में स्थित होना और उसका प्रशांत महासागर तक सीमित समुद्री पहुँच उसे क्षेत्रीय और वैश्विक शक्ति बनने के लिए प्रेरित करती है, जिसके परिणामस्वरूप दक्षिण चीन सागर में उसका बढ़ता प्रभाव देखा जा सकता है।

जलवायु - जलवायु किसी देश की कृषि, खाद्य उत्पादन, आर्थिक गतिविधियों और सांस्कृतिक विकास को सीधे प्रभावित करती है। अत्यधिक कठोर जलवायु विकास में बाधक सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए, मध्य एशिया और तिब्बती पठार की कठोर जलवायु ने वहाँ जनसंख्या घनत्व और आर्थिक विकास को सीमित रखा है। इसके विपरीत, भारत का विविध और अपेक्षाकृत अनुकूल जलवायु स्वरूप कृषि आधारित अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक विविधता के विकास में सहायक रहा है।

स्थलाकृति- किसी देश की स्थलाकृति उसकी सुरक्षा और विस्तार की संभावनाओं को प्रभावित करती है। पर्वत, समुद्र और रेगिस्तान प्राकृतिक सुरक्षा कवच का कार्य करते हैं। हिमालय पर्वत श्रृंखला भारत के लिए एक प्राकृतिक सुरक्षा दीवार के रूप में कार्य करती है, जिसने ऐतिहासिक रूप से बाहरी आक्रमणों को सीमित किया है। इसी प्रकार, दक्षिण एशिया के चारों ओर समुद्री विस्तार ने भारत को समुद्री शक्ति बनने की संभावनाएँ प्रदान की हैं।

सीमाएँ - किसी देश की सीमाएँ भी उसकी राष्ट्रीय शक्ति को प्रभावित करती हैं। प्राकृतिक सीमाएँ—जैसे पर्वत और नदियाँ—अक्सर स्थिर और सहयोगपूर्ण संबंधों को बढ़ावा देती हैं। इसके विपरीत, कृत्रिम और अस्पष्ट सीमाएँ संघर्ष का कारण बनती हैं। भारत–चीन सीमा विवाद इसका स्पष्ट उदाहरण है, जहाँ प्राकृतिक स्पष्टता के अभाव ने लंबे

समय से तनाव को जन्म दिया है, जिससे दोनों देशों की सुरक्षा और संसाधनों पर दबाव पड़ा है। इस प्रकार, भूगोल राष्ट्रीय शक्ति का एक मूलभूत तत्व है, जो किसी राष्ट्र की सुरक्षा, नीति-निर्धारण और अंतरराष्ट्रीय भूमिका को गहराई से प्रभावित करता है, भले ही वह अकेला निर्णायक कारक न हो।

प्राकृतिक संसाधन - प्राकृतिक संसाधनों में आत्मनिर्भरता किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास और राष्ट्रीय शक्ति के सुदृढ़ीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जिन देशों के पास पर्याप्त और विविध प्राकृतिक संसाधन होते हैं, वे भोजन उत्पादन, औद्योगिक विकास, कृषि विस्तार और सैन्य शक्ति निर्माण में अधिक स्वतंत्र और सक्षम होते हैं। संसाधनों में आत्मनिर्भरता न केवल आर्थिक स्थिरता प्रदान करती है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय दबावों और बाहरी निर्भरता को भी कम करती है।

हंस मोरगेंथाउ ने राष्ट्रीय शक्ति के संदर्भ में प्राकृतिक संसाधनों के महत्व को विशेष रूप से रेखांकित किया और उन्हें दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया—कच्चा माल और भोजन। कच्चे माल में वे संसाधन शामिल हैं, जो औद्योगिक और सैन्य उत्पादन की आधारशिला होते हैं। इन्हें तीन वर्गों में समझा जा सकता है। पहला, खनिज संसाधन, जैसे कोयला, पेट्रोलियम, लोहा, तांबा, जस्ता और मैंगनीज, जो ऊर्जा उत्पादन, भारी उद्योग और रक्षा क्षेत्र के लिए आवश्यक होते हैं। दूसरा, प्राकृतिक उत्पाद, जैसे रबर, जूट, बांस और लकड़ी, जो औद्योगिक कच्चे माल के साथ-साथ ग्रामीण अर्थव्यवस्था को भी समर्थन देते हैं। तीसरा, पशु उत्पाद, जैसे मांस, दूध, अंडे, ऊन और रेशम, जो पोषण, वस्त्र उद्योग और निर्यात की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। राष्ट्रीय शक्ति के एक निर्णायक तत्व के रूप में भोजन के महत्व पर मोरगेंथाउ ने विशेष बल दिया। उनके अनुसार, "भोजन में आत्मनिर्भर राष्ट्र की स्थिति उन देशों की तुलना में कहीं अधिक सुदृढ़ होती है, जो भोजन आयात पर निर्भर होते हैं।" भोजन की कमी किसी राष्ट्र को न केवल आर्थिक रूप से कमजोर बनाती है, बल्कि उसे राजनीतिक और कूटनीतिक दबावों के प्रति भी संवेदनशील बना देती है।

भारत का अनुभव इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 1950 और 1960 के दशकों में खाद्यान्न की गंभीर कमी के कारण भारत को बड़े पैमाने पर अमेरिका से खाद्य सहायता पर निर्भर रहना पड़ा। इस निर्भरता का उपयोग पश्चिमी देशों ने भारतीय नीति को प्रभावित करने के लिए भी किया। किंतु 1970 के दशक में हरित क्रांति के माध्यम से कृषि उत्पादन में हुई वृद्धि ने भारत को खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाया। इस आत्मनिर्भरता ने न केवल ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सशक्त किया, बल्कि भारत को अपनी राष्ट्रीय शक्ति को स्वतंत्र रूप से विकसित करने का अवसर भी प्रदान किया। इस प्रकार, प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता और उनका विवेकपूर्ण उपयोग किसी राष्ट्र की आर्थिक स्वतंत्रता, रणनीतिक स्वायत्तता और अंतरराष्ट्रीय प्रभाव को सुदृढ़ करने में निर्णायक भूमिका निभाता है। प्राकृतिक संसाधन केवल भौतिक संपत्ति नहीं होते, बल्कि वे राष्ट्रीय शक्ति की आधारशिला होते हैं।

आर्थिक विकास

किसी राष्ट्र का आर्थिक विकास स्तर उसकी राष्ट्रीय शक्ति का एक निर्णायक निर्धारक होता है। आर्थिक रूप से सशक्त राष्ट्र न केवल अपनी सैन्य क्षमता का निर्माण कर सकता है, बल्कि अपने नागरिकों के कल्याण, स्वास्थ्य और समृद्धि को भी सुनिश्चित कर सकता है। एक विकसित, स्थिर और निरंतर बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में प्रभाव और विश्वसनीयता पैदा करती है। ऐसे राष्ट्र अपने अंतरराष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आर्थिक साधनों—जैसे विदेशी सहायता, ऋण, व्यापार, निवेश, बाजार पहुँच और अनुदान—का प्रभावी उपयोग कर पाते हैं। समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक शक्ति का उपयोग प्रभाव के एक उपकरण के रूप में स्पष्ट

रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका अक्सर विकास सहायता, व्यापार समझौतों और बाजार पहुँच को विदेश नीति के साधन के रूप में प्रयोग करता है। अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ जैसे अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और विश्व बैंक औपचारिक रूप से बहुपक्षीय संस्थाएँ हैं, किंतु व्यवहार में उनकी ऋण और सहायता नीतियाँ प्रमुख आर्थिक शक्तियों, विशेषकर अमेरिका, की रणनीतिक प्राथमिकताओं से प्रभावित रहती हैं। इसके विपरीत, जो देश आर्थिक रूप से कमजोर, ऋणग्रस्त और अविकसित होते हैं, उनकी विदेश नीति विकल्प सीमित हो जाते हैं और वे बाहरी दबावों के प्रति अधिक संवेदनशील बनते हैं।

औद्योगिक क्षमता

औद्योगिक क्षमता आर्थिक विकास की रीढ़ होती है। प्रौद्योगिकी और औद्योगिकीकरण के माध्यम से ही किसी राष्ट्र की उत्पादन क्षमता, रोजगार सृजन और सैन्य आत्मनिर्भरता संभव होती है। जिस देश के पास मजबूत और विविध औद्योगिक आधार होता है, उसके पास महाशक्ति बनने की वास्तविक संभावना होती है। यही कारण है कि संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, जर्मनी, जापान, फ्रांस और ब्रिटेन जैसी शक्तियाँ वैश्विक व्यवस्था में प्रभावशाली भूमिका निभाती हैं। आज के संदर्भ में चीन का उदाहरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पिछले चार दशकों में उसने औद्योगिक उत्पादन, विनिर्माण और निर्यात के माध्यम से स्वयं को "विश्व की फैक्ट्री" के रूप में स्थापित किया है। इसके परिणामस्वरूप चीन ने न केवल आर्थिक शक्ति अर्जित की, बल्कि वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाओं पर भी गहरा प्रभाव स्थापित किया। इसके विपरीत, भारत के पास प्राकृतिक संसाधनों की पर्याप्त उपलब्धता होने के बावजूद, लंबे समय तक कमजोर औद्योगिक आधार के कारण उसका विकास अपेक्षाकृत धीमा रहा। हालाँकि हाल के वर्षों में "मेक इन इंडिया" और उत्पादन-आधारित प्रोत्साहन (PLI) जैसी पहलों के माध्यम से औद्योगिक क्षमता को मजबूत करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

आज औद्योगिक शक्ति को केवल पारंपरिक कारखानों तक सीमित नहीं माना जाता। विश्लेषक अब 'ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था' (Knowledge Economy) के निर्माण पर बल देते हैं, जहाँ नवाचार, अनुसंधान और उच्च कौशल वाली श्रम शक्ति निर्णायक भूमिका निभाती है।

प्रौद्योगिकी

प्रौद्योगिकी आधुनिक युग में राष्ट्रीय शक्ति का सबसे गतिशील और निर्णायक तत्व बनकर उभरी है। विकसित तकनीकी क्षमता न केवल औद्योगिक और सैन्य शक्ति को बढ़ाती है, बल्कि परिवहन, संचार, स्वास्थ्य, शिक्षा और समग्र मानव विकास को भी गति देती है। सूचना प्रौद्योगिकी, परमाणु तकनीक, अंतरिक्ष तकनीक और मिसाइल प्रणाली आज अंतरराष्ट्रीय संबंधों में शक्ति और प्रभाव के प्रमुख स्रोत बन चुके हैं। समकालीन उदाहरणों में, अमेरिका की तकनीकी बढ़त उसे वैश्विक डिजिटल अर्थव्यवस्था, रक्षा उद्योग और अंतरिक्ष अनुसंधान में अग्रणी बनाए हुए है। चीन भी कृत्रिम मेधा (Artificial Intelligence), 5G तकनीक और क्वांटम कंप्यूटिंग जैसे क्षेत्रों में तेजी से क्षमता विकसित कर रहा है। भारत, अपनी अंतरिक्ष तकनीक, डिजिटल सार्वजनिक अवसंरचना और सूचना प्रौद्योगिकी सेवाओं के माध्यम से, सीमित संसाधनों के बावजूद तकनीकी शक्ति के एक नए मॉडल को प्रस्तुत कर रहा है। राष्ट्रीय शक्ति तब और सुदृढ़ होती है जब कोई देश उच्च तकनीकी और औद्योगिक वस्तुओं के लिए आयात पर निर्भर रहने के बजाय स्वदेशी उत्पादन और नवाचार को बढ़ावा देता है। चौथी औद्योगिक क्रांति—जिसमें कृत्रिम मेधा, स्वचालन, रोबोटिक्स और डेटा आधारित प्रणालियाँ शामिल हैं—ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भविष्य की शक्ति उन्हीं राष्ट्रों के हाथ में होगी, जो तकनीक और औद्योगिक क्षमता के क्षेत्र में आत्मनिर्भर और नवोन्मेषी होंगे।

7.5 राष्ट्रीय शक्ति के बदलते स्वरूप

7.5.1 अमेरिका और चीन: परंपरागत बनाम आधुनिक शक्ति

अमेरिका और चीन का उदाहरण राष्ट्रीय शक्ति के बदलते स्वरूप को समझने के लिए अत्यंत उपयुक्त है। अमेरिका लंबे समय तक परंपरागत शक्ति के मॉडल का प्रतिनिधि रहा है, जिसमें सैन्य क्षमता, वैश्विक सैन्य अड्डे, परमाणु शक्ति और आर्थिक प्रभुत्व केंद्रीय तत्व रहे हैं। शीत युद्ध के बाद अमेरिका ने स्वयं को एकमात्र महाशक्ति के रूप में स्थापित किया, जहाँ उसकी शक्ति का आधार सैन्य वर्चस्व के साथ-साथ डॉलर आधारित वैश्विक वित्तीय व्यवस्था, अंतरराष्ट्रीय संस्थानों पर प्रभाव और सांस्कृतिक प्रभुत्व था। हॉलीवुड, मीडिया, विश्वविद्यालय और तकनीकी कंपनियाँ अमेरिकी सॉफ्ट पावर के प्रमुख स्रोत बने। इसके विपरीत, चीन ने अपेक्षाकृत भिन्न मार्ग अपनाया। चीन की शक्ति का उदय मुख्यतः आधुनिक और संरचनात्मक शक्ति के रूप में हुआ है। उसने प्रत्यक्ष सैन्य टकराव से बचते हुए आर्थिक विकास, औद्योगिक उत्पादन, वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाओं और अवसंरचना निवेश पर ध्यान केंद्रित किया। बेल्ट एंड रोड इनिशिएटिव (BRI) के माध्यम से चीन एशिया, अफ्रीका और यूरोप में आर्थिक निर्भरता का एक नया नेटवर्क खड़ा कर रहा है। जहाँ अमेरिका शक्ति के प्रदर्शन और हस्तक्षेप पर अधिक निर्भर रहा है, वहीं चीन शक्ति के उपयोग में दीर्घकालिक रणनीति, आर्थिक आकर्षण और तकनीकी आत्मनिर्भरता पर बल देता है। कृत्रिम मेधा, 5G, हरित ऊर्जा और डिजिटल भुगतान प्रणालियों में चीन का निवेश यह दर्शाता है कि आधुनिक राष्ट्रीय शक्ति अब केवल सैन्य क्षमता तक सीमित नहीं रही। इस प्रकार, अमेरिका परंपरागत हार्ड पावर और सॉफ्ट पावर के मिश्रण का प्रतिनिधि है, जबकि चीन राष्ट्रीय शक्ति के उस नए स्वरूप को दर्शाता है, जहाँ आर्थिक संरचना, तकनीक और रणनीतिक धैर्य निर्णायक बनते जा रहे हैं।

7.5.2 भारत और यूरोपीय संघ : राष्ट्रीय शक्ति के भिन्न दृष्टिकोण

भारत और यूरोपीय संघ राष्ट्रीय शक्ति के दो अलग-अलग लेकिन महत्वपूर्ण मॉडल प्रस्तुत करते हैं। भारत एक उभरती हुई शक्ति है, जिसकी राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप धीरे-धीरे परंपरागत सुरक्षा चिंताओं से आगे बढ़कर आर्थिक, तकनीकी और कूटनीतिक आयामों को समाहित कर रहा है। भारत की शक्ति का आधार उसकी विशाल जनसंख्या, लोकतांत्रिक व्यवस्था, बढ़ती अर्थव्यवस्था और रणनीतिक भूगोल है। हाल के वर्षों में भारत ने "रणनीतिक स्वायत्तता" को अपनी विदेश नीति का मूल सिद्धांत बनाया है, जिसमें वह किसी एक शक्ति गुट पर निर्भर हुए बिना बहुध्रुवीय विश्व में अपनी भूमिका तय करता है।

यूरोपीय संघ, इसके विपरीत, एक विशिष्ट शक्ति संरचना का उदाहरण है। यह एक संप्रभु राष्ट्र नहीं, बल्कि राज्यों का संघ है, जिसकी शक्ति सैन्य से अधिक आर्थिक, नियामक और मानक-निर्माण क्षमता में निहित है। यूरोपीय संघ वैश्विक व्यापार नियमों, पर्यावरण मानकों, मानवाधिकार और डेटा संरक्षण जैसे क्षेत्रों में प्रभाव डालता है। उसकी शक्ति टैंकों और मिसाइलों से कम, और नियमों, संस्थाओं और मूल्यों से अधिक संचालित होती है। भारत जहाँ सुरक्षा, क्षेत्रीय स्थिरता और विकास को साथ लेकर चलने की कोशिश करता है, वहीं यूरोपीय संघ संघर्ष के बजाय सहयोग, बहुपक्षवाद और अंतरराष्ट्रीय कानून पर जोर देता है। भारत की सॉफ्ट पावर योग, संस्कृति, प्रवासी भारतीयों और लोकतांत्रिक छवि से आती है, जबकि यूरोपीय संघ की सॉफ्ट पावर उसके सामाजिक मॉडल और कल्याणकारी मूल्यों में निहित है। इन दोनों के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग में राष्ट्रीय शक्ति का कोई एकमात्र मॉडल नहीं है। शक्ति अब इतिहास, भूगोल और राजनीतिक संरचना के अनुसार अलग-अलग रूप ग्रहण कर रही है।

7.5.3 छोटे देशों की सामरिक एवं सॉफ्ट पावर रणनीति

राष्ट्रीय शक्ति के बदलते स्वरूप को समझने में छोटे देशों की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। पारंपरिक दृष्टिकोण के अनुसार, छोटे देशों की सीमित जनसंख्या, क्षेत्रफल और सैन्य क्षमता उन्हें कमजोर बनाती है। किंतु समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अनेक छोटे देशों ने यह सिद्ध किया है कि रणनीतिक बुद्धिमत्ता और सॉफ्ट पावर के माध्यम से भी प्रभावी शक्ति अर्जित की जा सकती है। उदाहरण के लिए, सिंगापुर ने अपनी भौगोलिक सीमाओं के बावजूद व्यापार, वित्त, बंदरगाह प्रबंधन और प्रशासनिक दक्षता के बल पर वैश्विक महत्व प्राप्त किया है। उसकी शक्ति सैन्य विस्तार में नहीं, बल्कि आर्थिक विश्वसनीयता, कुशल शासन और कूटनीतिक संतुलन में निहित है। इसी प्रकार, कतर जैसे छोटे देश ने ऊर्जा संसाधनों, मीडिया (अल-जज़ीरा) और मध्यस्थ कूटनीति के माध्यम से क्षेत्रीय और वैश्विक पहचान बनाई है। छोटे देशों की सामरिक रणनीति अक्सर प्रत्यक्ष टकराव से बचने, बहुपक्षीय संस्थाओं में सक्रिय भूमिका निभाने और अंतरराष्ट्रीय कानून के सहारे अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने पर आधारित होती है। वहीं उनकी सॉफ्ट पावर रणनीति शिक्षा, संस्कृति, खेल, मानवीय सहायता और मध्यस्थता जैसे क्षेत्रों पर केंद्रित रहती है। इससे स्पष्ट होता है कि बदलती अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में शक्ति अब केवल आकार या सैन्य बल का पर्याय नहीं रही। छोटे देश यह दिखा रहे हैं कि चतुर कूटनीति, विशिष्ट पहचान और वैश्विक नेटवर्किंग के माध्यम से भी राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण संभव है।

7.6 राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों में बदलाव का कारण

राष्ट्रीय शक्ति में परिवर्तन के पीछे सबसे महत्वपूर्ण कारण अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली की संरचना में आया बदलाव है। शीत युद्ध के दौरान जहाँ शक्ति मुख्यतः राज्यों के बीच सैन्य और वैचारिक प्रतिस्पर्धा के रूप में परिभाषित होती थी, वहीं आज की अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था बहुस्तरीय और संस्थागत हो चुकी है। संयुक्त राष्ट्र, विश्व व्यापार संगठन, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक तथा क्षेत्रीय संगठनों ने राज्य की स्वायत्तता को पूरी तरह समाप्त किए बिना उसकी कार्यक्षमता और प्रभाव के तरीकों को पुनर्परिभाषित किया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, वैश्विक वित्तीय संस्थान और अंतरराष्ट्रीय मानक निर्धारक संस्थाएँ अब नीति निर्माण और वैश्विक संसाधनों के वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं, जिससे पारंपरिक राज्य-केन्द्रित शक्ति अवधारणा कमजोर हुई है।

इसके साथ ही विश्व अर्थव्यवस्था में शक्ति संतुलन का परिवर्तन राष्ट्रीय शक्ति के स्वरूप को गहराई से प्रभावित कर रहा है। पश्चिमी औद्योगिक देशों के वर्चस्व के स्थान पर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के उभरते अर्थतंत्र वैश्विक विकास के नए केंद्र बन रहे हैं। चीन, भारत, ब्राज़ील और दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की आर्थिक वृद्धि ने वैश्विक उत्पादन, व्यापार और निवेश के प्रवाह को पुनर्संरचित किया है। आर्थिक शक्ति अब केवल सैन्य प्रभुत्व का समर्थन करने वाला तत्व नहीं रही, बल्कि अपने आप में कूटनीतिक प्रभाव और रणनीतिक दबाव का साधन बन गई है। राष्ट्रीय शक्ति में बदलाव का एक अन्य प्रमुख कारण नव-उभरते राज्यों और शक्तिशाली गैर-राज्य अभिनेताओं का उदय है। आज आतंकवादी संगठन, अंतरराष्ट्रीय एनजीओ, मीडिया नेटवर्क, तकनीकी कंपनियाँ और साइबर स्पेस में सक्रिय समूह राज्य की शक्ति को चुनौती देने या पूरक करने की स्थिति में हैं। ये अभिनेता सीमाओं से परे कार्य करते हैं और पारंपरिक सैन्य या कूटनीतिक साधनों से नियंत्रित नहीं किए जा सकते। इससे शक्ति का विकेंद्रीकरण हुआ है और राष्ट्रीय सुरक्षा की अवधारणा अधिक जटिल बनी है।

अंततः वैश्विक संकट और चुनौतियाँ राष्ट्रीय शक्ति के पारंपरिक मापदंडों को असंगत सिद्ध कर रही हैं। आर्थिक मंदी, कोविड-19 जैसी महामारी और जलवायु परिवर्तन ने यह स्पष्ट किया है कि सैन्य बल या आर्थिक आकार अकेले किसी राष्ट्र को सुरक्षित नहीं बना सकते। संकट प्रबंधन क्षमता, सामाजिक स्थिरता, वैज्ञानिक आधार, पर्यावरणीय उत्तरदायित्व और वैश्विक सहयोग अब राष्ट्रीय शक्ति के नए संकेतक बनते जा रहे हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति अब प्रभुत्व से अधिक अनुकूलन, सहयोग और लचीलापन दर्शाने वाली अवधारणा के रूप में विकसित हो रही है।

7.7 सारांश

इस अध्याय में राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों और उनके बदलते स्वरूप का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय शक्ति कोई एकांगी या स्थिर अवधारणा नहीं है, बल्कि यह विभिन्न भौतिक और अमूर्त कारकों के जटिल अंतर्संबंध से निर्मित होती है। भूगोल, प्राकृतिक संसाधन, जनसंख्या, आर्थिक विकास, औद्योगिक क्षमता और सैन्य शक्ति जैसे परंपरागत तत्व लंबे समय तक राष्ट्रीय शक्ति की रीढ़ रहे हैं। किंतु समकालीन अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में इनके साथ-साथ विचारधारा, नेतृत्व, राष्ट्रीय मनोबल, कूटनीति, प्रौद्योगिकी और सॉफ्ट पावर जैसे अमूर्त तत्व भी समान रूप से महत्वपूर्ण हो गए हैं। इससे राष्ट्रीय शक्ति की बहुआयामी प्रकृति स्पष्ट होती है, जहाँ किसी एक तत्व की प्रधानता के बजाय समग्र संतुलन निर्णायक बन गया है। अध्याय यह भी रेखांकित करता है कि परंपरागत और आधुनिक तत्वों के बीच संतुलन बनाए बिना राष्ट्रीय शक्ति को समझना अधूरा होगा। सैन्य क्षमता, भू-रणनीतिक स्थिति और प्राकृतिक संसाधन आज भी महत्वपूर्ण हैं, किंतु वे अकेले किसी राष्ट्र को प्रभावशाली नहीं बना सकते। आर्थिक विकास, औद्योगिक आधार, तकनीकी नवाचार और ज्ञान-आधारित अर्थव्यवस्था ने शक्ति की परिभाषा को व्यापक बनाया है। अमेरिका और चीन के उदाहरण यह दर्शाते हैं कि जहाँ परंपरागत सैन्य शक्ति अभी भी प्रासंगिक है, वहीं आर्थिक संरचना, वैश्विक आपूर्ति श्रृंखलाएँ और तकनीकी बढ़त आधुनिक शक्ति के नए आयाम बन चुके हैं। इसी प्रकार भारत और यूरोपीय संघ के दृष्टांत यह स्पष्ट करते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप ऐतिहासिक अनुभव, राजनीतिक संरचना और रणनीतिक प्राथमिकताओं के अनुसार भिन्न हो सकता है।

अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि बदलती वैश्विक परिस्थितियों में राष्ट्रीय शक्ति का भविष्य अधिक गतिशील, बहुस्तरीय और संदर्भ-आधारित होगा। वैश्वीकरण, बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था, चौथी औद्योगिक क्रांति और गैर-राज्य अभिनेताओं के उभार ने पारंपरिक शक्ति संरचनाओं को चुनौती दी है। अब केवल बड़े क्षेत्रफल या विशाल सैन्य बल वाले राष्ट्र ही प्रभावशाली नहीं माने जाते; बल्कि वे देश भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं, जो तकनीक, कूटनीति, नवाचार और सॉफ्ट पावर का कुशल उपयोग कर रहे हैं। छोटे देशों के उदाहरण यह दिखाते हैं कि सीमित संसाधनों के बावजूद रणनीतिक बुद्धिमत्ता और अंतरराष्ट्रीय सहयोग के माध्यम से राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण संभव है। अंततः यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप निरंतर परिवर्तनशील है। भविष्य में वही राष्ट्र अधिक प्रभावशाली होंगे जो परंपरागत शक्ति तत्वों को नज़रअंदाज़ किए बिना आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं को ढाल सकें। राष्ट्रीय शक्ति अब केवल प्रभुत्व या दबाव का साधन नहीं, बल्कि स्थिरता, सहयोग और दीर्घकालिक प्रभाव का माध्यम बनती जा रही है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अध्ययन न केवल अंतरराष्ट्रीय संबंधों को समझने के लिए आवश्यक है, बल्कि वैश्विक राजनीति की दिशा और भविष्य को पहचानने के लिए भी अपरिहार्य है।

7.8 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1 - राष्ट्रीय शक्ति की बहुआयामी प्रकृति का सही अर्थ क्या है?

A. राष्ट्रीय शक्ति केवल सैन्य क्षमता पर निर्भर होती है
B. राष्ट्रीय शक्ति केवल आर्थिक विकास का परिणाम होती है
C. राष्ट्रीय शक्ति सैन्य, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक तत्वों के संयुक्त प्रभाव से बनती है
D. राष्ट्रीय शक्ति केवल भौगोलिक आकार से निर्धारित होती है

प्रश्न 2-अमेरिका और चीन की तुलना के संदर्भ में "परंपरागत बनाम आधुनिक शक्ति" का सही आशय क्या है?

A. अमेरिका केवल सॉफ्ट पावर पर और चीन केवल सैन्य शक्ति पर निर्भर है
B. अमेरिका सैन्य और सॉफ्ट पावर दोनों में अग्रणी है, जबकि चीन आर्थिक और तकनीकी शक्ति के माध्यम से उभर रहा है
C. दोनों देश केवल वैचारिक शक्ति पर निर्भर हैं
D. चीन की शक्ति पूरी तरह प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित है

प्रश्न 3- भारत और यूरोपीय संघ के राष्ट्रीय शक्ति के दृष्टिकोण में मुख्य अंतर क्या है?

A. भारत सैन्य शक्ति पर और यूरोपीय संघ केवल आर्थिक शक्ति पर निर्भर है

B. भारत संप्रभु राज्य है जबकि यूरोपीय संघ एक बहु-राज्यीय राजनीतिक–आर्थिक इकाई है
C. दोनों का दृष्टिकोण पूरी तरह समान है
D. यूरोपीय संघ केवल सांस्कृतिक शक्ति पर आधारित है

प्रश्न 4- छोटे देशों द्वारा अपनाई जाने वाली सामरिक एवं सॉफ्ट पावर रणनीति का प्रमुख उद्देश्य क्या होता है?

A. महाशक्तियों से सैन्य टकराव करना
B. केवल आत्मनिर्भरता पर ध्यान देना
C. कूटनीति, अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं, सांस्कृतिक प्रभाव और नैतिक वैधता के माध्यम से अपनी सुरक्षा और प्रभाव बढ़ाना
D. सैन्य विस्तार के द्वारा क्षेत्रीय प्रभुत्व स्थापित करना

उत्तर - 1.C , 2.B, 3. B, 4. C

7.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय शक्ति को केवल सैन्य दृष्टिकोण से मापना पर्याप्त है या नहीं ? चर्चा कीजिए।
2. आधुनिक वैश्वीकरण ने राष्ट्रीय शक्ति को कैसे प्रभावित किया है ?
3. परंपरागत और सॉफ्ट पावर के बीच संबंध स्पष्ट कीजिए।

4. किसी एक देश के दृष्टांत के माध्यम से राष्ट्रीय शक्ति के बदलते स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

7.10 सन्दर्भ-सूची

- Hans J. Morgenthau, Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace, McGraw Hill, New York.
- Kenneth N. Waltz, Theory of International Politics, Addison-Wesley, Reading.
- Joseph S. Nye Jr., Soft Power: The Means to Success in World Politics, PublicAffairs, New York.
- John J. Mearsheimer, The Tragedy of Great Power Politics, W.W. Norton & Company.
- Paul Kennedy, The Rise and Fall of the Great Powers, Vintage Books.
- Robert Gilpin, War and Change in World Politics, Cambridge University Press.
- Barry Buzan, People, States and Fear, Harvester Wheatsheaf.
- World Economic Forum, Global Risks Report (नवीनतम संस्करण).
- World Bank, World Development Report (वर्षानुसार).
- SIPRI, Yearbook: Armaments, Disarmament and International Security.

इकाई 8 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की भूमिका

8.1 प्रस्तावना
8.2 विचारधारा की भूमिका के विशिष्ट आयाम
8.3 विचारधारा के सैद्धांतिक आधार
8.3.1 यथार्थवाद
8.3.2 आदर्शवाद
8.3.3 मार्क्सवाद
8.3.4 रचनावाद
8.4 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचारधाराओं का संघर्ष एवं प्रभाव
8.4.1 उपनिवेशवाद
8.4.2 प्रथम विश्वयुद्धोत्तर संघर्ष
8.4.3 शीतयुद्ध
8.4.4 उत्तर-शीतयुद्ध काल
8.5 समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख विचारधारात्मक धाराएँ
8.5.1 उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद
8.5.2 सत्तावादी पूंजीवाद
8.5.3 राजनीतिक इस्लाम
8.5.4 दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद
8.5.5 पर्यावरणवाद
8.5.6 नारीवादी अंतर्राष्ट्रीयवाद
8.6 विचारधारा की सीमाएँ एवं आलोचनाएँ
8.7 निष्कर्ष
8.8 शब्दावली
8.9 अभ्यास प्रश्न एवं उत्तर
8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.12 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन केवल राष्ट्रों के बीच सैन्य शक्ति, आर्थिक लेनदेन या कूटनीतिक वार्ता तक सीमित नहीं है। इसकी गहरी परतों में विचारों, मूल्यों और विश्व दृष्टिकोणों की एक जटिल अंतर्क्रिया कार्य करती है, जो इन संबंधों को दिशा, अर्थ और उद्देश्य प्रदान करती है। इन्हीं संगठित विचार प्रणालियों को 'विचारधारा' कहा जाता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में, विचारधारा एक संकल्पनात्मक लेंस (Conceptual Lens) का काम करती है,

जिसके माध्यम से राज्य अपनी भूमिका, अपने हितों, अपने मित्रों-शत्रुओं और वैश्विक व्यवस्था के स्वरूप को देखते, परिभाषित करते और उसके लिए कार्य करते हैं।

विचारधारा को तीन स्तरों पर समझा जा सकता है: विश्लेषणात्मक (वर्तमान वास्तविकता की व्याख्या), आदर्शात्मक (वांछित भविष्य का ब्लूप्रिंट) और क्रियात्मक (उसे प्राप्त करने की रणनीति)। उदाहरण के लिए, शीतयुद्ध के दौरान अमेरिका का 'राष्ट्रीय हित' पूरी तरह से 'साम्यवाद के **संयतन (Containment)**' की विचारधारा से परिभाषित था। इसी ने वियतनाम जैसे दूरस्थ देश को एक अस्तित्वगत संघर्ष का केंद्र बना दिया। इसके विपरीत, साझी विचारधाराएँ सहयोग का मार्ग भी प्रशस्त करती हैं, जैसे पर्यावरणवाद की विचारधारा ने पेरिस समझौते (2015) के तहत प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रों को जलवायु संकट से निपटने के लिए एक मंच पर ला खड़ा किया।

विचारधारा की यह भूमिका अकादमिक सिद्धांतों में भी प्रतिबिंबित होती है। हंस मॉरगेंथाउ जैसे यथार्थवादी इसे शक्ति संघर्ष के लिए एक "आवरण" मानते हैं, जबकि अलेक्जेंडर वेंड्ट जैसे निर्माणवादी तर्क देते हैं कि विचारधाराएँ ही अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की "अराजकता" का स्वरूप तय करती हैं। मार्क्सवादी दृष्टिकोण इसे शासक वर्ग के हितों को सही ठहराने का साधन देखता है।

संक्षेप में, विचारधारा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक निष्क्रिय पहलू नहीं, बल्कि एक सक्रिय निर्माणकारी शक्ति है। यह वह कोड है जो राष्ट्रों के व्यवहार को समझने में मदद करता है। शीतयुद्ध के बाद के एकध्रुवीय क्षण में उदारवाद की प्रभुत्वकारी भूमिका से लेकर आज के **बहुध्रुवीय विश्व** में उदारवाद, सत्तावादी पूंजीवाद और राजनीतिक इस्लाम के बीच की प्रतिस्पर्धा तक सभी इस बात के प्रमाण हैं कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मंच केवल शक्ति के संतुलन से ही नहीं, बल्कि विचारों के संतुलन से भी संचालित होता है। इसलिए, समकालीन वैश्विक राजनीति की गतिशीलता को गहराई से समझने के लिए विचारधाराओं के इस अपरिहार्य आयाम का विश्लेषण अनिवार्य है।

उद्देश्य

- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में **विचारधारा की अवधारणा, भूमिका एवं महत्व** को समझना।
- यथार्थवाद, आदर्शवाद, मार्क्सवाद एवं रचनावाद जैसे **प्रमुख सैद्धांतिक दृष्टिकोणों** का तुलनात्मक अध्ययन करना।
- ऐतिहासिक एवं समकालीन संदर्भों में **विचारधारात्मक संघर्षों और उनके प्रभावों** का विश्लेषण करना।
- समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विद्यमान **प्रमुख विचारधारात्मक धाराओं, उनकी सीमाओं एवं आलोचनाओं** का समालोचनात्मक मूल्यांकन करना।

8.2 विचारधारा की भूमिका के विशिष्ट आयाम

वैश्विक राजनीति में विचारधाराओं की भूमिका बहुआयामी और गहन होती है। ये केवल दार्शनिक विचार नहीं हैं, बल्कि व्यावहारिक राजनीति के निर्माण और संचालन में सक्रिय शक्तियाँ हैं। विभिन्न आयामों में इनकी भूमिका को निम्न प्रकार से समझा जा सक

ता है।

8.2.1 विदेश नीति निर्धारण में भूमिका

विचारधाराराष्ट्रों के लिए विदेश नीति के लक्ष्यों को परिभाषित करने और उन्हें प्राप्त करने के साधनों के चयन में एक मार्गदर्शक सिद्धांत का काम करती है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करती है जिसके माध्यम से देश दुनिया को देखते हैं और अपने हितों की व्याख्या करते हैं। ऐतिहासिक उदाहरण के रूप में, शीतयुद्ध के दौरान भारत की गुटनिरपेक्षता की विचारधारा ने उसकी विदेश नीति की रीढ़ का काम किया। इस सिद्धांत ने भारत को दो महाशक्ति खेमों में से किसी एक के साथ स्थायी संरेखण से बचते हुए, स्वतंत्र निर्णय लेने और विकासशील दुनिया के नेता की भूमिका निभाने में सक्षम बनाया। इसी प्रकार, संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास में "मैनिफेस्ट डेस्टिनी" के विचार ने महाद्वीपीय विस्तार को औचित्य दिया, और बाद के वर्षों में "विश्व का पुलिसमैन" होने के विचार ने विभिन्न क्षेत्रों में सैन्य हस्तक्षेपों को प्रेरित किया। ये विचार अमेरिकी विशेष दायित्व और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार की धारणा पर आधारित थे।

8.2.2 अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों के औचित्यीकरण में भूमिका

युद्ध और संघर्ष केलिए सार्वजनिक समर्थन हासिल करने तथा कार्रवाई को वैध बनाने के लिए विचारधारा एक शक्तिशाली उपकरण है। कोई भी राष्ट्र खुले तौर पर केवल भौतिक हितों के लिए युद्ध की घोषणा नहीं करता; उसे एक नैतिक या विचारधारात्मक आवरण की आवश्यकता होती है। 2003 में इराक पर आक्रमण को अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के समक्ष "सामूहिक विनाश के हथियारों को खत्म करने" और "लोकतंत्र लाने" के उदारवादी आदर्शों के साथ प्रस्तुत किया गया। इसी प्रकार, रूस ने 2022 में यूक्रेन पर अपने आक्रमण को "नाज़ीवाद से मुक्ति" और "रूसी दुनिया" की रक्षा के रूप में औचित्य दिया, जो एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक एकता के सिद्धांत पर आधारित था। ये औचित्य घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय दर्शकों को लक्षित करते हैं तथा सैन्य कार्रवाई को एक उच्चतर लक्ष्य से जोड़कर उसे स्वीकार्य बनाने का प्रयास करते हैं।

8.2.3. अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं और मानदंडों के निर्माण में भूमिका

वैश्विक संस्थान और अंतर्राष्ट्रीय कानून अक्सर प्रभावशालीविचारधाराओं से उत्पन्न होते हैं। संयुक्त राष्ट्र का चार्टर, उदाहरण के लिए, उदारवादी विचारों जैसे व्यक्ति के अधिकार, राष्ट्रों का आत्मनिर्णय और सामूहिक सुरक्षा से गहराई से प्रभावित है। इसी प्रकार, विश्व व्यापार संगठन का ढांचा मुक्त व्यापार और तुलनात्मक लाभ के आर्थिक सिद्धांतों पर आधारित है। हालांकि, एक बार स्थापित हो जाने के बाद भी, ये संस्थाएं और उनके मानदंड विचारधारात्मक संघर्ष का स्थल बने रहते हैं। विभिन्न देश और समूह इन नियमों की व्याख्या या उन्हें बदलने का प्रयास करते हैं ताकि वे अपने स्वयं के विश्वदृष्टिकोण के अनुरूप हों। इस प्रकार, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं स्थैतिक नहीं हैं, बल्कि निरंतर चलने वाले विचारधारात्मक प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र हैं।

8.2.4 वैश्विक शासन में भूमिका

आधुनिक वैश्विक चुनौतियाँजैसे जलवायु परिवर्तन, साइबर सुरक्षा और आतंकवाद से निपटने के लिए दृष्टिकोण मूलतः विचारधारा द्वारा निर्धारित होते हैं। उदारवादी दृष्टिकोण बहुपक्षीय सहयोग, साझा नियमों और संस्थागत

समाधानों पर बल देता है। इसके विपरीत, एक यथार्थवादी या दक्षिणपंथी राष्ट्रवादी दृष्टिकोण राष्ट्रीय संप्रभुता और स्वार्थों की प्रतिस्पर्धा को प्राथमिकता दे सकता है, जहां प्रत्येक देश अपने लिए सर्वोत्तम समझौते की कोशिश करता है। उदाहरण के लिए, जलवायु वार्ता में यह विभाजन स्पष्ट दिखता है, जहां विकसित और विकासशील देश ऐतिहासिक जिम्मेदारी, वर्तमान उत्सर्जन और आर्थिक विकास के अधिकार जैसे मुद्दों पर विचारधारात्मक आधार पर अलग-अलग खड़े होते हैं।

8.2.5 पहचान और संस्कृति की राजनीति में भूमिका

विचारधाराएँसामूहिक पहचान के निर्माण और दृढ़ीकरण में मूलभूत भूमिका निभाती हैं। वे "हम" और "वे" के बीच की सीमाएँ खींचती हैं। "इस्लामिक उम्मा", "पश्चिमी दुनिया", या "अफ्रीकी एकता" जैसी अवधारणाएँ विचारधारात्मक निर्माण हैं जो साझा मूल्यों, इतिहास या भाग्य की भावना पर आधारित हैं। सैमुअल हंटिंगटन का "सभ्यताओं का संघर्ष" सिद्धांत, भले ही विवादास्पद है, विश्व राजनीति को मुख्य रूप से सांस्कृतिक और धार्मिक पहचान के टकराव के रूप में देखता है। यह दृष्टिकोण इस बात पर प्रकाश डालता है कि कैसे विचारधाराएँ सांस्कृतिक समूहों को राजनीतिक इकाइयों के रूप में एकजुट कर सकती हैं और उनके बीच तनाव का स्रोत बन सकती हैं।

8.3 विचारधारा के सैद्धांतिक आधार

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रमुख सिद्धांत स्वयं ही विचारधारात्मक झुकाव रखते हैं और विचारधारा की भूमिका को अलग-अलग नजरिए से देखते हैं।

8.3.1यथार्थवाद(Realism)

यथार्थवाद अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का सबसे प्रभावशाली और प्राचीन सिद्धांत है जो शक्ति, संघर्ष और राष्ट्रीय हित को केंद्रीय महत्व देता है। इसकी जड़ें प्राचीन यूनानी इतिहासकार थ्यूसीडाइड्स के लेखन में मिलती हैं, जिन्होंने पेलोपोनेशियन युद्ध का विश्लेषण करते हुए दर्शाया कि एथेंस की बढ़ती शक्ति ने स्पार्टा में भय पैदा किया, जिससे युद्ध अनिवार्य हो गया। आधुनिक यथार्थवाद की नींव 1930 के दशक में ई.एच. कार ने अपनी पुस्तक "द ट्वेंटी इयर्स क्राइसिस" (1919-1939) में रखी, जिसमें उन्होंने आदर्शवाद की आलोचना करते हुए तर्क दिया कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मूलतः शक्ति संघर्ष है।

हंस मॉर्गेन्थाऊ ने अपने ग्रंथ "पॉलिटिक्स अमंग नेशंस" (1948) में यथार्थवाद को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। उनके अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल स्वभाव शक्ति के लिए संघर्ष है, जिसमें राष्ट्रीय हित सर्वोच्च प्राथमिकता रखता है। मॉर्गेन्थाऊ ने छः मूलभूत सिद्धांत प्रस्तुत किए: (1) राजनीति मानव स्वभाव द्वारा शासित होती है, (2) राष्ट्रीय हित शक्ति के संदर्भ में परिभाषित होता है, (3) हित समय और स्थान के अनुसार बदलता है, (4) सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांत राज्य के व्यवहार का मार्गदर्शन नहीं कर सकते, (5) प्रत्येक राष्ट्र के नैतिक मूल्य भिन्न होते हैं, और (6) राजनीतिक क्षेत्र अन्य क्षेत्रों से स्वायत्त है।

यथार्थवाद की केंद्रीय धारणाओं में अंतर्राष्ट्रीय **अराजकता**, स्वयं-सहायता, **सुरक्षा दुविधा** और शक्ति संतुलन शामिल हैं। कैनेथ वाल्ट्ज के नव-यथार्थवाद (संरचनात्मक यथार्थवाद) ने इस सिद्धांत को और परिष्कृत किया, यह

तर्क देते हुए कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अराजक संरचना ही राज्यों के व्यवहार को निर्धारित करती है। उनके अनुसार, राज्य स्वयं-सहायता प्रणाली में अपनी सुरक्षा को अधिकतम करने का प्रयास करते हैं, जिससे शक्ति संतुलन स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है।

यथार्थवाद के विभिन्न रूपों में शास्त्रीय यथार्थवाद (मानव स्वभाव पर बल), नव-यथार्थवाद (संरचनात्मक कारकों पर बल), और आक्रामक यथार्थवाद (मीयरशाइमर द्वारा प्रतिपादित) शामिल हैं। आक्रामक यथार्थवाद का मानना है कि राज्य सापेक्ष शक्ति को अधिकतम करने का प्रयास करते हैं क्योंकि वे कभी भी अन्य राज्यों के इरादों के बारे में निश्चित नहीं हो सकते।

समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवाद का महत्व अमेरिका-चीन संबंधों, रूस-यूक्रेन संघर्ष और विभिन्न क्षेत्रीय शक्ति संघर्षों में देखा जा सकता है। ग्राहम एलिसन द्वारा प्रतिपादित "**थ्यूसीडाइड्स ट्रैप**" की अवधारणा इस बात की ओर इशारा करती है कि जब एक उभरती हुई शक्ति एक स्थापित शक्ति को चुनौती देती है, तो युद्ध की संभावना बढ़ जाती है। इस प्रकार, यथार्थवाद का सिद्धांत आज भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विश्लेषण के लिए एक प्रासंगिक ढाँचा प्रदान करता है।

8.3.2 आदर्शवाद (Idealism)

अंतर्राष्ट्रीय संबंध सिद्धांत के क्षेत्र में आदर्शवाद एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण के रूप में स्थापित है, जो वैश्विक स्तर पर नैतिक आदर्शों, संस्थागत भागीदारी तथा शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था की स्थापना की संभावना में विश्वास रखता है। इस विचारधारा ने प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् 1919-20 के दशक में अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के नेतृत्व में विशेष लोकप्रियता प्राप्त की, हालांकि इसके बौद्धिक आधार अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों इमैनुएल कांट एवं कोण्डरसेट के चिंतन में देखे जा सकते हैं। आदर्शवाद की मूल मान्यताओं के अनुसार, मानव प्रकृति अनिवार्यतः सकारात्मक तथा शांतिप्रिय है, और युद्ध तथा संघर्ण को अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अस्थायी विकृतियाँ माना जाता है, जिन्हें उपयुक्त संस्थानों व नीतियों के द्वारा समाप्त किया जा सकता है। यह दृष्टि 'वास्तविकता' के स्थान पर 'आदर्श स्थिति' पर केंद्रित है तथा यह विश्वास करती है कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के विस्तार, अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रभावी अनुपालन, निःशस्त्रीकरण तथा सामूहिक सुरक्षा जैसे उपायों के माध्यम से एक शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था कायम की जा सकती है। वुडरो विल्सन ने अपने प्रसिद्ध चौदह सिद्धांतों द्वारा राष्ट्रीय स्व-निर्णय के अधिकार, पारदर्शी कूटनीतिक प्रक्रियाओं तथा एक सामूहिक सुरक्षा संगठन (राष्ट्र संघ) की स्थापना का आह्वान किया। इमैनुएल कांट ने अपनी कृति "शाश्वत शांति" (1795) में गणतांत्रिक राज्यों के एक शांतिपूर्ण संघ (पैसिफ़िक फेडरेशन) की अवधारणा तथा सार्वभौमिक आतिथ्य के अधिकार को प्रतिपादित किया, जो आदर्शवादी विचारधारा का बुनियादी आधार बना। इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचना इसकी अतिशय आशावादिता एवं यथार्थवादी शक्ति राजनीति की जटिलताओं की उपेक्षा पर केंद्रित है। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ तथा राष्ट्र संघ की विफलता के पश्चात् इसके प्रभाव में कमी आई। तथापि, समकालीन "नव-आदर्शवाद" वैश्वीकरण की चुनौतियों के समाधान के लिए लोकतांत्रिक संस्थानों, वैश्विक नागरिक समाज तथा अंतर्राष्ट्रीय गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका पर जोर देता है। डेविड हेल्ड जैसे विद्वान लोकतंत्र के एक सर्वदेशीय प्रतिमान का प्रस्ताव रखते हैं, जबकि रिचर्ड फ़ॉक जैसे विचारक "नीचे से वैश्वीकरण" तथा वैश्विक

नागरिक समाज की शक्ति में आस्था रखते हैं। इस प्रकार, आदर्शवाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नैतिक एवं मानदंडात्मक परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है, जो शांति, सहयोग तथा संस्थागत सुधारों के मार्ग से एक उत्कृष्ट विश्व व्यवस्था के निर्माण का प्रयास करता है।

8.3.3 मार्क्सवाद(Marxism)

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का मार्क्सवादी दृष्टिकोण, मुख्यधारा के यथार्थवादी या उदारवादी सिद्धांतों से मौलिक रूप से भिन्न विश्लेषण प्रस्तुत करता है। कार्ल मार्क्स और बाद के विचारकों के कार्यों में निहित, यह परिप्रेक्ष्य वैश्विक राजनीति को आर्थिक संरचनाओं, वर्ग संघर्ष और पूंजीवाद की गतिशीलता के लेंस के माध्यम से देखता है। इसका तर्क है कि अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं—युद्ध, कूटनीति, गठबंधन—का मूल चालक वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था और इसका विस्तार और संचय की अंतर्निहित आवश्यकता है।

एक केंद्रीय योगदान साम्राज्यवाद का सिद्धांत है, जिसे सबसे प्रसिद्ध रूप से व्लादिमीर लेनिन द्वारा प्रतिपादित किया गया था। 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था' (1917) में, लेनिन ने तर्क दिया कि विकसित पूंजीवादी राष्ट्र, घरेलू मुनाफे में गिरावट का सामना करते हुए, बाजारों, संसाधनों और श्रम के लिए पूंजी निर्यात करने और कमजोर राष्ट्रों पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए बाध्य हैं। उन्होंने कहा कि साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच यह प्रतिद्वंद्विता प्रथम विश्व युद्ध का मूल कारण थी। रोजा लक्जमबर्ग ने एक पूरक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसमें अधिशेष वस्तुओं को अवशोषित करने के लिए पूंजीवाद की नई, गैर-पूंजीवादी बाजारों की निरंतर आवश्यकता पर जोर दिया गया, जिससे उपनिवेशी विस्तार प्रणाली का एक अनिवार्य लक्षण बन गया।

इस विश्लेषण ने निर्भरता सिद्धांत की नींव रखी, जो 1960 के दशक में राउल प्रेबिस्क और आंद्रे गुंडर फ्रैंक जैसे लैटिन अमेरिकी विद्वानों से प्रमुखता से उभरा। उदार आधुनिकीकरण सिद्धांतों को खारिज करते हुए, उन्होंने एक उन्नत, औद्योगिक "केंद्र" (समृद्ध वैश्विक उत्तर) और एक अविकसित "परिधि" (गरीब वैश्विक दक्षिण) के बीच एक संरचनात्मक वैश्विक विभाजन की कल्पना की। केंद्र का विकास परिधि के जानबूझकर अल्प-विकास और असमान व्यापार, पूंजी निवेश और राजनीतिक प्रभाव के माध्यम से आर्थिक शोषण पर आधारित माना जाता है। निर्भरता सिद्धान्तकारों का तर्क है कि वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था में एकीकरण परिधि में गरीबी और ठहराव को कायम रखता है, और इसके बजाय वे इसे छोड़कर और आत्मनिर्भर विकास की वकालत करते हैं।

इस ढांचे को इमैनुएल वालरस्टीन द्वारा विश्व-व्यवस्था सिद्धांत में विस्तारित किया गया। उन्होंने आधुनिक दुनिया का एक एकल पूंजीवादी "विश्व-व्यवस्था" के रूप में विश्लेषण किया, जिसकी उत्पत्ति 16वीं शताब्दी में हुई थी, जो तीन-स्तरीय पदानुक्रम में संरचित है: केंद्र (प्रमुख, पूंजी-गहन राज्य), परिधि (शोषित, श्रम-गहन क्षेत्र), और अर्ध-परिधि (एक बफर क्षेत्र जो प्रणाली को स्थिर करता है)। यह सिद्धांत परिधि से केंद्र तक **अधिशेष मूल्य** के अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह पर जोर देता है, जो वैश्विक असमानताओं को बनाता और मजबूत करता है।

8.3.4 रचनावाद(Constructivism)

रचनावाद (कंस्ट्रक्टिविज्म) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक उपागम है जो 1980 के दशक में नव-यथार्थवाद और नव-उदारवाद की भौतिकवादी व्याख्याओं के प्रतिक्रियास्वरूप विकसित हुआ। यह एक 'उत्तर-

प्रत्यक्षवादी' दृष्टिकोण है जो यह मानता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता भौतिक तत्वों से नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से निर्मित विचारों, मानदंडों, पहचान और साझा समझ से आकार लेती है। इसका मूल आधार यह है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की संरचनाएँ—जैसे राष्ट्र-राज्य, सम्प्रभुता या अराजकता—कोई स्वाभाविक या वस्तुनिष्ठ सत्य नहीं हैं, बल्कि मानवीय चेतना, विचारों और ऐतिहासिक संदर्भों की अंत:व्यक्तिपरक (इंटर-सब्जेक्टिव) अंतःक्रिया का परिणाम हैं।

इस सिद्धांत को व्यवस्थित रूप देने में अलेक्जेंडर वेंट का प्रमुख योगदान है। अपने प्रसिद्ध लेख "अराजकता वह है जो राज्य बनाते हैं" (1992) में वेंट तर्क देते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अराजक प्रकृति एक निर्धारित भौतिक स्थिति नहीं, बल्कि राज्यों की परस्पर धारणाओं और व्यवहार से निर्मित होती है। उनके अनुसार, "पहचान हितों का आधार होती है"—अर्थात राज्य किसी अन्य राज्य को मित्र, प्रतिद्वंद्वी या शत्रु के रूप में कैसे देखते हैं, यह उनकी साझा विचारों व मानदंडों से बनी पहचान पर निर्भर करता है, जो बदले में उनके हितों और कार्यों को परिभाषित करती है।

वेंट अंतर्राष्ट्रीय अराजकता की तीन संस्कृतियाँ बताते हैं: हॉब्सियन (शत्रुतापूर्ण, 'सबका सबके विरुद्ध युद्ध'), लॉकियन (प्रतिद्वंद्वितापूर्ण, पर संप्रभुता का सम्मान) और काण्टियन (मैत्रीपूर्ण, सहयोग आधारित)। यूरोपीय संघ का विकास इसका एक उदाहरण है, जहाँ पहले युद्धरत राष्ट्रों ने साझा विचार और पहचान के आधार पर एक सहयोगी संगठन का रूप ले लिया।

अन्य प्रमुख विचारकों जैसे निकॉल्स ओनफ, जॉन रूग्गी और मार्था फिन्नेमोर ने भी इस बात पर बल दिया कि अंतर्राष्ट्रीय मानदंड, संस्थाएँ और कानून केवल शक्ति या हित से नहीं, बल्कि सामूहिक विश्वासों और सामाजिक शिक्षण की प्रक्रिया से निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिए, मानवाधिकार या पर्यावरण संरक्षण जैसे वैश्विक मानदंड राज्यों के भौतिक हितों से परे, एक साझा नैतिक समझ के परिणाम हैं।

8.4 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचारधाराओं का संघर्ष एवं प्रभाव

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के इतिहास को केवल राजाओं, सेनाओं और संधियों के इतिहास के रूप में नहीं, बल्कि विचारों के संघर्ष और उनकी विजय-पराजय के इतिहास के रूप में पढ़ा जा सकता है। विचारधाराएँ केवल दार्शनिक चिंतन नहीं हैं; वे ऐसे शक्तिशाली सामाजिक-राजनीतिक बल हैं जिन्होंने साम्राज्यों का निर्माण और विध्वंस किया, युद्धों को जन्म दिया, राष्ट्रों की सीमाएँ खींचीं और वैश्विक व्यवस्था के स्वरूप को परिभाषित किया है। यह ऐतिहासिक अवलोकन दर्शाता है कि कैसे विभिन्न युगों में प्रमुख विचारधारात्मक धाराओं ने मानवीय कार्यवाहियों को दिशा दी और ठोस ऐतिहासिक परिणाम उत्पन्न किए।

8.4.1 उपनिवेशवाद(Colonialism) - 'सभ्यता का बोझ' का विचारधारात्मक आवरण

19वीं और 20वीं शताब्दी में यूरोपीय शक्तियों द्वारा एशिया, अफ्रीका व अमेरिका के विशाल भू-भाग पर कब्जा और शोषण केवल आर्थिक लालच या रणनीतिक जरूरत का परिणाम नहीं था। इसकी गहराई में एक सुनियोजित

साम्राज्यवादी विचारधारा कार्य कर रही थी, जिसने इस अनैतिक कार्य को एक 'नैतिक मिशन' का रूप प्रदान किया। इस विचारधारा के मुख्य स्तंभ थे:

1. **जातीय-सांस्कृतिक श्रेष्ठता का सिद्धांत -** यूरोपीय श्वेत जाति को 'सभ्य' और शेष दुनिया को 'बर्बर' या 'अर्ध-सभ्य' मानने का दृष्टिकोण।
2. **सभ्यता का बोझ ('द व्हाइट मैन्स बर्डन') -** रुडयार्ड किपलिंग की इस अवधारणा के अनुसार, यूरोपीय लोगों पर यह नैतिक दायित्व था कि वे 'अंधकार में डूबी' जातियों को सभ्यता, ईसाई धर्म और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश दें।
3. **सामाजिक डार्विनवाद -** प्रकृति में 'योग्यतम की उत्तरजीविता' के सिद्धांत को मानव समाजों पर लागू करना, जिससे उपनिवेशीकरण को एक 'प्राकृतिक' और 'अपरिहार्य' प्रक्रिया सिद्ध करने का प्रयास किया गया।

इस विचारधारा ने बेल्जियम के कॉगो में लीओपोल्ड द्वितीय की क्रूरता, भारत में अंग्रेजों की 'लूट की अर्थव्यवस्था' और अफ्रीका के बर्लिन सम्मेलन (1884-85) में महाद्वीप के मनमाने बंटवारे जैसे घोर शोषण को वैधता प्रदान की। स्थानीय संस्कृतियों, भाषाओं और सामाजिक व्यवस्थाओं के विनाश को 'प्रगति' और 'उन्नति' का पर्याय बना दिया गया। इस प्रकार, विचारधारा ने आर्थिक लूट को एक सभ्यतागत कर्तव्य में बदल दिया।

8.4.2 प्रथम विश्वयुद्धोत्तर संघर्ष- लोकतंत्र, साम्यवाद और फासीवाद की त्रिकोणीय लड़ाई

प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) ने पुरानी शाही व्यवस्थाओं को ध्वस्त कर दिया, जिससे एक विचारधारात्मक शून्य उत्पन्न हुआ। इस शून्य को भरने के लिए तीन क्रांतिकारी एवं परस्पर विरोधी विचारधाराएँ उभरीं, जो भविष्य के विश्व का मानचित्र तय करने को आमने-सामने थीं:

1. **वुडरो विल्सन का उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद -** अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन ने राष्ट्रीय आत्मनिर्णय, खुली कूटनीति, निःशस्त्रीकरण और एक सामूहिक सुरक्षा संगठन (लीग ऑफ नेशंस) के सिद्धांत प्रस्तुत किए। उनका विश्वास था कि लोकतंत्र और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग ही भविष्य के युद्धों को रोक सकते हैं। यह विचारधारा यथास्थिति को बदलने की बजाय एक न्यायपूर्ण एवं स्थिर विश्व व्यवस्था के निर्माण पर केंद्रित थी।
2. **लेनिन का बोल्शेविक साम्यवाद -** रूसी क्रांति (1917) के नेता लेनिन ने एक वर्ग-आधारित, क्रांतिकारी विश्लेषण प्रस्तुत किया। उनके लिए प्रथम विश्वयुद्ध साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच एक युद्ध था। उनकी विचारधारा पूंजीवाद के विनाश, विश्वव्यापी सर्वहारा क्रांति और साम्राज्यवाद-विरोध पर आधारित थी। यह उदारवाद की अंतर्राष्ट्रीयवादी भावना का एक कट्टरपंथी, वर्गीय विकल्प था।
3. **फासीवाद/नाजीवाद की उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा -** इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर द्वारा प्रतिपादित यह विचारधारा अतार्किकता, जातीय श्रेष्ठता, सर्वसत्तावाद और सैन्य विस्तारवाद में विश्वास

करती थी। यह लोकतंत्र और साम्यवाद दोनों को नकारती थी तथा राष्ट्र या 'जाति' को सर्वोच्च मानती थी। इसने युद्ध को राष्ट्रीय महिमा और 'जीवन-स्थान' (लेबेंसरौम) प्राप्त करने का साधन माना।

इन तीनों विचारधाराओं के बीच का यह संघर्ष केवल वैचारिक बहस नहीं था। इसने वर्साय की अपमानजनक संधि, लीग ऑफ नेशंस की विफलता, स्पेन का गृहयुद्ध और अंततः द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-45) का मार्ग प्रशस्त किया। फासीवाद की आक्रामकता ने उदार लोकतंत्र और साम्यवाद को एक अस्थायी गठबंधन में ला खड़ा किया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि विचारधाराएँ गठबंधनों की रूपरेखा भी तय करती हैं।

8.4.3 शीतयुद्ध(Cold War) - विचारधारात्मक द्वंद्व का चरमोत्कर्ष

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का युग, शीतयुद्ध का युग, विश्व इतिहास में विचारधारा की सर्वोच्च प्रभुसत्ता का काल था। यह संघर्ष केवल संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच भू-राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता नहीं था; यह पूंजीवादी उदार लोकतंत्र और साम्यवादी सर्वहारा तानाशाही के बीच एक वैश्विक, संपूर्ण (टोटल) विचारधारात्मक धर्मयुद्ध था। इस संघर्ष ने विश्व की हर घटना, हर गठबंधन और हर युद्ध को प्रभावित किया।

1. **गुटनिरपेक्ष आंदोलन -** भारत, मिस्र, युगोस्लाविया जैसे देशों ने दोनों खेमों से अलग रहने का निर्णय लिया। यह 'गुटनिरपेक्षता' स्वयं में एक विचारधारात्मक स्थिति थी, जो संप्रभुता, औपनिवेशिक मुक्ति और स्वतंत्र विदेश नीति के सिद्धांतों पर आधारित थी। इसने वैश्विक दक्षिण को एक राजनीतिक आवाज दी।
2. **प्रॉक्सी युद्ध -** शीतयुद्ध कभी अमेरिका और USSR के बीच प्रत्यक्ष युद्ध में नहीं बदला, लेकिन इसकी लपटें कोरिया (1950-53), वियतनाम (1955-75), अंगोला (1975-2002) और अफ़गानिस्तान (1979-89) जैसे देशों में भड़क उठीं। ये युद्ध स्थानीय कारणों से भले ही शुरू हुए हों, लेकिन वे वैश्विक विचारधारात्मक संघर्ष के मैदान बन गए, जहाँ दोनों महाशक्तियों ने अपने-अपने 'छद्म' (प्रॉक्सी) को हथियार, धन और सैन्य सलाह देकर समर्थन दिया।
3. **सैन्य गठबंधनों का विचारधारात्मकरण -** नैटो (1949) और वारसॉ संधि (1955) केवल सैन्य समझौते नहीं थे; वे सामूहिक रक्षा के विचारधारात्मक दुर्ग थे। नैटो 'स्वतंत्रता' और 'लोकतंत्र' की रक्षा का प्रतीक था, जबकि वारसॉ संधि 'साम्यवादी एकजुटता' और 'साम्राज्यवाद-विरोध' का।
4. **आंतरिक राजनीति पर प्रभाव** - विचारधारात्मक शुद्धता बनाए रखने की होड़ ने दोनों ही पक्षों की घरेलू राजनीति को विषाक्त बना दिया। अमेरिका में **मैकार्थीवाद** (1950-54) के दौरान 'लाल आतंक' फैलाया गया और कथित साम्यवाद-समर्थकों का उत्पीड़न हुआ। USSR में स्टालिन के 'महान शुद्धिकरण' (1936-38) और शीतयुद्ध काल में भी विचारधारात्मक विचलन के लिए दमन चलता रहा। यह दर्शाता है कि कैसे एक वैश्विक विचारधारात्मक संघर्ष राष्ट्रों के आंतरिक जीवन में भी हस्तक्षेप कर सकता है।

8.4.4 उत्तर-शीतयुद्ध काल(Post-Cold War Era) - 'इतिहास का अंत' और उदारवादी विजयोन्माद

सोवियत संघ के विघटन (1991) के साथ, विचारक फ्रांसिस फुकुयामा ने 'इतिहास का अंत' घोषित कर दिया। उनका तर्क था कि मानवीय शासन की अंतिम एवं सर्वोत्तम व्यवस्था के रूप में उदार लोकतंत्र और पूंजीवादी बाजार

अर्थव्यवस्था ने विचारधारात्मक विकास की यात्रा पूरी कर ली है। 1990 का दशक वास्तव में उदारवादी विचारधारा के एकाधिकार और उसके विस्तार का काल था। इसके प्रमुख लक्षण इस प्रकार थे:-

1. **लोकतांत्रिकरण की लहर -** पूर्वी यूरोप, लैटिन अमेरिका और कुछ अफ्रीकी देशों में लोकतांत्रिक सरकारों का उदय।
2. **आर्थिक उदारीकरण का वैश्विक प्रसार -** 'वाशिंगटन सहमति' के तहत निजीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण के सिद्धांतों को विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं के माध्यम से दुनिया भर में लागू करने का प्रयास।
3. **नियम-आधारित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का विस्तार -** विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना (1995), अंतर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय (ICC) का गठन, और 'मानवाधिकार' व 'मानवीय हस्तक्षेप' (R2P) जैसी अवधारणाओं का उदय। यह सब एक उदारवादी वैश्विक शासन की स्थापना की ओर इशारा करता था।

प्रतीत होता था कि पूरा विश्व एक ही विचारधारात्मक मॉडल उदार लोकतांत्रिक पूंजीवाद के अंतर्गत आ रहा है। फुकुयामा का यह निष्कर्ष था कि विचारधाराओं का बड़ा संघर्ष समाप्त हो गया है और अब केवल तकनीकी प्रगति और आर्थिक प्रबंधन का युग बचा है।

8.5 समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख विचारधारात्मक धाराएँ

आज का विश्व एक ही विचारधारा से नहीं, बल्कि कई विचारधाराओं के जटिल सह-अस्तित्व और प्रतिस्पर्धा का क्षेत्र है।

8.5.1 उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद (Liberal Internationalism)

उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद आधुनिक वैश्विक संबंधों में एक प्रमुख विचारधारात्मक ढांचा के रूप में कार्य करता है। यह सिद्धांत लोकतांत्रिक शासन, खुले बाजारों, मजबूत अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों और सार्वभौमिक मानवाधिकारों की रक्षा पर निर्भर करता है। इस दृष्टिकोण का केंद्रीय उद्देश्य एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना है जहां देश साझा नियमों का पालन करते हुए शांतिपूर्ण सहयोग से कार्य करें। व्यवहार में, यह लोकतंत्र को बढ़ावा देने, संयुक्त राष्ट्र और विश्व व्यापार संगठन जैसे बहुपक्षीय निकायों को सशक्त बनाने, आर्थिक एकीकरण को प्रोत्साहित करने और नागरिकों की रक्षा के लिए मानवीय हस्तक्षेप के औचित्य पर बल देता है। इसके विपरीत, आलोचक इस पर पश्चिमी मूल्यों को बलपूर्वक लागू करने और विकासशील राष्ट्रों की संप्रभुता को कमजोर करने का आरोप लगाते हैं। ऐसे आरोपों के कारण विश्व के कई हिस्सों में इस विचारधारा के प्रति विरोध उत्पन्न हुआ है।

8.5.2 सत्तावादी पूंजीवाद(Authoritarian Capitalism)

सत्तावादी पूंजीवाद, जिसे राज्य पूंजीवाद भी कहा जाता है, एक ऐसा मॉडल प्रस्तुत करता है जो आर्थिक प्रगति और राष्ट्रीय स्थिरता को व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतंत्रताओं से अधिक प्राथमिकता देता है। यह प्रणाली बाजार-आधारित आर्थिक गतिविधि के साथ-साथ रणनीतिक उद्योगों और राजनीतिक प्रक्रियाओं पर राज्य के दृढ़ नियंत्रण को जोड़ती है। चीन का आर्थिक और राजनीतिक ढांचा इस मॉडल का एक प्रमुख उदाहरण प्रदर्शित करता है, जिसने उल्लेखनीय

आर्थिक विकास प्राप्त किया है जबकि सत्तारूढ़ दल का प्रभुत्व बना हुआ है। यह विचारधारा पारंपरिक पश्चिमी लोकतंत्र के लिए एक चुनौती और वैकल्पिक मार्ग के रूप में उभरी है। अपनी बुनियादी परियोजनाओं और कूटनीतिक पहलों के माध्यम से, यह केवल आर्थिक सहयोग ही नहीं बल्कि शासन के अपने विशिष्ट तरीके को भी बढ़ावा दे रही है, जिससे वैश्विक प्रभाव क्षेत्र का विस्तार हो रहा है।

8.5.3 राजनीतिक इस्लाम(Political Islam)

राजनीतिक इस्लाम, या इस्लामवाद, एक विचारधारा है जो इस्लामी सिद्धांतों को सार्वजनिक जीवन, कानून और शासन का मार्गदर्शक आधार बनाने पर जोर देती है। यह पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता के विचार को अस्वीकार करती है और इस्लामी न्यायशास्त्र, शरिया के अनुरूप एक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था की वकालत करती है। इस विचारधारा के भीतर महत्वपूर्ण विविधता पाई जाती है। एक ओर, कुछ समूह मतदान और राजनीतिक दलों के माध्यम से सत्ता प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। दूसरी ओर, अधिक कट्टरपंथी धड़े एक वैश्विक इस्लामिक राज्य (खिलाफत) की स्थापना के लिए सशस्त्र संघर्ष और आतंकवाद का सहारा लेते हैं। यह विचारधारा मध्य पूर्व और उससे बाहर के क्षेत्रों में राजनीतिक विमर्श, सामाजिक नीतियों और अंतरराष्ट्रीय संबंधों को आकार देने में एक शक्तिशाली शक्ति के रूप में कार्य करती है, जो अक्सर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र-राज्य की अवधारणा को चुनौती देती है।

8.5.4 दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद(Right-Wing Nationalism)

दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद या जनवाद उदार वैश्वीकरण और बहुपक्षवाद की प्रतिक्रिया के रूप में एक प्रमुख वैश्विक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरा है। यह राष्ट्रीय संप्रभुता, सांस्कृतिक पहचान और आर्थिक आत्मनिर्भरता के मूल्यों को पुनः स्थापित करने पर केंद्रित है। इसके समर्थक बहुराष्ट्रीय संगठनों और व्यापक समझौतों पर संदेह करते हुए, राष्ट्र-राज्य को सर्वोच्च प्राधिकार के रूप में बहाल करने का आह्वान करते हैं। नीतिगत दृष्टिकोण में अक्सर आव्रजन पर प्रतिबंध, घरेलू उद्योगों की रक्षा के लिए व्यापारिक बाधाएं और पारंपरिक सामाजिक मूल्यों का समर्थन शामिल होता है। ब्रेक्जिट और "अमेरिका फर्स्ट" जैसी नीतियां इस प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। इस विचारधारा की अपील अक्सर उन व्यक्तियों और समुदायों में होती है जो वैश्वीकरण से उत्पन्न आर्थिक अनिश्चितता या सांस्कृतिक परिवर्तन से असुरक्षित महसूस करते हैं।

8.5.5 पर्यावरणवाद(Environmentalism)

पर्यावरणवाद एक वैश्विक विचारधारा है जो ग्रह पृथ्वी और उसके पारिस्थितिकी तंत्र के स्वास्थ्य को मानव गतिविधि के केंद्र में रखती है। यह पारंपरिक राष्ट्रीय हितों की सीमाओं से ऊपर उठकर, वैश्विक और अंतर-पीढ़ीगत जिम्मेदारी पर जोर देती है। इसका मुख्य लक्ष्य जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण, जैव विविधता की हानि और संसाधन क्षय जैसी साझा चुनौतियों से निपटना है। समाधान के रूप में, यह अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, टिकाऊ विकास नीतियों और हरित प्रौद्योगिकियों में निवेश की वकालत करता है। इस आंदोलन ने पेरिस समझौते जैसे महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय करारों को प्रेरित किया है और दुनिया भर में सरकारों, व्यवसायों और नागरिक समाज के कार्यों को प्रभावित किया है। यह "जलवायु न्याय" जैसे नए वैश्विक राजनीतिक विमर्श को भी जन्म दे रहा है, जो ऐतिहासिक और वर्तमान उत्सर्जन पर विकसित और विकासशील देशों के बीच तनाव पैदा करता है।

8.5.6 नारीवादी अंतर्राष्ट्रीयवाद(Feminist Internationalism)

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का नारीवादी सिद्धांत इस क्षेत्र के पारंपरिक, पुरुष-केंद्रित दृष्टिकोण की एक मौलिक आलोचना प्रस्तुत करता है। यह तर्क देता है कि युद्ध, शक्ति और राज्य की सुरक्षा की मानक अवधारणाएं पुरुष अनुभवों से प्रभावित हैं और महिलाओं के दृष्टिकोण व योगदान को कम करके आंकती हैं। नारीवादी विद्वान लैंगिक शक्ति गतिशीलता की जांच करते हैं कि कैसे ये गतिशीलता अंतरराष्ट्रीय राजनीति, सैन्य संघर्ष और वैश्विक अर्थव्यवस्था को आकार देती हैं। वे सुरक्षा की परिभाषा का विस्तार करते हुए, राज्य-केंद्रित दृष्टिकोण से आगे बढ़कर व्यक्तिगत सुरक्षा, आर्थिक सुरक्षा और लिंग-आधारित हिंसा से सुरक्षा जैसे मुद्दों को शामिल करते हैं। इस सैद्धांतिक कार्य का व्यावहारिक प्रभाव पड़ा है, जिसने संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव 1325 जैसे महत्वपूर्ण ढांचों को प्रेरित किया है, जो शांति प्रक्रियाओं में महिलाओं की भागीदारी को अनिवार्य करता है। इस प्रकार, नारीवाद ने वैश्विक नीति और कूटनीति में लैंगिक समानता और समावेशिता को एक अपरिहार्य विचार के रूप में स्थापित किया है।

8.6 विचारधारा की सीमाएँ एवं आलोचनाएँ

हालांकि विचारधारा एक शक्तिशाली शक्ति है, लेकिन इसकी भूमिका को निरपेक्ष या एकमात्र निर्धारक नहीं माना जा सकता। इसकी कई सीमाएँ और आलोचनाएँ हैं जो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की जटिलता को उजागर करती हैं।

1. विचारधारा बनाम भौतिक हित

एक प्रमुख आलोचनायह है कि विचारधारा अक्सर वास्तविक, भौतिक हितों को छिपाने या उनका औचित्य सिद्ध करने का एक मुखौटा मात्र होती है। ये हित आर्थिक लाभ (जैसे संसाधनों या बाजारों तक पहुंच) या भू-रणनीतिक लाभ (जैसे सैन्य ठिकाने या रणनीतिक स्थान) के रूप में हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, मध्य पूर्व में कई पश्चिमी हस्तक्षेपों को लोकतंत्र या मानवाधिकारों के उदार आदर्शों के तहत औचित्य दिया गया है। हालांकि, आलोचकों का तर्क है कि इन कार्रवाइयों के पीछे क्षेत्रीय तेल भंडार और ऊर्जा सुरक्षा जैसे हित प्रमुख रूप से काम करते हैं। इस प्रकार, विचारधारा एक सुविधाजनक उपकरण बन जाती है जो शक्तिशाली देशों को अपने भौतिक लक्ष्यों को नैतिक आवरण प्रदान करने में सहायता करती है।

2. विचारधारात्मक लचीलापन और व्यावहारिकता

शुद्ध विचारधाराशायद ही कभी विदेश नीति का एकमात्र निर्धारक होती है। राज्य अक्सर व्यावहारिकता या तात्कालिक आवश्यकताओं के कारण अपने विचारधारात्मक सिद्धांतों से समझौता करते हैं। शीतयुद्ध इसका एक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, जो खुद को लोकतंत्र और स्वतंत्रता का चैंपियन घोषित करता था, ने सऊदी अरब के राजशाही शासन या चिली के ऑगस्टो पिनोशे जैसे सत्तावादी तानाशाह का समर्थन किया, क्योंकि वे साम्यवाद विरोधी थे और अमेरिकी भू-राजनीतिक हितों के अनुरूप थे। इसी प्रकार, सोवियत संघ ने कभी-कभी राष्ट्रवादी या सत्तावादी शासनों का समर्थन किया जो सिद्धांत रूप से साम्यवादी नहीं थे, लेकिन पश्चिम का विरोध करते थे। यह "व्यावहारिकता बनाम सिद्धांत" का द्वंद्व विचारधारा की सीमा को दर्शाता है।

3. विचारधारा का आंतरिक विरोधाभास

कोई भीविचारधारा एकरूप या स्थिर नहीं होती। प्रत्येक के भीतर विभिन्न धाराएँ, विचारशील समूह और आंतरिक तनाव होते हैं जो आपस में प्रतिस्पर्धा करते हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी उदारवाद के भीतर ही मुक्त व्यापार के सिद्धांत और मानवाधिकार संरक्षण के सिद्धांत के बीच तनाव रहता है। एक कंपनी के साथ व्यापार करना जारी रखा जाए जो मानवाधिकारों का उल्लंघन करती है? इसी प्रकार, पर्यावरणवाद के भीतर, आर्थिक विकास पर तत्काल प्रतिबंधों के समर्थक और टिकाऊ विकास के धीमे मार्ग के पक्षधरों के बीच बहस चलती रहती है। ये आंतरिक विरोधाभास विचारधारा को एक स्थिर निर्देशक के बजाय एक गतिशील और कभी-कभी विरोधाभासी बल के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

4. विचारधारा और वास्तविकता के बीच का अंतर

विचारधारात्मक दावेअक्सर जटिल सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकताओं से मेल नहीं खाते। जब इन विचारों को कठोर रूप से लागू किया जाता है, तो वे अनपेक्षित और अक्सर हानिकारक परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। इराक और अफगानिस्तान में "लोकतंत्र थोपने" के प्रयासों के परिणाम इस बात के उदाहरण हैं। उदारवादी आदर्शों से प्रेरित होने के बावजूद, इन हस्तक्षेपों ने लंबे समय तक चलने वाले संघर्ष, सामाजिक अव्यवस्था और स्थिर शासन की स्थापना में विफलता को जन्म दिया। यह अंतर विचारधारात्मक शुद्धता और व्यावहारिक कार्यान्वयन की चुनौतियों के बीच के फासले को दर्शाता है। विचारधारा अक्सर एक आदर्श दुनिया की कल्पना करती है, लेकिन उस आदर्श को एक जटिल, अराजक और स्थापित हितों से भरी वास्तविक दुनिया में लागू करना काफी मुश्किल होता है।

5. नव-उपनिवेशवाद का आरोप

पश्चिमीउदारवादी विचारधारा, विशेष रूप से, पर नव-उपनिवेशवाद का आरोप लगाया जाता रहा है। आलोचकों का तर्क है कि लोकतंत्र, मानवाधिकार और मुक्त बाजार जैसे मूल्यों को सार्वभौमिक रूप में प्रस्तुत करके और उन्हें अंतर्राष्ट्रीय संस्थानों के माध्यम से लागू करके, पश्चिमी देश विकासशील दुनिया पर अपनी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएं थोप रहे हैं। इस प्रक्रिया को एक सूक्ष्म रूप से वर्चस्व स्थापित करने वाली परियोजना के रूप में देखा जाता है जो औपचारिक साम्राज्यवाद के समाप्त होने के बाद भी पश्चिमी प्रभाव और नियंत्रण को बनाए रखती है। यह आरोप विचारधारा और शक्ति के बीच गहरे संबंध को उजागर करता है, और इस बात पर प्रश्न खड़ा करता है कि क्या कोई भी विचारधारा वास्तव में तटस्थ या सार्वभौमिक हो सकती है, या फिर वह हमेशा किसी विशेष समूह के हितों और दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करती है।

8.7 निष्कर्ष

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा एक मौलिक और सक्रिय शक्ति के रूप में कार्य करती है। यह केवल राजनीतिक बयानबाजी नहीं है, बल्कि एक ऐसा ढाँचा है जो दुनिया को देखने, समझने और उसमें कार्य करने का तरीका तय करता है। विचारधाराएँ राज्यों के हितों को परिभाषित करती हैं, उनके बीच संबंधों की प्रकृति (मित्रता या शत्रुता) निर्धारित करती हैं और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं मानदंडों के निर्माण की नींव रखती हैं।ऐतिहासिक रूप से, उपनिवेशवाद से लेकर शीतयुद्ध तक, बड़े वैश्विक संघर्षों के केंद्र में विचारधारात्मक टकराव रहा है। ये संघर्ष केवल

शक्ति या संसाधनों के लिए नहीं, बल्कि दुनिया के भविष्य के विभिन्न दृष्टिकोणों के लिए थे। आज का विश्व एक बहु-विचारधारात्मक परिदृश्य प्रस्तुत करता है, जहाँ उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद, सत्तावादी पूंजीवाद, राजनीतिक इस्लाम, दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद और पर्यावरणवाद जैसी विविध धाराएँ एक साथ विद्यमान हैं और प्रभाव के लिए प्रतिस्पर्धा कर रही हैं। भविष्य की अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था इन विचारधाराओं के बीच संघर्ष, सहअस्तित्व या नए संश्लेषण पर निर्भर करेगी।

स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की गतिशीलता को समझने के लिए केवल सेनाओं और अर्थव्यवस्थाओं का विश्लेषण पर्याप्त नहीं है। विचारों की शक्ति, मूल्यों के संघर्ष और विश्वदृष्टियों के टकराव को समझना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि ये ही राज्यों के कार्यों को दिशा देते हैं और वैश्विक राजनीति के नियम लिखते हैं। इस प्रकार, विचारधारा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एक अपरिहार्य और शक्तिशाली आयाम बनी हुई है।

8.8 शब्दावली

शब्दावली (महत्वपूर्ण कठिन शब्द)

1. **संयतन (Containment)** – साम्यवाद के विस्तार को रोकने की नीति।
2. **बहुध्रुवीय विश्व** – अनेक शक्ति-केंद्रों वाला अंतर्राष्ट्रीय तंत्र।
3. **अराजकता (Anarchy)** – अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सर्वोच्च सत्ता का अभाव।
4. **सुरक्षा दुविधा** – एक राज्य की सुरक्षा नीति से दूसरे राज्य में असुरक्षा की भावना उत्पन्न होना।
5. **थ्यूसीडाइड्स ट्रैप** – उभरती और स्थापित शक्ति के टकराव से युद्ध की संभावना।
6. **अधिशेष मूल्य** – श्रम से उत्पन्न अतिरिक्त मूल्य।
7. **सामाजिक डार्विनवाद** – 'योग्यतम की उत्तरजीविता' को समाज पर लागू करने का सिद्धांत।
8. **प्रॉक्सी युद्ध** – महाशक्तियों द्वारा परोक्ष रूप से लड़ा गया युद्ध।
9. **मैकार्थीवाद** – वैचारिक शुद्धता के नाम पर दमन की नीति।

8.9 अभ्यास प्रश्न एवं उत्तर

1. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा को किस रूप में परिभाषित किया गया है?
(A) सैन्य रणनीति (B) आर्थिक नीति (C) संकल्पनात्मक लेंस (D) प्रशासनिक ढांचा

2. विचारधारा के विश्लेषणात्मक स्तर का संबंध किससे है?
(A) वांछित भविष्य (B) वर्तमान वास्तविकता की व्याख्या (C) सैन्य रणनीति (D) नैतिक आदर्श

3. शीतयुद्ध के दौरान अमेरिका की विदेश नीति मुख्यतः किस विचारधारा से प्रभावित थी?
(A) उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद (B) साम्राज्यवाद (C) साम्यवाद का संयतन (D) गुटनिरपेक्षता

4. "अराजकता वह है जो राज्य बनाते हैं" यह कथन किस विद्वान से संबंधित है?
(A) हंस मॉर्गेन्थाऊ (B) कैनेथ वाल्ट्ज (C) अलेक्जेंडर वेंट (D) फ्रांसिस फुकुयामा

5. यथार्थवाद के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल स्वभाव क्या है?
(A) नैतिक सहयोग (B) संस्थागत समन्वय (C) शक्ति के लिए संघर्ष (D) आर्थिक परस्पर निर्भरता

6. निर्भरता सिद्धांत में "केंद्र" और "परिधि" का संबंध किस पर आधारित है?
(A) सांस्कृतिक समानता (B) सैन्य गठबंधन (C) आर्थिक शोषण (D) वैचारिक एकरूपता

7. 'सभ्यताओं के संघर्ष' का सिद्धांत किसने प्रस्तुत किया?
(A) ग्राहम एलिसन (B) सैमुअल हंटिंगटन (C) इमैनुएल वालरस्टीन (D) जॉन रूग्गी

8. गुटनिरपेक्ष आंदोलन का मूल विचार किस सिद्धांत पर आधारित था?
(A) सामूहिक सुरक्षा (B) सैन्य विस्तार (C) संप्रभुता और स्वतंत्र विदेश नीति (D) शक्ति संतुलन

9. सत्तावादी पूंजीवाद का प्रमुख उदाहरण किस देश को माना जाता है?
(A) अमेरिका (B) भारत (C) चीन (D) जापान

10. नारीवादी अंतर्राष्ट्रीयवाद का मुख्य फोकस किस पर है?
(A) शक्ति संतुलन (B) राज्य-केंद्रित सुरक्षा (C) लैंगिक शक्ति गतिशीलता (D) मुक्त व्यापार

सही उत्तर (Answer Key)

1. (C), 2. (B), 3. (C), 4. (C), 5.(C), 6. (C), 7. (B), 8. (C), 9. (C), 10. (C)

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Ideology and International Relations, Review Essay, *ScienceDirect*, Elsevier Publications.
2. Ideology, Interests, and Foreign Policy, Research Article, *JSTOR*, Journal of International Relations.
3. Baylis, John; Smith, Steve; Owens, Patricia, *The Globalization of World Politics: An Introduction to International Relations*, Oxford University Press, Oxford.
4. Heywood, Andrew, *Global Politics*, Palgrave Macmillan, London.

8.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Morgenthau, H. J. (1948). Politics Among Nations: The Struggle for Power and Peace. New York: Alfred A. Knopf.

2. Waltz, K. N. (1979). Theory of International Politics. Reading, MA: Addison-Wesley.

3. Keohane, R. O., & Nye, J. S. (1977). Power and Interdependence: World Politics in Transition. Boston: Little, Brown.

4. Fukuyama, F. (1992). The End of History and the Last Man. New York: Free Press.

5. Huntington, S. P. (1996). The Clash of Civilizations and the Remaking of World Order. New York: Simon & Schuster.

7. Nye, J. S. (2004). Soft Power: The Means to Success in World Politics. New York: Public Affairs.

9. Gramsci, A. (1971). Selections from the Prison Notebooks. New York: International Publishers.

10. Doyle, M. W. (1986). "Liberalism and World Politics." American Political Science Review, 80(4), 1151-1169.

12. Acharya, A. (2014). The End of American World Order. Cambridge: Polity Press.

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। यह किस प्रकार एक संकल्पनात्मक लेंस के रूप में राज्यों की विदेश नीति, मित्र–शत्रु संबंधों तथा वैश्विक व्यवस्था की समझ को प्रभावित करती है?
2. यथार्थवाद, आदर्शवाद और मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में विचारधारा की भूमिका की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।
3. शीतयुद्ध को एक विचारधारात्मक संघर्ष के रूप में समझाइए। इस संघर्ष का वैश्विक राजनीति, सैन्य गठबंधनों और विकासशील देशों पर क्या प्रभाव पड़ा?
4. समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख विचारधारात्मक धाराओं—उदार अंतर्राष्ट्रीयवाद, सत्तावादी पूंजीवाद और दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद—का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
5. विचारधारा की सीमाओं एवं आलोचनाओं पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कीजिए कि क्यों विचारधारा को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का एकमात्र निर्धारक नहीं माना जा सकता।

इकाई 9- राष्ट्रीय हित

इकाई का स्वरुप

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 राष्ट्रीय हित का परिचय
9.4 राष्ट्रीय हित की व्याख्या और परिभाषाएं
9.5 राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विकास
9.6 राष्ट्रीय हित के प्रकार
9.7 राष्ट्रीय हित और और विदेश नीति
9.8 नैतिकता बनाम राष्ट्रीय हित का प्रश्न
9.9 सारांश
9.10 तकनीकी शब्दावली
9.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
9.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
9.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.14 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

'राष्ट्रीय हित' की अवधारणा का उद्भव आधुनिक काल में राष्ट्र–राज्यों के विकास और उनके अंतरराष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश के साथ हुआ। राष्ट्रीय हित से आशय उन लक्ष्यों और उद्देश्यों से है जिन्हें राज्य अन्य राज्यों के संदर्भ में सुरक्षित रखना या प्राप्त करना चाहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय संबंधों में अपनी नीति और दिशा स्वयं निर्धारित करता है तथा अपनी प्राथमिकताओं को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार क्रमबद्ध करता है।

इसी कारण राष्ट्रीय हित का विदेश नीति से अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय संबंधों का संचालन इस प्रकार करना होता है कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा हो सके और उन्हें अधिकतम संभव लाभ के साथ आगे बढ़ाया जा सके। चूँकि राष्ट्रीय हित समय, परिस्थितियों और अंतरराष्ट्रीय परिवेश के अनुसार बदलते रहते हैं, इसलिए राष्ट्रों की विदेश नीतियों में भी निरंतर परिवर्तन होता रहता है।

राष्ट्रीय हितों के निर्धारण में विचारधाराओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विभिन्न राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार विचारधाराओं की व्याख्या करते हैं और उन्हें अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप ढालते हैं। अपने राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्र कूटनीति, प्रचार, आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद, गठबंधन, युद्ध आदि विभिन्न साधनों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार विदेश नीति का निर्माण राष्ट्रीय हितों के आधार पर होता है और इन्हीं हितों के अनुरूप नीति के उपकरणों का चयन किया जाता है।

हालाँकि राष्ट्रीय हित की अवधारणा की एक बड़ी समस्या यह है कि कई बार यह वैश्विक आदर्शों और नैतिक मूल्यों से टकराव में आ जाती है। राष्ट्रीय हितों की व्याख्या और प्रस्तुति काफी हद तक नीति-निर्माताओं पर निर्भर करती है, क्योंकि वही यह तय करते हैं कि किसी राष्ट्र के लिए क्या हितकारी है और उन्हें कैसे आगे बढ़ाया जाए। इसलिए वैश्विक शांति, स्थिरता और सौहार्द बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रों के राष्ट्रीय हित परस्पर टकराव के बजाय अधिकतम सीमा तक एक-दूसरे के अनुकूल हों।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा की ऐतिहासिक जड़ें आधुनिक राज्य प्रणाली के विकास में निहित हैं। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र अपनी प्राथमिकताओं—जैसे सुरक्षा, शक्ति, प्रतिष्ठा, आर्थिक आत्मनिर्भरता और आत्म-संरक्षण—के आधार पर अपने हितों को परिभाषित करते हैं। अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में यथार्थवादी (Realist) दृष्टिकोण में राष्ट्रीय हित को केंद्रीय स्थान प्राप्त है, क्योंकि यह दृष्टिकोण सुरक्षा और शक्ति को अंतरराष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख निर्धारक तत्वों के रूप में देखता है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

1- राष्ट्रीय हित की अवधारणा के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे तथा।

2- राष्ट्रीय हित की अवधारणा के ऐतिहासिक विकास को समझ सकेंगे।

3- राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों की पहचान कर सकेंगे।

4- अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित महत्व को जान सकेंगे।

9.3 राष्ट्रीय हित का परिचय

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में प्रत्येक राष्ट्र अपने निर्णयों और कार्यवाहियों को कुछ निश्चित उद्देश्यों और मार्गदर्शक सिद्धांतों के आधार पर संचालित करता है, जिन्हें सामूहिक रूप से 'राष्ट्रीय हित' कहा जाता है। यही राष्ट्रीय हित किसी भी राज्य की विदेश नीति की मूल आधारशिला होते हैं। स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने दिसंबर 1947 में संसद में दिए गए अपने वक्तव्य में स्पष्ट किया था कि किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य उसके राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना होता है। उन्होंने यह भी कहा था कि भारत की विदेश नीति का केंद्रीय लक्ष्य देश के राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा सुनिश्चित करना है।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा अत्यंत व्यापक और परिवर्तनशील है। प्रत्येक देश के लिए राष्ट्रीय हित का स्वरूप उसकी विशिष्ट आवश्यकताओं, परिस्थितियों और उद्देश्यों के अनुसार भिन्न होता है। यह किसी राष्ट्र की भौगोलिक स्थिति, ऐतिहासिक अनुभवों तथा अंतरराष्ट्रीय परिवेश से प्रभावित होता है। किसी भी देश की आर्थिक स्थिति, सैन्य क्षमता, सांस्कृतिक परंपराएँ, सामाजिक मूल्य, धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वास तथा विचारधाराएँ- ये सभी तत्व राष्ट्रीय हित के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन्हीं कारकों के आधार पर शासक वर्ग और नागरिक यह तय करते हैं कि कौन-से मुद्दे राष्ट्र के लिए आवश्यक और लाभकारी हैं, और उसी अनुरूप विदेश नीति का निर्धारण किया जाता है।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा बड़ी अस्पष्ट है अतः इसकी परिभाषा करना कठिन कार्य है। रेमां आरों के अनुसार राष्ट्रीय हित की अवधारणा इतनी अस्पष्ट है कि यह अर्थहीन ही है या इसे अधिक से अधिक एक दिखावे की धारणा कहा जा सकता है। चार्ल्स लर्च तथा अब्दुल सईद के अनुसार, "व्यापक, दीर्घकालीन और सतत उद्देश्य जिसकी सिद्धि के लिए राज्य, राष्ट्र और सरकार में सब अपने को प्रयत्न करता हुआ पाते हैं, राष्ट्रीय हित है।' वॉन डिक के अनुसार राष्ट्रीय हित की परिभाषा एक ऐसी चीज के रूप में की जा सकती है जिसकी रक्षा या उपलब्धि राज्य एक-दूसरे के मुकाबले में करना चाहते हैं। राष्ट्रीय हित प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की अभिलाषाएं हैं जिसे वह अन्य राष्ट्रों के सन्दर्भ में प्राप्त करना चाहते हैं। अन्य राज्यों के मुकाबले में एक राज्य जो अभिलाषाएं रखता है वे मोटे तौर से विदेश नीति के ध्येय होते हैं और इन ध्येयों को ही राष्ट्रीय हित के नाम से पुकारा जाता है। विदेश नीति के इन ध्येयों को लक्ष्य और उद्देश्य (Goals and objectives) भी कहा जाता है। विदेश नीति के लक्ष्य दीर्घकालिक हित हैं जबकि उद्देश्य केवल तात्कालिक या अल्पकालीन होते हैं।

यह एक विवादास्पद विषय रहा है कि राष्ट्रीय हित को विदेश नीति का लक्ष्य माना जाए या एक मूल्य के रूप में समझा जाए। जो विद्वान राष्ट्रीय हित को एक उद्देश्य के रूप में देखते हैं, उनके अनुसार यह एक स्थायी और अपरिवर्तनीय अवधारणा है, जिसका सीधा संबंध शक्ति से होता है। इस दृष्टिकोण में राष्ट्रीय हित को समय और परिस्थितियों से स्वतंत्र माना जाता है तथा इसे राज्य की शक्ति-वृद्धि से जोड़ा जाता है।

इसके विपरीत, जो विचारक राष्ट्रीय हित को मूल्यपरक अवधारणा मानते हैं, उनका तर्क है कि राष्ट्रीय हित केवल शक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें अनेक नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य भी समाहित होते हैं। उनके अनुसार राष्ट्रीय हित का स्वरूप समय, समाज और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित हो सकता है।

पैडलफोर्ड और लिंकन के मतानुसार, राष्ट्रीय हित की अवधारणा किसी समाज के मूलभूत मूल्यों पर आधारित होती है। इन मूल्यों में राष्ट्र की समग्र भलाई, उसकी राजनीतिक मान्यताओं की सुरक्षा, राष्ट्रीय जीवन-पद्धति का संरक्षण, क्षेत्रीय अखंडता तथा सीमाओं की रक्षा और आत्म-संरक्षण जैसे तत्व शामिल हैं।

कई बार 'राष्ट्रीय हित' शब्द का प्रयोग विदेश नीति के लक्ष्यों के विश्लेषण के संदर्भ में किया जाता है, जिससे इसके अर्थ में अस्पष्टता उत्पन्न हो जाती है। पॉल सीबरी के अनुसार, इस अवधारणा का उपयोग मुख्यतः तीन अर्थों में किया जाता है। प्रथम, राष्ट्रीय हित उन आदर्श लक्ष्यों को दर्शाता है जिन्हें कोई राष्ट्र भविष्य में अपनी विदेश नीति के माध्यम से प्राप्त करना चाहता है; इसे राष्ट्रीय हित की आदर्शपरक धारणा कहा जाता है। द्वितीय, वर्णनात्मक अर्थ में राष्ट्रीय हित से तात्पर्य उन लक्ष्यों से है जिन्हें राष्ट्र अपने नेतृत्व के माध्यम से निरंतर प्राप्त करने का प्रयास करता है, जो यथार्थपरक होते हैं। तृतीय, राष्ट्रीय हित का आशय उन लक्ष्यों से है जिन्हें किसी राष्ट्र के नीति-निर्माता स्वीकार और मान्यता प्रदान करते हैं।

जोसेफ फ्रेंकेल ने 'राष्ट्रीय हित' को राष्ट्र की आकांक्षाओं तथा विदेश नीति के क्रियात्मक, व्याख्यात्मक और विवादात्मक पहलुओं को समझाने वाली अवधारणा के रूप में परिभाषित किया है।

9.4 राष्ट्रीय हित की व्याख्या और परिभाषाएँ

राष्ट्रीय हित की अवधारणा का इतिहास आधुनिक राज्य प्रणाली के विकास से जुड़ा हुआ है। राष्ट्र अंतरराष्ट्रीय मामलों में अपने व्यवहार और नीतियों का निर्धारण अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर करते हैं। ये प्राथमिकताएँ

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में उनके हितों को भी दर्शाती हैं, जैसे—सुरक्षा, शक्ति, प्रतिष्ठा, आर्थिक आत्मनिर्भरता, आत्म-संरक्षण आदि।

अंतरराष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन में यथार्थवादी (Realist) दृष्टिकोण में राष्ट्रीय हित की अवधारणा को विशेष महत्व दिया गया है। यथार्थवाद विचारों का ऐसा समूह है जो सुरक्षा और शक्ति से जुड़े कारकों के प्रभावों पर बल देता है। यथार्थवादी विद्वान राजनीति को शक्ति के लिए संघर्ष मानते हैं और इस संघर्ष को समझने के लिए राष्ट्रीय हित को केंद्रीय अवधारणा मानते हैं। प्रमुख यथार्थवादी विचारक जॉर्ज केनन और हंस मॉर्गेन्थाउ का मत था कि राष्ट्रीय हित न केवल विदेश नीति के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उपयोगी है, बल्कि विवेकपूर्ण नीति-निर्माण के लिए भी एक विश्वसनीय मार्गदर्शक है। हालाँकि, राष्ट्रीय हित और नैतिक मूल्यों के आपसी संबंध को लेकर यथार्थवादी विद्वानों में भी पूर्ण सहमति नहीं है। फिर भी इस बात पर सामान्य सहमति है कि विदेश नीति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों का मार्गदर्शन नैतिक सिद्धांतों के बजाय राष्ट्रीय हित के आधार पर होना चाहिए।

राज्य अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार कार्य करते हैं, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि वे अपने राष्ट्रीय हित को किस प्रकार परिभाषित करते हैं। राष्ट्रीय हित को परिभाषित करने में कठिनाई इसलिए आती है क्योंकि कई बार यह वैश्विक आदर्शों से टकरा जाता है। अनेक विद्वानों ने राष्ट्रीय हित की परिभाषा दी है। वर्नन वैन डाइक के अनुसार, राष्ट्रीय हित वह है जिसे राज्य आपसी संबंधों में सुरक्षित रखना या प्राप्त करना चाहते हैं। रॉबर्ट कैंटर के शब्दों में, राष्ट्रीय हित की अवधारणा यह दर्शाती है कि विदेश नीति एक संगठित रूप ले सकती है, जो राष्ट्र से जुड़ी विभिन्न चिंताओं का प्रतिनिधित्व करती है। ये चिंताएँ पूरे राष्ट्र के व्यापक हितों को दर्शाती हैं, न कि केवल शासक वर्ग के सीमित हितों को। यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार, अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में किसी राज्य की स्थिति उसके राष्ट्रीय हित को निर्धारित करती है और उसकी विदेश नीति का अनुमान लगाने में सहायक होती है। वहीं उदारवादी (Liberal) विचारकों के अनुसार, राष्ट्रीय हित राज्य के आंतरिक समाज और संस्कृति पर निर्भर करता है। जोसेफ फ्रेंकेल के अनुसार, राष्ट्रीय हित राष्ट्र से जुड़े सभी मूल्यों का समुच्चय है और इसे उन स्थायी उद्देश्यों के रूप में समझा जा सकता है जिनके लिए राष्ट्र कार्य करता है। चार्ल्स लर्चे और अबुल सईद के अनुसार, राष्ट्रीय हित वह दीर्घकालिक और सतत उद्देश्य है जिसकी पूर्ति के लिए राज्य, राष्ट्र और सरकार स्वयं को समर्पित मानते हैं।

राष्ट्र अपनी प्राथमिकताओं का निर्धारण अपने संसाधनों के आधार पर करते हैं। इन प्राथमिकताओं में सुरक्षा को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। जिन शक्तिशाली राष्ट्रों की राजनीतिक, आर्थिक और सैन्य गतिविधियाँ विश्व स्तर पर फैली हुई हैं—जैसे अमेरिका और सोवियत संघ—उन्होंने सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। इसके विपरीत, सीमित संसाधनों और सीमित हितों वाले छोटे राष्ट्र, जैसे स्विट्ज़रलैंड और स्वीडन, अपने हितों की रक्षा मुख्यतः कूटनीति के माध्यम से करते रहे। संसाधनों की सीमाएँ राष्ट्रों को अपनी प्राथमिकताओं को पुनः व्यवस्थित करने के लिए बाध्य करती हैं, क्योंकि कोई भी राष्ट्र असीमित संसाधनों वाला नहीं होता। उदाहरण के लिए, पड़ोसी देशों से खतरा झेलने वाला राष्ट्र सुरक्षा को सर्वोच्च स्थान देता है, जबकि अपेक्षाकृत सुरक्षित राष्ट्र आर्थिक विकास पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन ने अपनी आर्थिक समस्याओं पर ध्यान देने के लिए अपनी शक्ति और क्षेत्रों का त्याग किया। इसी प्रकार, जनरल चार्ल्स डी गॉल ने फ्रांस की शक्ति और प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के लिए परमाणु हथियार विकास कार्यक्रमों पर बल दिया। इस प्रकार राष्ट्र अपनी प्राथमिकताओं को इस तरह क्रमबद्ध करते हैं कि घरेलू और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप यथार्थवादी विदेश नीति निर्णय लिए जा सकें। ये प्राथमिकताएँ ही राष्ट्रीय हित के घटक होती हैं। प्रत्येक राष्ट्र के लिए आर्थिक पर्याप्तता का एक न्यूनतम स्तर आवश्यक होता है और इस स्तर की रक्षा एवं उन्नति भी राष्ट्रीय हित का हिस्सा होती है। अरब देशों द्वारा इज़राइल के साथ संघर्ष में तेल को कूटनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किए जाने से अनेक देशों को अपनी विदेश नीति की

प्राथमिकताओं पर पुनर्विचार करना पड़ा। तेल प्रतिबंध के बाद कई ऐसे देश, जो सामान्यतः इज़राइल के समर्थक थे, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तेल की उपलब्धता उनके राष्ट्रीय हित में अधिक महत्वपूर्ण है।

राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा या उनकी प्राप्ति का प्रयास करते हैं और यही विदेश नीति के उद्देश्य भी होते हैं। इन उद्देश्यों को 'लक्ष्य' (Goals) और 'उद्देश्य' (Objectives) में विभाजित किया जा सकता है। दोनों में अंतर उनके समय-क्षेत्र के आधार पर होता है। लक्ष्य दीर्घकालिक होते हैं, जबकि उद्देश्य तात्कालिक या अल्पकालिक होते हैं। सुरक्षा को लेकर यह बहस रही है कि इसे तात्कालिक हित माना जाए या अंतिम राष्ट्रीय हित। फिर भी विद्वानों में इस बात पर सहमति है कि सुरक्षा राष्ट्रीय हित का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। सुरक्षा दीर्घकाल में लक्ष्य और अल्पकाल में उद्देश्य दोनों हो सकती है। चाहे इसे उद्देश्य माना जाए या लक्ष्य, यह प्रत्येक देश की विदेश नीति का केंद्रीय तत्व रही है। राष्ट्रीय हित यह तय करते हैं कि सुरक्षा को कब उद्देश्य के रूप में और कब लक्ष्य के रूप में अपनाया जाए।

अमेरिका का वियतनाम में हस्तक्षेप लक्ष्य और उद्देश्य के भ्रम का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। अमेरिका का उद्देश्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना था, जो दीर्घकालिक प्रभाव वाला एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था। किंतु दक्षिण वियतनाम की सरकार की रक्षा को राष्ट्रीय हित के नाम पर एक स्थायी लक्ष्य बना लिया गया, जबकि इसे केवल एक सीमित उद्देश्य के रूप में देखा जाना चाहिए था।

यह भी उल्लेखनीय है कि विभिन्न कारणों से देशों के राष्ट्रीय हित समय-समय पर बदलते रहते हैं। सरकारों में परिवर्तन, प्रभावशाली समूहों के हित, या अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों में बदलाव—जैसे वैश्वीकरण की शुरुआत या द्विध्रुवीय व्यवस्था से बहुध्रुवीय व्यवस्था की ओर संक्रमण—इन परिवर्तनों के प्रमुख कारण हो सकते हैं। राष्ट्रीय हितों को सामान्यतः महत्वपूर्ण (Vital) और गौण (Non-vital) हितों में विभाजित किया जाता है। महत्वपूर्ण हित वे होते हैं जिन पर राज्य किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करता और जिनकी रक्षा के लिए युद्ध तक करने को तैयार रहता है। इनमें क्षेत्रीय अखंडता और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की रक्षा शामिल होती है। ये हित स्थायी या प्राथमिक माने जाते हैं, हालाँकि समय के साथ इनमें भी परिवर्तन हो सकता है। कई बार, विशेषकर महाशक्तियों के संदर्भ में, महत्वपूर्ण हितों को अंतरराष्ट्रीय मानकों की उपेक्षा करते हुए स्वार्थपूर्ण ढंग से परिभाषित किया जाता है। वियतनाम, पश्चिम एशिया और अफगानिस्तान में अमेरिकी हस्तक्षेप को उसके महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हितों की रक्षा के रूप में प्रस्तुत किया गया। इसके विपरीत, गौण या द्वितीयक हित वे होते हैं जिनके लिए राज्य युद्ध नहीं करता, बल्कि व्यापार में सुधार या सांस्कृतिक संपर्क जैसे साधनों से उन्हें पूरा करने का प्रयास करता है।

महत्वपूर्ण हितों को विदेश नीति के लक्ष्य और गौण हितों को उद्देश्य माना जा सकता है। सामान्य उद्देश्यों में अन्य देशों के साथ अच्छे संबंध बनाए रखना, विचारधारा की रक्षा, जनकल्याण, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और शक्ति में वृद्धि शामिल हैं। प्रत्येक राज्य अपने उद्देश्यों को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप निर्धारित करता है। फ्रेंकेल ने राष्ट्रीय हित की अवधारणा के प्रयोग को चार स्तरों—आकांक्षात्मक, क्रियात्मक, व्याख्यात्मक और विवादात्मक—में वर्गीकृत किया है। आकांक्षात्मक स्तर पर राष्ट्रीय हित उन आदर्श लक्ष्यों को दर्शाता है जिन्हें राज्य प्राप्त करना चाहता है। क्रियात्मक स्तर पर यह उन नीतियों और हितों का समुच्चय है जिन्हें वास्तव में अपनाया जाता है। व्याख्यात्मक और विवादात्मक स्तर पर राष्ट्रीय हित की अवधारणा का उपयोग विदेश नीति की व्याख्या, मूल्यांकन, औचित्य सिद्ध करने या आलोचना करने के लिए किया जाता है।

9.5 राष्ट्रीय हित की अवधारणा का वकास

विदेश नीति का मूल उद्देश्य किसी राष्ट्र के हितों की रक्षा करना अथवा उन्हें प्राप्त करना होता है। इस संदर्भ में लॉर्ड पामर्स्टन का यह कथन अत्यंत प्रासंगिक माना जाता है कि किसी राष्ट्र के न तो स्थायी मित्र होते हैं और न ही स्थायी शत्रु, बल्कि केवल उसके हित ही स्थायी होते हैं, और उन्हीं हितों की पूर्ति तथा संरक्षण राज्य का प्रमुख दायित्व है।

प्राचीन और मध्यकालीन युगों में राज्य के हित और शासक के व्यक्तिगत हितों में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जाता था। उस समय राजा अपने व्यक्तिगत वैभव और प्रतिष्ठा की वृद्धि के लिए युद्ध करता था। अश्वमेध या राजसूय यज्ञ जैसे अनुष्ठानों के माध्यम से चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा रखी जाती थी, और शासक की उपलब्धियों में प्रजा भी गौरव का अनुभव करती थी। राजा संगठित सेनाओं के साथ दिग्विजय अभियानों पर निकलता था और लौटने पर युद्ध से प्राप्त संपत्ति का कुछ भाग जनता में भी बाँट देता था। इस कारण उस समय की राजनीति अपेक्षाकृत सरल थी और विदेश नीति का दायरा मुख्यतः युद्ध करने या न करने तक सीमित रहता था।

किन्तु राष्ट्र–राज्यों के उदय के साथ अंतरराष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप अधिक जटिल हो गया। औद्योगिक क्रांति, व्यापार के विस्तार, वैज्ञानिक सोच के विकास तथा परिवहन और संचार के साधनों की प्रगति ने राजनीति को केवल राजाओं, सामंतों और सेनानायकों तक सीमित नहीं रहने दिया। आधुनिक राष्ट्र–राज्यों का प्रारंभिक विकास यूरोप में हुआ, जिसके परिणामस्वरूप अंतरराष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। इसी क्रम में राज्यों की विदेश नीतियाँ भी नए आयामों के साथ विकसित हुईं। अब शासकों के व्यक्तिगत हितों के स्थान पर राज्य के सामूहिक हितों को प्राथमिकता मिलने लगी। उदाहरण के लिए, स्पेन के उत्तराधिकार या ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार से जुड़े युद्ध केवल किसी एक राजा या वंश के लाभ–हानि के लिए नहीं लड़े गए थे, बल्कि उनके पीछे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक राष्ट्रों के हित और टकराव निहित थे।

9.6 राष्ट्रीय हित के प्रकार

थॉमस रॉबिन्सन ने राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों को छः वर्गों मे बांटा हैं, ये हैं :

1. प्रथम कोटि के हित (Primary Interests)- ये वे हित हैं जो किसी राज्य के लिए सर्वाधिक महत्व रखते हैं और जिनकी रक्षा के लिए राज्य बड़े से बड़ा बलिदान और त्याग करने के लिए सदा तैयार रहते हैं। इस प्रकार का सबसे बड़ा हित राष्ट्र की सुरक्षा है।

2. गौण हित (Secondary Interests) – ये वे हित हैं जो प्राथमिक हितों से कम महत्व रखते हैं, किन्तु फिर भी राज्य की सत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। इस वर्ग के हितों के उदाहरण हैं विदेशों में अपने नागरिकों की सुरक्षा तथा इस बात को सुनिश्चित बनाना कि विदेशों में अपने देश के राजदूतों की राजनयिक उन्मुक्तियों (Diplomatic Immunities) की तथा नागरिकों के हितों की रक्षा की जाए।

3. स्थायी हित (Permanent Interests)- ये राज्य के लगभग सदैव बने रहने वाले, दीर्घकालीन लक्ष्य एवं प्रयोजन होते हैं। इनका एक सुन्दर उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन द्वारा अपने उपनिवेशों तथा विदेशी व्यापार की रक्षा के लिए महासमुद्रों में नौचालन की स्वतन्त्रता (Freedom of Navigation) को बनाए रखना है। भारत का इस प्रकार का प्रयोजन देश का शन्तिपूर्ण आर्थिक विकास करना है।

4. परिवर्तनशील हित (Variable Interests)- ये राष्ट्र के ऐसे हित हैं जिन्हें कोई राष्ट्र किसी विशेष परिस्थिति में राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक समझता है। ऐसे हित प्रथम एवं द्वितीय कोटि से प्रायः भिन्न होते हैं। ये लोकमत तथा विभिन्न व्यक्तियों के विचारों से प्रभावित होते हैं।

5. सामान्य हित (Common Interests) - सामान्य हित वे परिस्थितियां होती हैं जो उस देश को सामान्य रूप से अथवा आर्थिक, व्यापारिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में लाभ पहुंचाने वाली होती हैं। ग्रेट ब्रिटेन के लिए यूरोप में शक्ति सन्तुलन बनाए रखना इसी प्रकार का सामान्य हित था।

6. विशिष्ट हित (Specific Interests) – ये सामान्य हितों से उत्पन्न होते हैं और उनके साथ गहरा सम्बन्ध रखते हैं। जैसे यूरोप में शक्ति सन्तुलन को बनाए रखना ब्रिटेन का सामान्य हित था, किन्तु इस हित को बनाए रखने के लिए यह भी आवश्यक था कि ब्रिटिश द्वीपसमूह के सामने इंगलिश चैनल के उस पार बेल्जियम और हॉलैण्ड के प्रदेशों में यूरोप की किसी महाशक्ति का अधिकार न हो। यदि नेपोलियन और हिटलर जैसा कोई सेनापति इस प्रदेश पर अधिकार कर ले तो वह यहां से इंग्लैण्ड पर हमला करने की और उसे जीतने की योजना बना सकता था। दोनों ने ही ऐसा प्रयास किया था। अतः ब्रिटेन का सदैव यह प्रयत्न रहता है कि बेल्जियम सदैव तटस्थ बना रहे और इस पर यूरोप का किसी महाशक्ति का प्रभुत्व स्थापित न हो। इस कारण यह ब्रिटेन का विशिष्ट हित था।

रॉबिन्सन ने राष्ट्रीय हितों के अतिरिक्त कुछ **अंतरराष्ट्रीय हितों** का भी उल्लेख किया है। इनमें पहला है **समान हित**, जो दो या अधिक देशों के लिए समान रूप से लाभकारी होते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका और ब्रिटेन दोनों ही यह नहीं चाहते थे कि यूरोप पर किसी एक महाशक्ति का प्रभुत्व स्थापित हो। दूसरा प्रकार है **पूरक हित**, जो समान न होते हुए भी देशों के बीच सहयोग का आधार बनते हैं। जैसे ब्रिटेन और पुर्तगाल के संबंध, जिनसे दोनों को अपने-अपने क्षेत्रीय हितों की सुरक्षा में लाभ हुआ। तीसरा प्रकार है **परस्पर विरोधी हित**, जो राज्यों के बीच संघर्ष का कारण बनते हैं। भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर विवाद इसका स्पष्ट उदाहरण है।

राष्ट्रीय हितों को सामान्यतः **मार्मिक (महत्वपूर्ण)** और **अमार्मिक (गौण)** हितों में विभाजित किया जाता है। मार्मिक या दीर्घकालीन हित किसी राष्ट्र के सबसे बुनियादी हित होते हैं, जिन पर वह कोई समझौता नहीं करना चाहता और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिए भी तैयार हो सकता है। इनमें राष्ट्रीय सुरक्षा, स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा प्रमुख हैं। इन हितों की सुरक्षा के लिए देश गठबंधन बनाते हैं, सुरक्षा संधियाँ करते हैं और कूटनीतिक व आर्थिक उपाय अपनाते हैं।

इसके विपरीत, अमार्मिक या गौण हित वे होते हैं जिनके लिए कोई राष्ट्र युद्ध का जोखिम नहीं उठाता। इनमें व्यापार वृद्धि, सांस्कृतिक प्रसार, प्रतिष्ठा की रक्षा और जनता के भौतिक कल्याण जैसे उद्देश्य शामिल होते हैं।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रीय हित की कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह अनेक सांस्कृतिक और राजनीतिक कारकों पर निर्भर करता है। उन्होंने राष्ट्रीय हित के दो पक्ष बताए—**स्थायी** और **अस्थायी**। स्थायी तत्व सभी देशों के लिए समान रूप से आवश्यक होते हैं, जबकि अस्थायी तत्व समय, परिस्थितियों और जनमत के साथ बदलते रहते हैं। विदेश नीति का कार्य इन दोनों के बीच संतुलन बनाए रखना है।

राष्ट्रीय हित एक **गतिशील अवधारणा** है, जो समय और परिस्थितियों के साथ बदलती रहती है। रेमों आरों के अनुसार यह विदेश नीति को दिशा देने वाला सिद्धांत है, जो नीति-निर्माताओं को दीर्घकालीन उद्देश्यों और तात्कालिक लक्ष्यों के बीच प्राथमिकता तय करने में सहायता करता है। डॉ. महेन्द्र कुमार का मत है कि राष्ट्रीय हित

न तो केवल सर्वोत्तम इच्छा है और न ही केवल व्यावहारिक संभावना, बल्कि यह दोनों के संतुलन से आगे की अवधारणा है।

9.7 राष्ट्रीय हित और वदेश नीति

अंतरराष्ट्रीय संबंधों में राष्ट्रीय हित एक अत्यंत महत्वपूर्ण अवधारणा है और इसका विदेश नीति से गहरा संबंध होता है। विदेश नीति सरकार द्वारा किए गए उन कार्यों का समूह है, जिनके माध्यम से कोई राज्य अन्य देशों और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के साथ संबंध स्थापित करता है। इन सभी कार्यों का उद्देश्य किसी न किसी रूप में राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करना होता है।

राष्ट्रीय हित के आधार पर ही विदेश नीति का निर्माण किया जाता है। विदेश नीति के सभी कदम किसी निश्चित उद्देश्य को ध्यान में रखकर उठाए जाते हैं और इन उद्देश्यों को सामान्यतः राष्ट्रीय हित के अंतर्गत ही समेटा जाता है। इसलिए विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना और उन्हें अधिकतम लाभ के साथ आगे बढ़ाना होता है। इसके लिए यह समझना आवश्यक है कि लक्ष्य क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जाए।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में यह संभव है कि शत्रुतापूर्ण संबंधों के बावजूद देशों के कुछ हित समान हों। इसी प्रकार, विभिन्न देशों की नीतियाँ भिन्न होते हुए भी कई मुद्दों पर समान दिशा में जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिम एशियाई देशों की विदेश नीतियाँ अलग-अलग होने के बावजूद अनेक विषयों पर उनका रुख समान रहता है, हालाँकि सुरक्षा बनाए रखने के तरीकों को लेकर उनके दृष्टिकोण अलग हो सकते हैं।

राष्ट्रीय हित स्थायी नहीं होते, बल्कि समय और परिस्थितियों के साथ बदलते रहते हैं। इसी कारण देशों की विदेश नीतियों में भी परिवर्तन होता रहता है। विभिन्न देशों के बीच हितों की समानता या भिन्नता अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों और आपसी संबंधों पर निर्भर करती है। यही कारण है कि कोई देश सभी राष्ट्रों के प्रति समान नीति नहीं अपनाता। उदाहरण के तौर पर, अमेरिका की नीतियाँ सऊदी अरब और ईरान के प्रति अलग-अलग हैं।

देशों की क्षमताएँ भी उनके राष्ट्रीय हितों और उद्देश्यों को प्रभावित करती हैं। शक्तिशाली देशों के उद्देश्य और प्राथमिकताएँ कमजोर या छोटे देशों से भिन्न होती हैं। इसलिए विदेश नीति बनाते समय यह आवश्यक होता है कि लक्ष्य देश की वास्तविक क्षमताओं के अनुरूप हों। राष्ट्रीय हित ही इन उद्देश्यों को दिशा प्रदान करते हैं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि विदेश नीति किसी राज्य के हितों, उपलब्ध अवसरों और सामने मौजूद खतरों का परिणाम होती है। हालाँकि राष्ट्रीय हित विदेश नीति का प्रमुख आधार होता है, फिर भी केवल उसी पर विदेश नीति निर्भर नहीं करती। कई बार नेता विदेश नीति का उपयोग अपनी आंतरिक राजनीतिक स्थिति को मजबूत करने के लिए भी करते हैं।

9.8 नैतिकता बनाम राष्ट्रीय हित का प्रश्न

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता और राष्ट्रीय हित के बीच संबंध को लेकर विशेष रूप से 1990 के दशक में व्यापक बहस हुई। इस दौर में उदारवादी विचारधारा के अंतर्गत मानवीय मूल्यों और मानवाधिकारों को वैश्विक स्तर पर अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति बढ़ी। इसी संदर्भ में मानवीय हस्तक्षेप की अवधारणा उभरी, जिसका अर्थ है किसी देश में बाहरी सैन्य हस्तक्षेप का उद्देश्य वहाँ के नागरिकों को उत्पीड़न या मानवाधिकारों के उल्लंघन से बचाना।

हालाँकि ऐसे हस्तक्षेपों को प्रायः नैतिक और मानवीय आधारों पर उचित ठहराया जाता है, लेकिन कई विद्वान इस पर आपत्ति भी जताते हैं। अंतरराष्ट्रीय कानून के मूल सिद्धांत—जैसे संप्रभुता, गैर-हस्तक्षेप और बल प्रयोग से परहेज़—राष्ट्रीय हित की अवधारणा से जुड़े हुए हैं। यथार्थवादी विचारक मानते हैं कि राज्य मुख्यतः अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार ही कार्य करते हैं और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नैतिक मूल्यों की भूमिका सीमित होती है। उनके अनुसार यह अव्यावहारिक है कि राज्य केवल मानवीय कारणों से अपने सैनिकों के जीवन को जोखिम में डालें।

इसके विपरीत, उदारवादी विचारधारा यह मानती है कि जब कहीं गंभीर मानवाधिकार उल्लंघन या नरसंहार जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हों, तब राज्यों पर नैतिक दायित्व बनता है कि वे हस्तक्षेप करें। फिर भी यथार्थवादी यह चेतावनी देते हैं कि यदि यह तय करने की कोई निष्पक्ष व्यवस्था न हो कि हस्तक्षेप कब उचित है, तो राज्य नैतिकता का सहारा लेकर अपने स्वार्थपूर्ण राष्ट्रीय हितों को छिपाने का प्रयास कर सकते हैं।

इस प्रकार, अंतरराष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता और राष्ट्रीय हित के बीच संतुलन एक जटिल और विवादास्पद विषय बना हुआ है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. राष्ट्रीय हित की अवधारणा का उद्भव आधुनिक राष्ट्र–राज्य प्रणाली के विकास के साथ हुआ।

2. राष्ट्रीय हित और विदेश नीति के बीच कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता।

3. राष्ट्रीय हित समय, परिस्थितियों और अंतरराष्ट्रीय परिवेश के अनुसार बदलता रहता है।

4. यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार राष्ट्रीय हित का मुख्य आधार शक्ति और सुरक्षा है।

5. प्राचीन और मध्यकालीन युगों में राज्य के हित और शासक के व्यक्तिगत हितों में स्पष्ट अंतर था।

9.9 सारांश

राष्ट्रीय हित की अवधारणा आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति की एक केंद्रीय और मूलभूत अवधारणा है। इसका विकास आधुनिक राष्ट्र–राज्यों के उदय के साथ हुआ, जब राज्य एक संगठित राजनीतिक इकाई के रूप में अंतरराष्ट्रीय मंच पर सक्रिय होने लगे। राष्ट्रीय हित से आशय उन लक्ष्यों, आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं से है, जिन्हें कोई राष्ट्र अन्य राज्यों के संदर्भ में सुरक्षित रखना या प्राप्त करना चाहता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी विदेश नीति का निर्माण अपने राष्ट्रीय हितों के आधार पर करता है और इन्हीं हितों के अनुरूप अपनी अंतरराष्ट्रीय भूमिका निर्धारित करता है।

राष्ट्रीय हित और विदेश नीति के बीच अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय संबंधों का ऐसा संचालन करना होता है, जिससे राष्ट्र के हितों की रक्षा हो सके और उन्हें अधिकतम लाभ के साथ आगे बढ़ाया जा सके। चूँकि राष्ट्रीय हित समय, परिस्थितियों और अंतरराष्ट्रीय परिवेश के अनुसार बदलते रहते हैं, इसलिए विदेश नीतियाँ भी स्थिर न होकर परिवर्तनशील होती हैं। विचारधाराएँ भी राष्ट्रीय हितों के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका

निभाती हैं, क्योंकि विभिन्न राष्ट्र अपनी परिस्थितियों के अनुसार विचारधाराओं की व्याख्या करते हैं और उन्हें अपने हितों के अनुकूल ढालते हैं।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा व्यापक और कुछ हद तक अस्पष्ट मानी जाती है, इसलिए इसकी एक सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है। अनेक विद्वानों ने इसे अलग-अलग दृष्टिकोणों से समझाने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार राष्ट्रीय हित वह दीर्घकालीन और सतत उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति के लिए राज्य, राष्ट्र और सरकार निरंतर प्रयासरत रहते हैं। अन्य विद्वानों के अनुसार यह उन अभिलाषाओं का समूह है जिन्हें राज्य अन्य राज्यों के संदर्भ में पूरा करना चाहता है। राष्ट्रीय हित को विदेश नीति के लक्ष्यों और उद्देश्यों के रूप में भी देखा जाता है, जहाँ लक्ष्य दीर्घकालीन होते हैं और उद्देश्य तात्कालिक या अल्पकालीन।

राष्ट्रीय हित को लेकर यह बहस भी रही है कि इसे विदेश नीति का उद्देश्य माना जाए या एक मूल्य के रूप में। यथार्थवादी विचारक राष्ट्रीय हित को शक्ति और सुरक्षा से जुड़ी एक स्थायी अवधारणा मानते हैं, जबकि अन्य विद्वान इसे मूल्यपरक मानते हैं, जिसमें नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक तत्व भी शामिल होते हैं। पैडलफोर्ड और लिंकन के अनुसार, राष्ट्रीय हित समाज के मूलभूत मूल्यों से जुड़ा होता है, जैसे राष्ट्र का कल्याण, राजनीतिक विश्वासों की सुरक्षा, जीवन-पद्धति का संरक्षण और क्षेत्रीय अखंडता।

राष्ट्रीय हित की अवधारणा का विकास ऐतिहासिक रूप से भी महत्वपूर्ण है। प्राचीन और मध्यकालीन युगों में राज्य के हित और शासक के व्यक्तिगत हितों में कोई स्पष्ट अंतर नहीं था। उस समय युद्ध, विजय और विस्तार शासकों के व्यक्तिगत गौरव से जुड़े होते थे। लेकिन आधुनिक राष्ट्र–राज्यों के उदय, औद्योगिक क्रांति, व्यापार के विस्तार, विज्ञान तथा परिवहन-संचार के विकास के साथ राजनीति और अंतरराष्ट्रीय संबंध अधिक जटिल हो गए। अब व्यक्तिगत शासकों के हितों के स्थान पर राज्य के सामूहिक हितों को प्राथमिकता मिलने लगी।

राष्ट्रीय हितों के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण थॉमस रॉबिन्सन ने किया है। उन्होंने प्राथमिक, गौण, स्थायी, परिवर्तनशील, सामान्य और विशिष्ट हितों का उल्लेख किया। प्राथमिक हितों में राष्ट्रीय सुरक्षा सर्वोपरि होती है, जबकि गौण हित अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते हैं, जैसे विदेशों में नागरिकों की सुरक्षा। स्थायी हित दीर्घकालीन होते हैं, जबकि परिवर्तनशील हित परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त, समान, पूरक और परस्पर विरोधी हितों जैसे अंतरराष्ट्रीय हित भी राज्यों के संबंधों को प्रभावित करते हैं।

राष्ट्रीय हितों को मार्मिक (महत्वपूर्ण) और अमार्मिक (गौण) हितों में भी बाँटा जाता है। मार्मिक हित वे होते हैं जिन पर कोई राज्य समझौता नहीं करता और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिए भी तैयार रहता है, जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा, स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अखंडता। अमार्मिक हित अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते हैं, जैसे व्यापार वृद्धि, सांस्कृतिक प्रसार और प्रतिष्ठा।

मॉर्गेन्थाऊ के अनुसार राष्ट्रीय हित के स्थायी और अस्थायी दोनों पक्ष होते हैं। स्थायी पक्ष सभी देशों के लिए आवश्यक होते हैं, जबकि अस्थायी पक्ष समय, परिस्थितियों और जनमत के अनुसार बदलते रहते हैं। विदेश नीति का कार्य इन दोनों के बीच संतुलन बनाए रखना है। रेमों आरों और डॉ. महेन्द्र कुमार ने भी राष्ट्रीय हित को एक गतिशील अवधारणा माना है, जो न तो केवल आदर्श है और न ही केवल व्यावहारिक, बल्कि दोनों का संतुलित रूप है।

अंततः, राष्ट्रीय हित और विदेश नीति एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं। विदेश नीति किसी राज्य के हितों, क्षमताओं, अवसरों और खतरों का परिणाम होती है। यद्यपि राष्ट्रीय हित विदेश नीति का प्रमुख आधार है, फिर भी

विदेश नीति केवल उसी पर निर्भर नहीं करती, क्योंकि कई बार आंतरिक राजनीति और नेतृत्व के हित भी इसे प्रभावित करते हैं। इस प्रकार, राष्ट्रीय हित अंतरराष्ट्रीय राजनीति को समझने और विदेश नीति का विश्लेषण करने की एक केंद्रीय कुंजी है।

9.10 तकनीकी शब्दावली

1. **विदेश नीति** – किसी राज्य द्वारा अन्य देशों तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के साथ संबंधों के संचालन हेतु अपनाई गई नीतियों और कार्यों का समुच्चय।
2. **मार्मिक हित** – वे राष्ट्रीय हित जिन पर कोई राष्ट्र समझौता नहीं करता और जिनकी रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने को भी तैयार रहता है, जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा और क्षेत्रीय अखंडता।
3. **अमार्मिक हित** – वे हित जो अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण होते हैं और जिनकी प्राप्ति के लिए राष्ट्र युद्ध का जोखिम नहीं उठाता, जैसे व्यापार वृद्धि और सांस्कृतिक संबंध।
4. **यथार्थवाद (Realism)** – अंतरराष्ट्रीय संबंधों का वह दृष्टिकोण जो शक्ति, सुरक्षा और राष्ट्रीय हित को राजनीति का केंद्रीय आधार मानता है।
5. **क्षेत्रीय अखंडता** – किसी राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं की एकता और सुरक्षा, जिसमें उसके क्षेत्र का विभाजन या अतिक्रमण न हो।
6. **गठबंधन** – समान हितों की पूर्ति या सुरक्षा के लिए दो या अधिक राष्ट्रों के बीच किया गया औपचारिक समझौता या सहयोग व्यवस्था।

9.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य 2.असत्य 3.सत्य 4.सत्य 5.असत्य

9.12 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Frankel, Joseph. 1969. *International Relations*. London: Oxford University Press.
2. Guzzini, Stefano. 1998. *Realism in International Relations and International Political Economy*. London: Routledge.
3. Kumar, Mahendra. 1976. *Theoretical Aspects of International Politics*. Agra: Shivlal Agarwala and Company.
4. Nye, Joseph S., Jr, 2008. *Understanding International Conflicts: An Introduction to Theory and History*. Delhi: Dorling Kindersley.
5. *International Relations and World Politics: Security, Economy*, *Identity*. Delhi: Dorling Kindersley.

9.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Rumki Basu- International Politics: Concepts, Theories and Issues
2. बी.एल.फड़िया- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति: सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे

1.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय हित की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इसके महत्व का विवेचन कीजिए।

2. राष्ट्रीय हित और विदेश नीति के पारस्परिक संबंधों की विस्तार से व्याख्या कीजिए।

3. राष्ट्रीय हित की अवधारणा का ऐतिहासिक विकास प्राचीन काल से आधुनिक राष्ट्र–राज्य व्यवस्था तक स्पष्ट कीजिए।

4. राष्ट्रीय हित के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए। थॉमस रॉबिन्सन द्वारा दिए गए वर्गीकरण को उदाहरणों सहित समझाइए।

इकाई 10- राष्ट्रीय हित के अभिवृद्धि के साधन-कूटनीति

इकाई का स्वरुप

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 परिचय
10.4 कूटनीति का अर्थ एवं स्वरुप
10.5 कूटनीति के लक्ष्य
10.6 कूटनीति के कार्य
10.7 कूटनीति के साधन
10.8 कूटनीति, विदेश नीति एवं राष्ट्रीय शक्ति
10.9 कूटनीति की सीमाएं
10.10 कूटनीति की अवनति
10.11 कूटनीति की नवीन प्रवृत्तियां
10.12 सारांश
10.13 तकनीकी शब्दावली
10.14 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर
10.15 संदर्भ ग्रंथ सूची
10.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.17 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

इकाई 9 में आपने राष्ट्रीय हित की अवधारणा, उसके अर्थ, प्रकार, विकास तथा विदेश नीति से उसके संबंध के बारे में अध्ययन किया। इस इकाई में आप अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हित के अभिवृद्धि के साधन, कूटनीति, का विस्तृत अध्ययन करेंगे। राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के अभिवृद्धि के लिए विभिन्न साधनों और उपायों का प्रयोग करते हैं। **पामर और पर्किन्स** सहित अनेक अन्य विद्वानों ने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति और संरक्षण के लिए प्रयुक्त प्रमुख उपकरणों की विस्तृत विवेचना की है।

कूटनीति राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने का एक प्रमुख साधन है और इसका उपयोग विदेश नीति के संचालन तथा राज्यों के बीच संबंधों के प्रबंधन के लिए किया जाता है। कूटनीति के माध्यम से कोई राष्ट्र अपनी विदेश नीति के समर्थन में अन्य देशों का सहयोग प्राप्त कर सकता है।

राजनयिक की भूमिका राष्ट्रीय हितों की रक्षा और संवर्द्धन में अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। उसके सभी कार्य अपने देश के हितों को सुरक्षित रखने पर केंद्रित रहते हैं। वह अपनी सरकार को आवश्यक और प्रासंगिक सूचनाएँ प्रदान करते हैं, अपने देश की नीतियों को लागू करते हैं तथा जिस देश में वह नियुक्त होते हैं वहाँ होने वाले प्रमुख राजनीतिक,

आर्थिक और सामाजिक घटनाक्रमों से अपनी सरकार को अवगत कराते हैं। इससे सरकार को परिस्थितियों के अनुरूप विदेश नीति तैयार करने में सहायता मिलती है।

इसलिए राजनयिक से अपेक्षा की जाती है कि वह अंतरराष्ट्रीय नियमों और मानकों के अनुरूप, अपने देश के नीति-निर्माताओं द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाए। कूटनीति के माध्यम से ही राष्ट्र आपसी मतभेदों और विवादों को काफी हद तक शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने में सफल होते हैं। इस इकाई में आप इस इकाई में आप कूटनीति के अर्थ एवं स्वरूप, उसके प्रमुख उद्देश्यों, कार्यों, सीमाओं तथा कूटनीति में उभरती नई प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

1- कूटनीति की अवधारणा के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे।

2- कूटनीति के प्रमुख उद्देश्यों और कार्यों का अध्ययन कर सकेंगे तथा राष्ट्रीय हितों की पूर्ति में उसकी उपयोगिता को स्पष्ट कर सकेंगे।

3- कूटनीति की सीमाओं का विश्लेषित कर सकेंगे।

4- कूटनीति में उभरती नई प्रवृत्तियों का आकलन कर सकेंगे।

10.3 परिचय

अन्तरष्ट्रिीय राजनीति में राज्यों के राष्ट्रीय हितों में विरोध और संघर्ष पाया जाता है। भारत और चीन, भारत और पाकिस्तान, भारत और अमेरीका के राष्ट्रीय हित कई बार एक दूसरे के प्रतिकूल देखे गए है। इन देशों की विदेश नीति का प्रमुख उद्देश्य अपने अंतरराष्ट्रीय संबंधों का ऐसा संचालन करना होता है, जिससे राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति और संरक्षण अधिकतम तथा अनुकूलतम रूप में सुनिश्चित हो सके।

राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए राज्य विभिन्न प्रकार के साधनों का सहारा लेते हैं। प्राचीन काल से ही विद्वानों और नीति-निर्माताओं ने इस विषय पर विचार किया है। इसी संदर्भ में कौटिल्य ने उल्लेख किया है कि दुर्बल राजाओं को समझा-बुझाकर अथवा आवश्यकता पड़ने पर कुछ लाभ देकर अपने पक्ष में किया जाना चाहिए, जबकि शक्तिशाली शासकों को भेद और दंड जैसे उपायों द्वारा नियंत्रित किया जाना चाहिए। आधुनिक काल में भी इस विचारधारा का विभिन्न रूपों में विकास हुआ है। पामर और पर्किन्स के अनुसार अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं:

(1) कूटनीति (Diplomacy)
(2) प्रचार और राजनीतिक युद्ध (Propaganda and Political Warfare)
(3) आर्थिक साधन (Economic Means)
(4) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद (Imperialism and Colonialism)
(5) युद्ध (War)

बीसवीं शताब्दी में प्रचार (Propaganda) राष्ट्रीय नीति का एक प्रमुख साधन बन गया है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति या समूह को किसी विशेष विचार को स्वीकार करने या किसी निश्चित कार्य को करने के लिए प्रेरित करने का प्रयास ही प्रचार कहलाता है। इसके माध्यम से राज्य अपने देश के भीतर जनमत को प्रभावित

करते हैं और एक समान या अनुकूल विचारधारा विकसित करने का प्रयास करते हैं। अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में विभिन्न राज्यों के परस्पर टकराते हितों को समन्वित करने के लिए भी राज्य प्रचार की अनेक तकनीकों का उपयोग करते हैं। राज्य प्रायः मित्र और शत्रु—दोनों प्रकार के देशों को प्रभावित करना चाहते हैं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रचार को एक प्रभावी उपकरण के रूप में अपनाते हैं।

दूसरी ओर, राज्य अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए युद्ध के बिना भी दबावपूर्ण उपायों का सहारा लेते हैं। ऐसे दबावपूर्ण साधनों में प्रतिबंध लगाना, बहिष्कार करना, प्रतिशोधात्मक कार्यवाही, संधियों को निलंबित करना, जवाबी कार्रवाई करना तथा राजनयिक संबंध तोड़ना आदि शामिल हैं। दबाव के इन साधनों का सबसे कठोर रूप युद्ध है, जिसमें कोई राज्य अपने वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सैन्य शक्ति का प्रयोग करता है।

अंतरराष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को सक्रिय और समन्वित करने का कार्य कूटनीति के माध्यम से ही संभव होता है। राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने के लिए शक्ति के विभिन्न साधनों को प्रभावी रूप में प्रयोग करना कूटनीति द्वारा ही किया जा सकता है। इसी कारण कूटनीति को स्वयं भी राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रमुख घटक माना जाता है। चाहे विदेश नीति कितनी ही सुविचारित क्यों न हो, उसकी सफलता अंततः कुशल कूटनीति पर ही निर्भर करती है।

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, शांति काल में किसी राष्ट्र के राजनयिकों द्वारा विदेश मामलों का संचालन राष्ट्रीय शक्ति के लिए उतना ही आवश्यक होता है, जितना युद्धकाल में सैन्य नेतृत्व द्वारा युद्धनीति का संचालन। कूटनीति वह कला है, जिसके माध्यम से राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों का अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों में अधिकतम और प्रभावी उपयोग किया जाता है, विशेषकर उन क्षेत्रों में जो राष्ट्रीय हितों से सीधे जुड़े होते हैं।

कूटनीति की उपयोगिता को जर्मनी और इटली के इतिहास से भली-भांति समझा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ये दोनों देश कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित थे। बिस्मार्क की कुशल कूटनीति ने न केवल जर्मनी का एकीकरण किया, बल्कि अपने विरोधियों के बीच मतभेद उत्पन्न कर और उनका ध्यान भटकाकर जर्मनी को यूरोप की एक प्रमुख शक्ति के रूप में स्थापित किया। इसी प्रकार, कैवूर की राजनयिक दक्षता से इटली का एकीकरण संभव हुआ और वह भी एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरा।

परंपरागत दृष्टिकोण के अनुसार, कूटनीति का मुख्य उद्देश्य अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित कर अपने राष्ट्र के हितों की रक्षा और वृद्धि करना है। इसी उद्देश्य से राज्य अपने राजनयिकों को विदेशों में नियुक्त करते हैं। ये राजनयिक अपने विवेकपूर्ण, कुशल और सद्भावनापूर्ण आचरण से संबंधित देश की सरकार और जनता का विश्वास जीतने का प्रयास करते हैं। कूटनीति अंतरराष्ट्रीय समाज के विभिन्न सदस्यों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कार्य करती है। इसके माध्यम से अनेक अवसरों पर युद्ध को टाला जाता है और राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों का समाधान बल प्रयोग के स्थान पर संवाद और समझौते द्वारा किया जाता है।

आधुनिक युग में कूटनीति केवल अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान का साधन ही नहीं है, बल्कि यह सैन्य शक्ति के समान ही राज्य की शक्ति को बढ़ाने का एक प्रभावी उपकरण भी बन चुकी है।

10.4 कूटनीति का अर्थ एवं स्वरुप

'कूटनीति' शब्द अंग्रेज़ी भाषा के Diplomacy का हिंदी रूप है। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले अठारहवीं शताब्दी के अंत में एडमंड बर्क द्वारा किया गया माना जाता है। Diplomacy शब्द की जड़ें ग्रीक भाषा के *Diploun* शब्द

में मिलती हैं, जिसका आशय किसी वस्तु को मोड़ने या दोहरा करने से है। प्राचीन रोमन साम्राज्य में यात्रियों को दिए जाने वाले अनुमति-पत्र और पहचान-पत्र प्रायः दोहरे मोड़े हुए होते थे। ये दस्तावेज़ धातु की पट्टिकाओं पर अंकित किए जाते थे और इन्हें *डिप्लोमा* कहा जाता था।

समय के साथ *डिप्लोमा* शब्द का प्रयोग केवल यात्रा-पत्रों तक सीमित न रहकर, सामान्यतः सरकारी अभिलेखों और आधिकारिक दस्तावेज़ों के लिए होने लगा। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में कुछ विद्वानों द्वारा संधियों और शासकीय अभिलेखों के संग्रह तैयार किए गए, जिनमें डिप्लोमेटिक्स और डिप्लोमेटिक जैसे शब्दों का उपयोग उन दस्तावेज़ों के लिए किया गया जो अंतरराष्ट्रीय विषयों से संबंधित थे। आगे चलकर 'कूटनीतिक निकाय' शब्द उन सभी राजनयिक प्रतिनिधियों और कर्मचारियों के लिए प्रयुक्त होने लगा जो किसी विदेशी राजधानी में स्थित स्थायी दूतावास में कार्यरत होते थे। इसी प्रकार 'कूटनीतिक सेवाएँ' शब्द उस विशेष सार्वजनिक सेवा के लिए प्रचलित हुआ, जिसका उद्देश्य विदेशों में नियुक्त होने वाले राजनयिक कर्मियों को प्रशिक्षण प्रदान करना था।

हेरल्ड निकल्सन के अनुसार 'कूटनीति' शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कई बार इसे विदेश नीति के पर्याय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, जैसे किसी क्षेत्र में किसी देश की विदेश नीति को कमजोर या प्रभावहीन बताने के लिए। कुछ संदर्भों में यह शब्द सन्धियों पर बातचीत और समझौता प्रक्रिया को दर्शाता है, अर्थात जब कहा जाता है कि किसी समस्या का समाधान कूटनीति के माध्यम से किया जा सकता है। इस प्रकार कूटनीति न केवल सन्धि वार्ता की प्रक्रिया को बल्कि उससे जुड़े साधनों और व्यवस्थाओं को भी व्यक्त करती है। कभी-कभी विदेश सेवा की एक विशिष्ट शाखा को भी कूटनीति कहा जाता है। इसके अतिरिक्त, कूटनीति उस विशेष गुण या क्षमता को भी इंगित करती है, जो अंतरराष्ट्रीय वार्ताओं को कुशलता से संचालित करने में सहायक होती है।

निकल्सन के अनुसार, अपने सकारात्मक और आदर्श रूप में कूटनीति का अर्थ अंतरराष्ट्रीय समझौता वार्ताओं में बुद्धिमत्ता और कौशल का प्रयोग है, जबकि इसके नकारात्मक रूप में इसे छल, कपट या चतुर चालों से जोड़कर देखा जाता है। इसी संदर्भ में सर अर्नेस्ट सैटो ने कूटनीति को इस प्रकार परिभाषित किया है कि यह स्वतंत्र राज्यों की सरकारों के बीच औपचारिक संबंधों के संचालन में विवेक और कुशलता का प्रयोग है।

आर्गेन्सकी के अनुसार, 'कूटनीति दो या दो से अधिक राष्ट्रों के सरकारी प्रतिनिधियों के बीच होने वाली सन्धि वार्ता की प्रक्रिया को इंगित करती है।

क्विन्सी राइट ने कूटनीति को दो रूपों में परिभाषित किया है-लोकप्रिय अर्थ में तथा विशेष अर्थ में। लोकप्रिय अर्थ में कूटनीति का अर्थ है 'किसी सन्धिवार्ता या आदान-प्रदान में चातुरी, धोखेबाजी एवं कौशल का प्रयोग। अपने विशेष अर्थ में यह सन्धिवार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में न्यूनतम लागत से अधिकतम सामूहिक लक्ष्यों की उपलब्धि कर सके।"

के. एम. पणिक्कर के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त कूटनीति अपने हितों को दूसरे देशों से आगे रखने की एक कला है।"

पेडिलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में, "कूटनीति को प्रतिनिधित्व एवं सन्धिवार्ता की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य शान्तिकाल में परस्पर सम्पर्क में रहते हैं।"

मॉवट के अनुसार, "कूटनीति राज्यों का प्रतिनिधित्व तथा समझौते करने की कला है।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में कूटनीति न तो बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग है, न समझौता वार्ता करने की व्यवस्था का नाम है और न यह किसी देश का विदेश विभाग है। कूटनीति का काम है सहमति पर पहुंचना। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कूटनीति का प्रसंग वहीं आ सकता है जहां मतभेद मौजूद हों। - यदि पूर्ण सहमति हो तो वहां इसका कोई प्रसंग नहीं होगा। कूटनीति का प्रयोग वहां होता है जहां असहमति या गलतफहमी के वास्तविक या सम्भावित क्षेत्र मौजूद हों। कूटनीति ऐसे क्षेत्र में कार्य करती है जहां बल प्रयोग की सम्भावनाएं मौजूद हों और कूटनीति का काम उन सम्भावनाओं को टालना है। कूटनीति में सफलता का अर्थ है अन्य राष्ट्रों को अपने दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने में सफलता प्राप्त करना। कूटनीति ऐसे विरोधी हितों में - सामंजस्य लाने की तकनीक है जो पहले तो मतभेद के प्रासंगिक तथ्यों का ठीक-ठीक पता लगाती है और फिर उनके समाधान की शर्तें निर्धारित करती है।

कूटनीति की उपर्युक्त परिभाषाओं के संदर्भ में यह स्पष्ट होता है कि कूटनीति अंतरराष्ट्रीय संबंधों को सुव्यवस्थित करने की एक प्रक्रिया है। इसके साथ ही यह राज्यों के बीच बातचीत और समझौते को कुशलतापूर्वक संचालित करने की एक कला भी है। इसके अतिरिक्त, कूटनीति को राष्ट्रीय हितों की रक्षा और उनकी अभिवृद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

10.5 कूटनीति के लक्ष्य

युद्ध एवं शान्तिकाल में कूटनीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का प्रमुख साधन है। राष्ट्रीय हित के अन्तर्गत देश की सुरक्षा, जन-कल्याण तथा अन्य लाभ सम्मिलित हैं। के. एम. पणिक्कर ने लिखा है कि "समस्त कूटनीतिक सम्बन्धों का मूलभूत उद्देश्य अपने देश के हितों की रक्षा करना होता है और हर राज्य का मूलभूत हित स्वयं अपनी सुरक्षा करना होता है, परन्तु इस सर्वोपरि लक्ष्य के अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार और अपने देशवासियों की रक्षा भी ऐसे महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका ध्यान रखना कूटनीति का उद्देश्य है।"

के. एम. पणिक्कर ने कूटनीति के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार बताए हैं :

(i) मित्र राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को मजबूत बनाना और जिन देशों के साथ मतभेद हों उनसे यथासम्भव तटस्थ रहना।

(ii)अपने राष्ट्रीय हित की विरोधी शक्तियों को तटस्थ बनाए रखना।

(iii)अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों का एक गुट बनने से रोकना।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में कूटनीति के प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित हैं:

(1) राष्ट्रीय हित की रक्षा- कूटनीति का मुख्य लक्ष्य अपने राज्य के हितों की रक्षा करना है। प्रत्येक राज्य का बुनियादी हित अपनी सीमाओं की रक्षा होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक हित, व्यापार, राष्ट्रिकों की रक्षा, आदि भी महत्वपूर्ण विषय हैं तथा कूटनीति इनकी सुरक्षा का प्रयास करती है।

(2) राज्य की अखण्डता की रक्षा- कूटनीति का यह महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि वह अपने देश की प्रादेशिक अखण्डता के साथ राजनीतिक एवं आर्थिक अखण्डता की भी रक्षा करे। आजकल केवल सैनिक आक्रमण से ही राज्य की सुरक्षा खतरे में नहीं पड़ती वरन् सामाजिक महत्व के क्षेत्रों पर नियन्त्रण करके आर्थिक दबाव एवं देश में राजनीतिक प्रभाव बढ़ाकर भी उसकी सुरक्षा को खतरे में डाला जा सकता है।

(3) मित्रों से सम्बन्ध बढ़ाना तथा शत्रुओं को तटस्थ करना- कूटनीति अपने राष्ट्रीय हितों की उपलब्धि के लिए मित्र देशों के साथ अपने मैत्री सम्बन्धों को दृढ़ बनाती है तथा ऐसी शक्तियों को तटस्थ बनाती है जिनसे राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचने की सम्भावना हो।

(4) विरोधी शक्तियों के गठबन्धन को रोकना कूटनीति का एक लक्ष्य यह है कि अन्य राज्यों को अपने राज्य के विरुद्ध संगठित होने से रोके। इसके लिए उसे कुछ राज्यों के साथ समझौता करना होगा, कुछ को समर्थन देना होगा तथा कुछ को तटस्थ रखना होगा।

(5) युद्ध का संचालन - युद्ध आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक तथ्य है। यदि युद्ध छेड़ना आवश्यक बन जाए तथा सन्धि वार्ता के सभी साधन असफल हो जाएं तो कूटनीति के दायित्व का रूप बदल जाता है। के. एम. पणिक्कर के अनुसार, "प्रभावशाली कूटनीति के बिना न तो युद्ध लड़े जा सकते हैं और न जीते जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत कूटनीतिक तैयारियां एवं युद्धकाल में प्रभावहीन कूटनीति एक शक्तिसम्पन्न राष्ट्र की हार एवं उसके विनाश का कारण बन जाता है।"

(6) आर्थिक एवं व्यावसायिक लक्ष्य-पणिक्कर के शब्दों में, 'पिछले तीस वर्षों में व्यावसायिक कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक सर्वाधिक सक्रिय पहलू बन गया है।' अब प्रत्येक राज्य यह जान गया है कि व्यापार को राजनीतिक कार्यों में प्रमुख साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाए। प्रत्येक राज्य दूसरे देशों में अपने उत्पादनों के लिए बाजार तलाश करता है, स्पर्द्धा को घटाता है, आर्थिक सतर्कता रखता है तथा अपने हितों की रक्षा के लिए अन्य उचित कदम उठाता है।

(7) सद्भावना की स्थापना - राष्ट्रीय हित की उपलब्धि के लिए कूटनीति को अपने सभी उपलब्ध साधनों द्वारा दूसरे देशों के साथ सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए।

पामर एवं पर्किन्स ने लिखा है-"विदेश नीति की भांति कूटनीति का उद्देश्य, सम्भवतः शक्ति साधनों द्वारा, लेकिन यदि युद्ध को नहीं रोका जा सका तो सैनिक गतिविधियों की सहायता प्रदान कर, राष्ट्रीय सुरक्षा प्रदान करना है। कूटनीति, जैसा कि निकल्सन ने कहा है, युद्ध काल ने समाप्त नहीं हो जाती हालांकि युद्ध काल में उसे अलग भूमिका निभानी पड़ती है तथा विदेश मन्त्रियों की तरह कूटनीतिज्ञों का कार्यक्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। इस शताब्दी के दो विश्वयुद्ध इस धारणा की पुष्टि करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब दो या दो से अधिक राज्यों की सरकारों के बीच कूटनीतिक वार्ता आरम्भ होती है तो मोटे तौर से तीन उद्देश्य हो सकते हैं : (i) एक-दूसरे के उद्देश्यों तथा नीतियों को बदलना, (ii) यदि उनके उद्देश्य तथा नीतियां पहले से ही अनुकूल हैं तो उनमें यथा-स्थिति कायम रखना, (iii) किसी विवादास्पद प्रश्न का समाधान करने के लिए समझौता करना।

कभी-कभी कूटनीतिक वार्ता का उद्देश्य केवल विचारों का आदान-प्रदान होता है। इस प्रकार की बातचीत में कोई सौदेबाजी नहीं होती। कभी-कभी कूटनीतिक वार्ताओं का उद्देश्य जनसाधारण में भ्रम पैदा करना भी हो सकता है, यथार्थ में उनकी आकांक्षा कोई समझौता करने की नहीं होती। कभी वार्ता का उद्देश्य केवल प्रचार करना होता है। राजनयिक सम्मेलनों का प्रयोग लोकमत को अपने अनुकूल बनाने के लिए तथा प्रतिपक्षी की मोल-तोल करने की सामर्थ्य को कम करने के लिए किया जाता है।

10.6 कूटनीति के कार्य

कौटिल्य के अनुसर कूटनीति के कार्य हैं-अपने राज्य का सन्देश अन्य राज्य को तथा अन्य राज्य का सन्देश अपने राज्य को देना, सन्धियों का पालन कराना, अपने राज्य की शक्ति का प्रदर्शन करना, मित्र बढ़ाना तथा शत्रुओं में फूट पैदा करना, आदि-आदि। के. एम. पणिक्कर के अनुसार कूटनीति का एक लक्ष्य अपने देश के प्रति दूसरे देशों की सद्भावना अर्जित करना है, जिसके लिए चार बातें आवश्यक हैं (i) दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार समझें, (ii) ये उनके प्रति सम्मान के भाव रखें, (iii) वह देश दूसरे देशों के न्यायोचित हितों को जानें, तथा (iv) वह देश ईमानदारी का व्यवहार करें। मॉरगेन्थाऊ ने कूटनीति के चार कार्य बताए हैं- (i) कूटनीति का सबसे पहला काम राज्य की शक्ति को ध्यान में रखकर अपने लक्ष्यों को निर्धारित करना है, (ii) उसका काम दूसरे राज्य की शक्ति का भी वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करना है, (ii) वह इस बात का भी पता लगाए कि विभिन्न राज्यों के लक्ष्य और उसके अपने राज्य के लक्ष्य एक-दूसरे के साथ किस सीमा तक मेल खाते हैं, (iv) अन्त में कूटनीति को अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समुचित उपाय- समझौता, समझाना-बुझाना, बल प्रयोग की धमकी, आदि काम में लानी चाहिए।

शस्त्र एवं मित्र युद्ध के औजार हैं। कूटनीति का कार्य बारूद को सूखी रखना तथा मित्रों को प्राप्त करना एवं लोगों को प्रभावित करना है।

संक्षेप में, कूटनीति के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं:

(1) सन्धि वार्ता - कूटनीति अपने तथा दूसरे राज्य के बीच विभिन्न विषयों पर समझौता वार्ता करने का महत्वपूर्ण माध्यम है। कूटनीतिज्ञ न केवल अपने उस राज्य से सम्बन्ध रखता है जिसके लिए वह भेजा गया है वरन् अन्य राज्यों के साथ भी सन्धि वार्ता कर सकता है। कूटनीतिज्ञ अपने राष्ट्रीय हित में तर्क प्रस्तुत करता है। वह समझौता वार्ताओं में अपने देश के पक्ष में सौदेबाजी करता है तथा अपने देश के पक्ष में अधिक लाभअर्जित करने का प्रयत्न करता है।

(2) निरीक्षण- कूटनीति का अन्य महत्वपूर्ण कार्य दूसरे राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण करते रहना और उसका पूरा प्रतिवेदन अपनी सरकार को भेजना है। दूसरे देश के गुप्त भेदों को जानने के लिए तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए कभी-कभी कूटनीतिज्ञ जासूसी कार्यवाही भी करते हैं।

(3) संरक्षण- कूटनीति का अन्य कार्य विदेश में स्थित अपने देश के नागरिकों की सम्पत्ति, जीवन एवं अन्य हितों की रक्षा करना है। यदि विदेशों में अपने देशवासियों के सम्मान एवं हितों को चोट पहुंचती है तो राजनयज्ञ यहां के विदेशमन्त्री से सम्पर्क करते हैं।

(4) प्रतिनिधित्व- कूटनीतिज्ञ दूसरे देशों में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अपने राज्य की सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक प्रतिनिधि के रूप में कूटनीतिज्ञ अपने राज्य तथा सरकार का प्रतीक होता है तथा उनके विचारों की अभिव्यक्ति करता है। वह अपने देश के दृष्टिकोण को बड़ी चतुरता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करता है।

(5) जनसम्पर्क- राजनयज्ञ निरन्तर अपने राज्य और उसकी नीतियों के प्रति सद्भावना बनाने के कार्य में संलग्न रहता है। इसके लिए वह प्रचार तथा जनसम्पर्क के दूसरे कार्य सम्पन्न करता है। पार्टियों एवं भोजों में सम्मिलित होता है, सार्वजनिक एवं अन्य अवसरगत भाषण देता है।

वियना अभिसमय (1961) में कूटनीतिज्ञ के पांच कार्यों का उल्लेख किया गया है- (i) विदेशों में अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करना, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अपने राज्य के नागरिकों के हितों की रक्षा करना, (iii) अन्य

राज्यों से विविध विषयों पर वार्ता करना, (iv) अन्य राज्यों की परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करके अपने देश को सूचना एवं प्रतिवेदन भेजना, और (v) स्वदेश तथा ग्रहणकर्ता राज्यों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करना।

10.7 कूटनीति के साधन

मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "एक कुशल राजनय का, जो शान्ति संरक्षण के लिए तत्पर है, अन्तिम कार्य है कि वह अपने ध्येयों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त साधनों को चुने। राजनय को तीन प्रकार के साधन प्राप्त होते हैं- अनुनय, समझौता तथा शक्ति की धमकी।"

अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में प्रयोग में आने वाला मुख्य तरीका अनुनय का है और सफल राजनयज्ञ में अनुनय की कला होने की आशा की जाती है। वार्ता करने वाले पक्ष राष्ट्र होते हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनुनय का क्षेत्र बहुत बड़ा नहीं होता। कूटनीति सहमति पर पहुंचने की एक प्रक्रिया है। यदि सहमति होना असम्भव सिद्ध हो तो कूटनीति का क्षेत्र समाप्त हो जाता है क्योंकि उस स्थिति में बल प्रयोग का सहारा लिया जाता है और बल प्रयोग सहमति के बिना दूसरों को प्रभावित करने का एक तरीका है। कूटनीतिज्ञ पुरस्कार का वचन या दण्ड की धमकी दे सकते हैं जो दोनों शक्ति के प्रयोग की विधियों में आते हैं। कूटनीतिज्ञ की पुरस्कार का वचन देने और दण्ड की धमकी देने की सामर्थ्य भी सीमित होती है। उदाहरण के लिए, वह वे पुरस्कार नहीं पेश कर सकता जो उसके राष्ट्र के पास नहीं हैं।

केवल समझाने-बुझाने और समझौतों पर आधारित कूटनीति को प्रभावी या दक्ष नहीं माना जा सकता। सामान्यतः किसी बड़े राष्ट्र के राजनयिक प्रतिनिधि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने देश के हितों और अंतरराष्ट्रीय शांति दोनों की रक्षा के लिए एक साथ कई उपाय अपनाए। उसे जहाँ एक ओर अनुनय और बातचीत का सहारा लेना होता है, वहीं दूसरी ओर समझौतों से लाभ उठाने की क्षमता भी दिखानी होती है। साथ ही, उसे यह भी स्पष्ट करना पड़ता है कि उसके देश के पास आवश्यक सैन्य शक्ति उपलब्ध है।

इस संदर्भ में फ्रेडरिक एल. शूमैन का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार राजनयिकों का सबसे प्रमुख दायित्व राष्ट्रीय सुरक्षा सुनिश्चित करना होता है। सुरक्षा का आधार अंततः शक्ति ही होती है, किंतु शक्ति तभी सार्थक बनती है जब आवश्यकता पड़ने पर उसे सशस्त्र शक्ति के रूप में प्रयोग किया जा सके।

10.8 कूटनीति, वदेश नीति एवं राष्ट्रीय शक्ति

कूटनीति तथा विदेश नीति साधारणतया पर्यायवाची माने जाते हैं। विदेश नीति और कूटनीति दो पहिए हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गाड़ी को आगे बढ़ाते हैं। आज भी राज्यों की कोई न कोई विदेश नीति होती है तथा उसे कार्यान्वित करने के लिए तदनुसार कूटनीति का संहारा लिया जाता है।

जे. आर. चाइल्ड्स ने कूटनीति और विदेश नीति में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि विदेश नीति एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सार है, तो कूटनीति वह प्रक्रिया है जिससे विदेश नीति कार्यान्वित की जाती हैं। एक नीति है तो दूसरा वार्ताक्रम। विदेश नीति एक विधायी प्रक्रिया है, जबकि कूटनीति कार्यकारी प्रक्रिया है। विदेश नीति के निर्माण में मन्त्रिमण्डल, संसद, लोकमत एवं शासनमर्मज्ञों का विशेष भाग होता है, जबकि कूटनीति का संचालन

सन्धिवार्ता की कला में प्रवीण और अनुभवी व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। कूटनीति द्वारा विदेश नीति को क्रियात्मक स्वरूप प्राप्त होता है।

हेरल्ड निकल्सन ने विदेश नीति और कूटनीति में अन्तर करते हुए लिखा है-"जहां कूटनीति समाप्त होती है वहीं विदेश नीति आरम्भ होती है। दोनों का लक्ष्य राष्ट्रीय हितों का अन्तर्राष्ट्रीय हितों से समायोजन है। विदेश नीति का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है, जबकि कूटनीति साध्य न होकर साधन है, उद्देश्य न होकर एक माध्यम है। कूटनीति वह अभिकरण है जिसके माध्यम से विदेश नीति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति, युद्ध की अपेक्षा, सहमति से प्राप्त करती है।"

आधुनिक संचार साधनों के विकास के बाद विदेश नीति और कूटनीति का वह अन्तर कम होता जा रहा है। संचार साधनों के आविष्कार के बाद कूटनीतिज्ञों की घटनाओं तथा निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता कम होती जा रही है। आज के कूटनीतिज्ञ निरंतर अपनी सरकार के संपर्क में रहते हैं और किसी विशेष समस्या के उत्पन्न होने पर तुरंत परामर्श प्राप्त करते हैं। लेस्टर पीयर्सन के अनुसार आधुनिक काल में कूटनीति इस अर्थ में विदेश नीति का ही एक रूप बन गई है कि नीति-निर्माता स्वयं कूटनीतिक भूमिका निभाने लगते हैं और अपनी नीतियों को प्रत्यक्ष रूप से क्रियान्वित करते हैं। प्रतिदिन होने वाले शिखर सम्मेलनों और विदेश मंत्रियों की बैठकों से यह स्पष्ट होता है कि नीति-निर्माता स्वयं कूटनीतिज्ञ के रूप में कार्य करने लगते हैं। इस परिवर्तन ने कूटनीति के स्वरूप को और अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली बना दिया है, क्योंकि अब कूटनीति केवल प्रतिनिधियों तक सीमित न रहकर राज्य की समग्र शक्ति के संचालन से जुड़ गई है।

इसी कारण कूटनीति को राष्ट्रीय शक्ति से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार राज्य के अन्य सभी शक्ति तत्व कच्चे माल के समान होते हैं, जिन्हें कूटनीति की कला सुव्यवस्थित कर एक संगठित और प्रभावी शक्ति में रूपांतरित करती है। कूटनीति ही राज्य की बिखरी हुई शक्ति को एक निश्चित दिशा प्रदान करती है और उसकी अंतर्निहित संभावनाओं को वास्तविक शक्ति में बदलती है। जिस प्रकार राष्ट्रीय मनोबल को शक्ति की आत्मा कहा जाता है, उसी प्रकार कूटनीति को राष्ट्रीय शक्ति का मस्तिष्क माना जाता है। कूटनीति वह कला है जिसके माध्यम से राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों का समन्वित उपयोग इस प्रकार किया जाता है कि वर्तमान अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों में राष्ट्रीय हितों को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

10.9 कूटनीति की सीमाएं

आधुनिक युग में संचार साधनों के विस्तार एवं जन-सामान्य की जागरूकता ने कूटनीति की 11वीं शताब्दी की भूमिका को अत्यधिक कम कर दिया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद तो कूटनीति की सफलता में इतनी अधिक कमी आ गयी है जितनी इतिहास में कभी न थी। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार, "द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राजनय अपना महत्व खो चुकी है। इसके कार्य अब इतने कम रह गए हैं जितने राज्य व्यवस्था के इतिहास में कभी नहीं रहे थे।"

कूटनीति की सीमाओं का अभिप्राय प्रभावहीन होना नहीं है बल्कि इच्छित लाभ प्राप्त करने में असफल होना है। आधुनिक युग में विभिन्न राज्यों के मध्य कुछ ऐसी समस्याएं पैदा हो गयी हैं जिनका समाधान करने में कूटनीति असफल रही है। उदाहरणार्थ, 1947 में भारत-पाक संघर्ष, 1962 में भारत-चीन संघर्ष, पश्चिमी एशिया में अरब-इजराइल संघर्ष, आदि राजनय की असफलताएं हैं। इस सन्दर्भ में आधुनिक राजनय की निम्नलिखित सीमाएं स्पष्ट होती हैं :

(1) राष्ट्रों द्वारा अपने हितों व मान्यताओं के सम्बन्ध में कठोर रुख अपनाना।

(2) राष्ट्रों के मध्य शक्ति सम्बन्ध।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय कानून ।

(4) हीन राजनयिक क्षमता।

(5) सौदेबाजी करने वाले राज्य की साख ।

(6) विश्व जनमत का भय या दबाव।

(1) राष्ट्रों द्वारा अपने हितों व मान्यताओं के सम्बन्ध में कठोर रुख अपनाना आधुनिक युग में विश्व के विभिन्न राज्य कुछ मान्यताओं व हितों को लेकर चलते हैं जिनके सम्बन्ध में अगर ये समझौते के लिए तैयार हो जाएं तो यह इनकी हार होती है जिससे राजनीतिकं प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसलिए समझौते की इच्छा होते हुए भी ये हठधर्मी एवं दृढ़ता अपनाते हैं। राज्यों के मध्य इस प्रकार का राजनीतिक वातावरण राजनय की भूमिका को समाप्त कर देता है। उदाहरणार्थ, जर्मनी के एकीकरण में पश्चिमी और साम्यवादी गुट द्वारा यही रुख अपनाया गया था।

(2) राज्यों के मध्य शक्ति सम्बन्ध-कूटनीति की सफलता की सम्भावना दुर्बल या कम शक्तिशाली राज्यों के मध्य अधिक होती है लेकिन जहां वार्ता में दो बराबर शक्ति के राज्य हों वहां सफलता की आशा कम हो जाती है क्योंकि न तो धमकी और न ही दृढ़ रुख असर डालते हैं। आधुनिक युग दो महाशक्तियों के मध्य बंटा हुआ है। जब कभी ये महाशक्तियां विश्व समस्याओं में उलझी हैं उनका समाधान करने में राजनय असफल रहा। उदाहरणार्थ, अमरीका और रूस के मध्य शक्ति सम्बन्धों के कारण कोरिया का एकीकरण तथा अरब-इजरायल समस्याएं अनसुलझी रह गयीं।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्राचीन समय में अनैतिक तरीके भी राजनय की सफलता के लिए अपनाए गए थे। लेकिन आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य और नियमित हो जाने के कारण राजनय के अन्तर्गत बहुत-से कार्य नहीं किए जा सकते। यह भी एक सीमा बन जाता है।

(4) हीन राजनयिक क्षमता - आजकल विश्व में ऐसे राज्यों की संख्या बहुत ज्यादा है जिनकी शक्ति की दृष्टि से स्थिति दुर्बल है। एक ओर मारीशस जैसा दुर्बल राज्य है तो दूसरी ओर अमरीका जैसा अत्यधिक शक्तिशाली राज्य। इसलिए जब एक निर्बल राजनय क्षमता वाला राज्य शक्तिशाली राज्य से विचार-विमर्श करता है तो सौदेबाजी की कम शक्ति होने के कारण राजनय असफल हो जाता है।

(5) सौदेबाजी करने वाले राज्य की साख - राजनय उस दशा में भी असफल हो जाता है जब वार्तालाप में सम्मिलित राज्यों के मध्य विश्वास न हो। विश्व में आज ऐसी ही स्थिति है। अमरीका और चीन वार्तालाप से पूर्व ही यह मानकर चलते हैं कि उन्हें धोखा देने के लिए दूसरा राज्य तत्पर है।

(6) विश्व जनमत का भय व दबाव-संचार के विकास के परिणामस्वरूप विश्व में घटित होने वाली कोई घटना क्षेत्रीय न होकर विश्वव्यापी हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप साधारण से साधारण व्यक्ति भी उन शर्तों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी रखता है जो विभिन्न राजनयज्ञों ने एक-दूसरे के समक्ष रखी हैं। साधारण व्यक्ति इन शर्तों को राष्ट्रीय मान-अपमान का प्रश्न बना लेता है तथा उस राजनयिक को कमजोर समझता है जो रियायतें दे दे। राजनयज्ञ जनता की इस प्रतिक्रिया से सचेष्ट रहते हैं तथा रियायत न देना ही हितकर समझते हैं। चैम्बरलेन को म्यूनिख पैक्ट (1936) में

हिटलर को रियायतें देने के कारण प्रधानमन्त्री पद त्यागना पड़ा। इसी प्रकार ताशकन्द समझौते में पाकिस्तान को दी गयी रियायतों व जनता की प्रतिक्रिया की सम्भावना लाल बहादुर शास्त्री मानसिक रूप से न सह सके।

10.10 कूटनीति की अवनति

आज कूटनीति के परम्परावादी स्वरूप की अवनति हो रही है। परम्परावादी कूटनीति की विशेषता थी गुप्तता, छद्म, व्यक्ति विशेष का महत्व, रोमांचित कपट, आदि। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त के साथ कूटनीति की अवनति आरम्भ हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व की शताब्दी में विदेश नीति के निर्माण में कूटनीतिज्ञों द्वारा लिया गया भाग और भी कम हो गया तथा एक तकनीक के रूप में विदेशी सम्बन्धों के परिचालन में कूटनीति की अवनति और प्रत्यक्ष हो गयी। मॉरगेन्थाऊ ने कूटनीति की अवनति के पांच कारण बताए हैं :

(1) संचार व्यवस्था का विकास,

(2) कूटनीति का अवमूल्यन,

(3) संसदीय प्रक्रिया द्वारा कूटनीति,

(4) महाशक्तियां कूटनीति में नवागन्तुक,

(5) वर्तमान विश्व राजनीति का स्वरूप।

(1) संचार व्यवस्था का विकास कूटनीति का महत्व उस समय अधिक था जब आवागमन एवं संचार के द्रुतगामी साधनों का विकास नहीं हो पाया था। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व स्थायी कूटनीतिक प्रतिनिधियों के आवश्यक होने का कारण यह था कि सविस्तार सन्देशों को शीघ्रतापूर्वक एवं अविच्छिन्न रूप से भेजने की सुविधाएं कष्टदायक थीं। लेकिन अब संचार-साधनों का इतना तीव्र विकास हुआ है कि कूटनीतिज्ञों को कहीं भी कुछ ही मिनटों में बेतार-व्यवस्था द्वारा निर्देश दिया जा सकता है। कुछ ही घण्टों में कूटनीतिज्ञ परामर्श करने के लिए विभिन्न देशों में आ-जा सकता है। इससे विदेश मन्त्रालय के प्रभाव में वृद्धि हुई है। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, कूटनीति की अवनति का आंशिक कारण हवाई जहाज, रेडियो, तार, टेलीटाइप, दूरस्थ टेलीफोन के रूप में शीघ्र एवं नियमित संचार-व्यवस्था का विकास था।"

(2) कूटनीति का अवमूल्यन कूटनीति एवं कूटनीतिज्ञ शब्दों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। कूटनीति का सामान्य अर्थ चालाकी. धूर्तता, छल-कपट, झूठ, आदि से लिया जाता है। लोगों में ऐसा विश्वास पनपता जा रहा है कि कूटनीतिक सेवाओं का परित्याग करना ही चाहिए क्योंकि ये शान्ति के मूल में केवल कोई योगदान ही नहीं देतीं, वरन् वास्तव में शान्ति को संकट में डालती हैं। कूटनीतिज्ञों के व्यक्तित्व पर अविश्वास किया जाता है तथा यह माना जाता है कि वह कोई भी अनैतिक कार्य को करने को तैयार हो सकता है। धूर्तता एवं कपट के लिए कूटनीतिज्ञ की प्रसिद्धि उतनी ही प्राचीन है जितनी कि स्वयं कूटनीति प्राचीन है। 17वीं शताब्दी के आरम्भ में एक अंग्रेज राजदूत, सर हेनरी वोटन द्वारा दी गयी एक कूटनीतिज्ञ की परिभाषा प्रख्यात है, कि "वह एक ईमानदार व्यक्ति होता है, जिसे अपने देश के लिए झूठ बोलने के लिए विदेश भेजा जाता है।" जब वियेना के सम्मेलन में मेटरनिख को रूसी राजदूत की मृत्यु की सूचना दी गयी, तो कहा जाता है कि उन्होंने विस्मयपूर्वक कहा, 'क्या यह सत्य है?' उसका अभिप्राय क्या हो सकता है? इन धारणाओं से कूटनीति की प्रतिष्ठा कम होती गयी है।

(3) संसदीय प्रक्रिया द्वारा कूटनीति- राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ, आदि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने कूटनीति को नया मोड़ दिया है। इन संगठनों के मंचों पर राष्ट्रीय उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए राजनयज्ञ अपने विचार प्रकट करते हैं तथा अन्त में मतदान द्वारा निर्णय लिया जाता है। अब राजनयज्ञों की बुद्धि, चातुर्य और व्यक्तित्व का उतना महत्व नहीं है जितना इन सम्मेलनों में अपने समर्थन में अधिक-से-अधिक मत जुटाने का महत्व है।

(4) महाशक्तियां कूटनीति में नवागन्तुक - द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ को विश्व की महान् शक्तियों का स्तर प्राप्त हुआ। अमरीका को कूटनीति में कम अनुभव था और 1917 की क्रान्ति के बाद रूस में भी प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञों का सफाया कर दिया गया। रूस में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना से कूटनीति को और भी ठेस लगी। साम्यवाद और पूंजीवाद एक-दूसरे को समाप्त करना चाहते थे, दोनों में इतने अधिक मतभेद थे कि सहमति और समझौते की बहुत कम गुंजाइश थी। कूटनीति का महत्व वहीं अधिक होता है जहां समझौते और आदान-प्रदान की गुंजाइश रहती है।

(5) वर्तमान विश्व राजनीति का स्वरूप- द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व दो गुटों-अमरीका और सोवियत संघ के प्रभाव क्षेत्र में बंटा गया। इन दोनों के हित परस्पर विरोधी थे, दोनों एक-दूसरे का प्रत्येक स्तर पर विरोध करते थे। कोई भी पीछे हटकर समझौता नहीं करना चाहता था। पीछे हटने का तात्पर्य मूल हितों को त्यागना तथा आगे का अर्थ जोखिम उठाना था। ऐसी स्थिति में कूटनीतिज्ञों की योग्यता प्रदर्शन का क्षेत्र समाप्त हो गया। मॉरगेन्थाऊ के शब्दों में, "संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ के बीच शक्ति सम्बन्धों की प्रकृति के कारण तथा इन दोअति शक्तिशाली राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में वर्तमान मानसिक स्थिति के कारण कूटनीति के परिचालन के लिए बहुत कम अवसर थे तथा इसके अप्रचलित हो जाने की सम्भावना थी।"

10.11 कूटनीति की नवीन प्रवृतियाँ

मॉरगेन्थाऊ ने जिस कूटनीति के पतन की चर्चा की है वह परम्परागत कूटनीति है। आधुनिक विश्व राजनीति में परम्परागत कूटनीति मुश्किल से ही राष्ट्रीय हितों की वृद्धि कर सकती है। वर्तमान में कूटनीति में नूतन प्रवृत्तियों का उदय हो रहा है। नए तरीकों, प्रक्रियाओं और साधनों को अपनाया जा रहा है। यहां हम कूटनीति के नए आयामों की चर्चा करेंगे:

(1) प्रजातान्त्रिक कूटनीति (Democratic Diplomacy)-20वीं शताब्दी तक इस नवीन कूटनीति के लिए प्रजातान्त्रिक कूटनीति शब्द प्रयोग होने लगा था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इसका अर्थ ऐसी व्यवस्था से था, जिसमें सरकारें अपनी राजतन्त्रीय और कुलीन प्रवृत्तियां छोड़ रही थीं तथा राष्ट्रों की जनता, अपने प्रजातान्त्रिक प्रतिनिधियों तथा अनौपचारिक माध्यमों से एक-दूसरे से सम्बन्धित हो रही थीं।

प्रजातान्त्रिक कूटनीति की विशेषताएं इस प्रकार हैं (i) राजदूत मूलतः जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। आज का राजनयिक एक सार्वजनिक कर्मचारी है जो विदेशमन्त्री के अधीन है। विदेशमन्त्री मन्त्रिमण्डल का सदस्य है, मन्त्रिमण्डल संसद के बहुमत के प्रति उत्तरदायी है तथा संसद का बहुमत निर्वाचकमण्डल का प्रतिनिधि है। (ii) प्रजातान्त्रिक कूटनीति की दूसरी विशेषता यह है कि यह पद्धति गुप्त सन्धियों, रहस्यमय कूटनीति के स्थान पर खुले सार्वजनिक समझौतों और स्पष्ट कूटनीतिक सम्बन्धों में विश्वास करती है। (iii) प्रजातान्त्रिक कूटनीति की तीसरी विशेषता सन्धियों के अनुसमर्थन करने की विधि में है। आज सभी प्रजातान्त्रिक देशों में सन्धियों को मान्यता संसद के बहुमत से प्राप्त होती है।

नवीन राजनय प्रजातान्त्रिक उद्देश्यों की पूर्ति का एक साधन है। सन्धियों के अनुसमर्थन में संसद का प्रत्यक्ष भाग होने से जनता कूटनीतिक गतिविधियों से परिचित रहती है, विशेष राष्ट्रीय संकटों के अवसर पर आपसी मतभेद भुलाकर जनता शासन को पूर्ण समर्थन भी देती है।

(2) सम्मेलनों द्वारा कूटनीति- प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सम्मेलन कूटनीति एक स्थायी प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई है। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा की योजना अथवा प्रादेशिक संगठनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का महत्व और भी अधिक हो ही गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान चार बड़ों के सम्मेलनों का निरन्तर प्रयोग किया गया, अन्तर-संश्रित (Inter-Allied) कमेटियों और स्थायी परिषदों का निर्माण किया गया। सर आर्थर साल्टर इन अन्तर्राज्य परिषदों को अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति की एक नवीन प्रवृत्ति मानते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सम्मेलन कूटनीति इतनी प्रचलित हो गयी कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र, सैनिक सन्धियों; जैसे नाटो, सीटो तथा गुटनिरपेक्ष राज्यों के तत्वावधान में सम्मेलन आयोजित होते ही रहते हैं। आंकड़ों के अनुसार प्रतिवर्ष 6 से 10 हजार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते हैं। इनमें अधिकांश सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र संघ या इससे सम्बद्ध संगठनों तथा अभिकरणों के तत्वावधान में किए जाते हैं। आजकल इन सम्मेलनों का और बहुपक्षीय राजनीति का महत्व इतना अधिक बढ़ गया है कि संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय में ऐसे सम्मेलन बुलाने और इनकी व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् विभाग बनाया गया है और यह संघ की महासभा, परिषदों, आयोगों और सम्मेलनों की बैठकें बुलाने का आयोजन संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में करता है।

(3) व्यक्तिगत कूटनीति- जब कूटनीतिक विषयों के समाधान के लिए सरकारी अधिकारियों के स्थान पर सम्बन्धित देशों के अध्यक्षों, प्रधानमन्त्रियों अथवा विदेशमन्त्रियों द्वारा सीधा भाग लिया जाता है तो उसे व्यक्तिगत कूटनीति कहा जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की अन्तःराज्य नीति के निर्माण और विकास में चर्चिल तथा रूजवेल्ट का विशेष हाथ था। संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में होने वाले सम्मेलनों में महासभा की बैठकों में सभी देशों के प्रधानमन्त्री प्रायः भाग लेते हैं। आवागमन के साधनों के तीव्र विकास ने व्यक्तिगत कूटनीति के प्रयोग में वृद्धि की है। अब तो थोड़े-से भी महत्व वाले मामलों में व्यक्तिगत कूटनीति को अपनाया जाता है। कभी-कभी समस्त परम्परागत माध्यमों के स्थान पर राष्ट्रों के अध्यक्ष विशेष महत्वपूर्ण, गम्भीर, नाजुक स्थितियों को संभालने के लिए अपने विशेष विश्वासपत्र व्यक्तियों का उपयोग करते हैं। हम सभी जानते हैं कि विल्सन कर्जन हाउस पर, रूजवेल्ट हैरी हापकिन्स पर, नेहरू कृष्णा मेनन पर, निक्सन हेनरी किसिंगर पर विशेष विश्वास करते थे। व्यक्तिगत कूटनीति का एक और रूप भी है कि राष्ट्रों के अध्यक्ष व्यक्तिगत रूप से सीधे ही विचार-विमर्श करें जैसे पूर्व में सम्राट मिलते थे। चर्चिल और रूजवेल्ट तो टेलीफोन पर सीधी बात करते थे और पत्र-व्यवहार करते रहते थे। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रकार की कूटनीति में अविवेक, भ्रम, द्विरूपता और रहस्योद्घाटन के अधिक अवसर रहते हैं। विशेषकर व्यक्तिगत रूप से यदि दो अध्यक्षों को एक-दूसरे का व्यक्तित्व रुचिकर न लगे तो समस्याओं के अधिक उलझने की सम्भावना रहती है।

(4) शिखर कूटनीति (Summit Diplomacy)-शिखर कूटनीति का अभिप्राय उस कूटनीति से है जिसमें विवाद हल करने के लिए राज्य या सरकार के प्रधान भाग लेते हैं। यह सम्मेलन और व्यक्तिगत कूटनीति का बड़ा ही प्रभावी ढंग है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कई शिखर सम्मेलन हुए। गुट निरपेक्ष देशों के अब तक ग्यारह शिखर सम्मेलन हो चुके हैं।

(5) वणिक कूटनीति (Commercial Diplomacy)- आधुनिक कूटनीति पर व्यापार-वाणिज्य का विशेष प्रभाव पड़ा है। मुद्रा तथा वित्तीय समस्याओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रश्न इतने तकनीकी हो गए हैं कि विशेषज्ञ ही उनका संचालन कर सकते हैं। प्राचीन राजनय में राजदूत ही सभी प्रकार की व्यापारिक सन्धियां करते थे, परन्तु इधर

वाणिज्य दूत ही ऐसी सन्धियों पर विशेष विचार करते हैं। आधुनिक राज्य आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर हैं अतः आर्थिक तरीकों का कूटनीतिक प्रयोग होता है; जैसे पूर्व सोवियत संघ द्वारा यूगोस्लाविया से आर्थिक सम्बन्ध तोड़ना, सोवियत संघ द्वारा 'कॉमन फार्म' को सुदृढ़ करना, अमरीका द्वारा समय-समय पर भारत को दी जाने वाली आर्थिक सहायता बन्द करना, आदि।

(6) संगुट्टीय कूटनीति (Alliance and Coalition Diplomacy)- संगुट्टीय कूटनीति की चर्चा हौस्ल्टी, स्टीवेन रोजेन, ऐडवीन फेडर, आर. जे. रूमेल, के. जी. हाल्स्टी आदि ने की है। संगुट्टीय कूटनीति में तीन बातों पर बल दिया जाता है- (i) संगुंट के निर्माण (Alliance Formation) अर्थात् गुट का निर्माण क्यों किया जाता है तथा कोई राज्य संगुट को क्यों छोड़ता है ? (ii) संगुट की भूमिका (Alliance Performance) अर्थात् किसी संगुट में प्रभावक शक्ति का वितरण किस भांति होता है? संगुट के सदस्य राज्यों में सुदृढ़ता का क्या आधार है? (iii) संगुट के प्रभाव (Effects of Alliances) । क्या संगुटों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सन्तुलन बना रहता है? आधुनिक युग में अनेक संगुटों का निर्माण हुआ है; जैसे नाटो, वार्साय पैक्ट, सीटो, सेण्टो, आदि। शीतयुद्ध के उत्तरार्द्ध में संगुट व्यवस्था विखरने लगी थी। निक्सन ने लन्दन, पेरिस और टोकियो के बजाय पेकिंग और मास्को की तरफ झांकना प्रारम्भकिया, जिससे संगुट्टीय कूटनीति में नयी प्रवृत्ति देखने को मिली।

(7) सांस्कृतिक कूटनीति- सांस्कृतिक कूटनीति अराजनीतिक तत्वों एवं समस्याओं पर बल देती है; जैसे विज्ञान, तकनीकी, शैक्षणिक आदान-प्रदान, आदि पर। दूसरे देशों में अपनी सभ्यता, जीवन प्रणाली तथा विचारधारा का प्रचार करना सांस्कृतिक कूटनीति का अंग है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ सांस्कृतिक प्रसार एवं विस्तार पर अधिक जोर देने लगे।

(8) प्रचार कूटनीति (Diplomacy by Propaganda)- आजकल कूटनीति में प्रचार का महत्व काफी बढ़ गया है। कूटनीतिक निर्णयों को अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रत्येक देश प्रचार तकनीकी का प्रयोग करता है। प्रचार द्वारा जनता में अनेक मिथ्या विश्वास एवं भ्रम उत्पन्न किए जाते हैं। इसके द्वारा समझौते पर विचार करने योग्य वातावरण तैयार किया जाता है। वैसे तो सभी राज्य प्रचार और प्रकाशन द्वारा कूटनीति का संचालन करते हैं, किन्तु साम्यवादी राज्यों में इनका प्रयोग अधिक व्यापक रूप में किया जाता है।

(9) संसदात्मक कूटनीति- संयुक्त राष्ट्र संघ में कार्यान्वित कूटनीति संसदात्मक कूटनीति जैसी है। संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों की प्रक्रिया राष्ट्रीय संसदों की प्रक्रिया के समान होती है। दोनों में एक ही निश्चित प्रक्रिया को अपनाया जाता है। राष्ट्रीय संसद की भांति संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते हैं। उन पर वाद-विवाद होता है, पदाधिकारियों के चुनाव होते हैं, बजट बनता है तथा स्वीकार किया जाता है। जिस प्रकार संसदात्मक व्यवस्था में राजनीतिक दल, दबाव समूह, आदि राज्य रीति-नीति को प्रभावित करते हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी क्षेत्रीय तथा राजनीतिक गुट संयुक्त राष्ट्र संघ की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। संसदीय कूटनीति की उपयोगिता यह है कि इसके फलस्वरूप विश्व लोकमत संगठित होता है तथा इसके माध्यम से राज्यों के सहयोगपूर्ण सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिलता है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर लिखिए।

1. कूटनीति शब्द की उत्पत्ति किस भाषा के किस शब्द से मानी जाती है?

2. पामर और पर्किन्स के अनुसार राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का सबसे प्रमुख साधन कौन-सा है?

3. कूटनीति का मुख्य उद्देश्य किसकी रक्षा है?

4. आधुनिक कूटनीति का प्रमुख मंच क्या है?

10.12 सारांश

कूटनीति आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन मानी जाती है। इसके माध्यम से राज्य अपने विदेश संबंधों का संचालन करते हैं, विदेश नीति को व्यवहार में लाते हैं तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपने हितों की रक्षा और विस्तार करते हैं। कूटनीति केवल बातचीत या समझौते तक सीमित नहीं है, बल्कि यह राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों को संगठित कर उन्हें प्रभावी रूप से प्रयोग करने की एक सुविचारित कला है।

राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों का प्रयोग करते हैं, जिनमें कूटनीति का स्थान सर्वोपरि है। विद्वानों के अनुसार कूटनीति के माध्यम से राष्ट्र न केवल अपने हितों को सुरक्षित करते हैं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय सहयोग, शांति और स्थिरता को भी बढ़ावा देते हैं। कूटनीति का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय सुरक्षा, क्षेत्रीय अखंडता और राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करना तथा अंतरराष्ट्रीय मंच पर राष्ट्र की स्थिति को सुदृढ़ बनाना होता है।

कूटनीति शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा से मानी जाती है और समय के साथ इसका अर्थ अधिक व्यापक होता गया। आधुनिक संदर्भ में कूटनीति स्वतंत्र राज्यों की सरकारों के बीच औपचारिक संबंधों के संचालन में विवेक, बुद्धिमत्ता और कौशल के प्रयोग को दर्शाती है। विभिन्न विद्वानों ने इसे अंतरराष्ट्रीय वार्ताओं को कुशलतापूर्वक संचालित करने की कला माना है। इस प्रकार कूटनीति का स्वरूप बहुआयामी है, जिसमें नीति, वार्ता, प्रतिनिधित्व और संवाद सभी सम्मिलित हैं।

कूटनीति के प्रमुख उद्देश्यों में राष्ट्रीय हितों की रक्षा, मित्र राष्ट्रों के साथ संबंधों को मजबूत करना, शत्रुतापूर्ण स्थितियों को नियंत्रित करना और विवादों का शांतिपूर्ण समाधान खोजना शामिल है। इसके कार्यों में सन्धि-वार्ता, सूचनाओं का संकलन, विदेशों में अपने देश का प्रतिनिधित्व, अपने नागरिकों के हितों की रक्षा तथा सद्भावना का निर्माण प्रमुख हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इन कार्यों को औपचारिक मान्यता भी प्राप्त है।

कूटनीति, विदेश नीति और राष्ट्रीय शक्ति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं। विदेश नीति लक्ष्यों का निर्धारण करती है, जबकि कूटनीति उन लक्ष्यों को प्राप्त करने का माध्यम बनती है। राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्व—राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और मनोवैज्ञानिक—कूटनीति के माध्यम से समन्वित होकर प्रभावी बनते हैं। इसी कारण कूटनीति को राष्ट्रीय शक्ति का 'मस्तिष्क' कहा गया है, जो राज्य की बिखरी हुई शक्तियों को दिशा और उद्देश्य प्रदान करती है।

आधुनिक युग में संचार साधनों के विकास और वैश्वीकरण के कारण कूटनीति का स्वरूप और अधिक व्यापक हो गया है। नीति-निर्माता स्वयं कूटनीतिक भूमिका निभाने लगे हैं, जिससे शिखर सम्मेलनों और प्रत्यक्ष वार्ताओं का महत्व बढ़ा है। इसके साथ ही कूटनीति की कुछ सीमाएँ भी सामने आती हैं, जैसे राष्ट्रीय हितों का टकराव, शक्ति राजनीति, अंतरराष्ट्रीय अविश्वास और राजनीतिक दबाव। इन सीमाओं के बावजूद, कूटनीति आज भी अंतरराष्ट्रीय शांति, सहयोग और संतुलन बनाए रखने का एक अनिवार्य और प्रभावी साधन बनी हुई है।

10.13 तकनीकी शब्दावली

1. कूटनीति- राज्यों के बीच आधिकारिक संबंधों के संचालन में वार्ता, विवेक और कौशल का प्रयोग।
2. राजनयिक- वह प्रतिनिधि जो किसी राज्य की ओर से अन्य राज्यों के साथ आधिकारिक संबंधों का संचालन करता है।
3. विदेश नीति- किसी राज्य द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु अन्य देशों के साथ अपनाई गई नीतियाँ और कार्य।
4. राष्ट्रीय हित- वे मूलभूत लक्ष्य और प्राथमिकताएँ जिनकी प्राप्ति और रक्षा के लिए राज्य कार्य करता है।
5. राष्ट्रीय शक्ति- किसी राज्य की वह समग्र क्षमता जिसके द्वारा वह अपने हितों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षित करता है।
6. संधि-वार्ता- राज्यों के बीच समझौतों और संधियों पर की जाने वाली औपचारिक बातचीत।

10.14 स्वमूल्यां कत प्रश्नों के उत्तर

1. ग्रीक शब्द 'डिप्लाउन' 2. कूटनीति 3. राष्ट्रीय हित 4. शिखर सम्मेलन

10.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Frankel, Joseph. 1969. *International Relations*. London: Oxford University Press.
2. Guzzini, Stefano. 1998. *Realism in International Relations and International Political Economy*. London: Routledge.
3. Kumar, Mahendra. 1976. *Theoretical Aspects of International Politics*. Agra: Shivlal Agarwala and Company.
4. Nye, Joseph S., Jr, 2008. *Understanding International Conflicts: An Introduction to Theory and History*. Delhi: Dorling Kindersley.
5. *International Relations and World Politics: Security, Economy*, *Identity*. Delhi: Dorling Kindersley.

10.16 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Rumki Basu- International Politics: Concepts, Theories and Issues
2. बी.एल.फड़िया- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति: सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे

10.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. कूटनीति की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा इसके अर्थ, स्वरूप और महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि में कूटनीति की भूमिका का विस्तृत विवेचन कीजिए।
3. कूटनीति और राष्ट्रीय शक्ति के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या कीजिए।
4. कूटनीति के प्रमुख उद्देश्य और कार्य विस्तार से समझाइए।

इकाई-11 राष्ट्रीय हित के वृद्धि के साधन: युद्ध , प्रचार

इकाई संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन के रूप में युद्ध

11.4 युद्ध के उद्देश्य, स्वरूप एवं प्रभावों का विश्लेषण

11.5 प्रचार अर्थ एवं परिभाषा

11.6 प्रचार के उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि

11.7 प्रचार की पद्धति एवं तरीके

11.8 प्रभावशाली प्रचार की विशेषताएं एवं नियम

11.9 प्रचार और सर्वाधिकारवादी राज्य

11.10 प्रचार और राजनीतिक युद्ध

11.11 प्रचार और कूटनीति

11.12 सारांश

11.13 अभ्यास प्रश्न

11.14 शब्दावली

11.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

11.16 सन्दर्भ सूची

11.17 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

यह इकाई आपको यह समझने में मदद करने के लिए है कि राष्ट्र अपने **राष्ट्रीय हित** को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिए किन-किन साधनों का उपयोग करते हैं, विशेष रूप से **युद्ध** और **प्रचार** के माध्यम से। यहाँ से बात शुरू करते हैं। अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में कोई भी राष्ट्र भावनाओं या आदर्शों के आधार पर नहीं चलता। हर निर्णय के पीछे एक ठोस उद्देश्य होता है और वह उद्देश्य होता है अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा और अभिवृद्धि। यही कारण है

कि विदेश नीति, कूटनीति, सैन्य रणनीति या अंतरराष्ट्रीय व्यवहार को समझने के लिए राष्ट्रीय हित की अवधारणा को जानना अनिवार्य है।

इस इकाई में आपने पढ़ा कि राष्ट्रीय हित केवल एक सैद्धान्तिक विचार नहीं है, बल्कि यह राष्ट्र के अस्तित्व, सुरक्षा, प्रतिष्ठा और विकास से सीधे जुड़ा हुआ है। यथार्थवादी दृष्टिकोण इसी बिंदु पर ज़ोर देता है कि राज्य शक्ति और सुरक्षा को प्राथमिकता देते हैं और आवश्यकता पड़ने पर कठोर साधनों का भी प्रयोग करते हैं।

युद्ध राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का सबसे प्रत्यक्ष और कठोर साधन माना जाता है। जब कूटनीति, समझौते और संवाद असफल हो जाते हैं, तब राज्य अपने अस्तित्व, सीमाओं, संसाधनों या प्रभुत्व की रक्षा के लिए युद्ध का सहारा लेते हैं। कौटिल्य से लेकर आधुनिक यथार्थवादी चिंतकों तक, यह स्वीकार किया गया है कि युद्ध राज्य की शक्ति का अंतिम परीक्षण होता है। युद्ध केवल सैन्य टकराव नहीं है, बल्कि यह शक्ति-संतुलन को बदलने, विरोधी को कमजोर करने और अपने राष्ट्रीय हितों को निर्णायक रूप से स्थापित करने का साधन भी है।

वहीं दूसरी ओर, **प्रचार** एक अपेक्षाकृत सूक्ष्म लेकिन अत्यंत प्रभावशाली साधन है। आधुनिक युग में केवल सैन्य शक्ति ही पर्याप्त नहीं मानी जाती। राज्यों को यह भी सुनिश्चित करना होता है कि उनकी नीतियों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार्यता मिले। प्रचार के माध्यम से राष्ट्र न केवल विदेशी सरकारों को बल्कि वहाँ की जनता को भी प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक युद्ध का रूप ले सकता है, जहाँ बिना हथियार उठाए विरोधी की सोच और व्यवहार को बदला जाता है।

इस प्रकार, युद्ध और प्रचार दोनों ही राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के ऐसे साधन हैं जिनका प्रयोग परिस्थितियों, संसाधनों और राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुसार किया जाता है। कोई भी राष्ट्र इन साधनों का चयन अपने दीर्घकालीन और अल्पकालीन लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए करता है।

इस इकाई का उद्देश्य आपको यह स्पष्ट समझ देना है कि राष्ट्रीय हित केवल घोषित नीतियों तक सीमित नहीं रहता, बल्कि युद्ध और प्रचार जैसे साधनों के माध्यम से वह व्यवहार में कैसे लागू होता है और अन्तरराष्ट्रीय राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करता है।

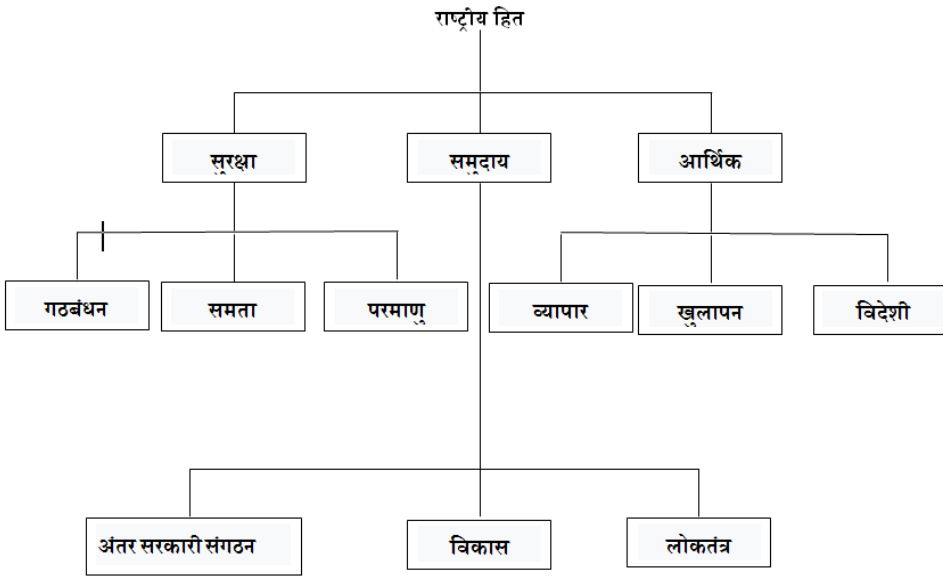

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम मुख्यतः राष्ट्रीय हित के प्रमुख साधनों **प्रचार** एवं **युद्ध** के महत्व, उनके उद्देश्यों, पद्धतियों तथा प्रभावों का अध्ययन करेंगे—

1. प्रचार के उद्देश्यों का अध्ययन करते हुए उसकी विभिन्न पद्धतियों एवं माध्यमों का विश्लेषण करना।
2. प्रचार के प्रमुख नियमों, विशेषताओं तथा उसकी सीमाओं का अध्ययन करना।
3. युद्ध को राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के एक साधन के रूप में समझना तथा यह अध्ययन करना कि किन परिस्थितियों में राज्य युद्ध का सहारा लेते हैं।
4. युद्ध के उद्देश्यों, स्वरूपों एवं प्रभावों का विश्लेषण करना तथा यह समझना कि युद्ध किस प्रकार राज्य की सुरक्षा, प्रभुत्व और शक्ति-संतुलन से जुड़ा होता है।

11.3 राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन के रूप में युद्ध

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में युद्ध को राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के एक महत्वपूर्ण तथा निर्णायक साधन के रूप में देखा गया है। यथार्थवादी विचारधारा के अनुसार राज्य की सर्वोच्च प्राथमिकता उसका **अस्तित्व, सुरक्षा और शक्ति** होती है, और जब इन पर संकट उत्पन्न होता है, तब युद्ध एक वैध एवं अपरिहार्य विकल्प के रूप में उभरता है। युद्ध को केवल हिंसक संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है जिसके माध्यम से राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा और विस्तार का प्रयास करते हैं।

इस संदर्भ में **क्लॉजविट्ज़** का प्रसिद्ध कथन उल्लेखनीय है कि ***"युद्ध राजनीति का ही एक अन्य साधन है"***। क्लॉजविट्ज़ के अनुसार युद्ध का उद्देश्य विरोधी को पराजित करना मात्र नहीं होता, बल्कि उसे अपनी राजनीतिक इच्छा स्वीकार करने के लिए विवश करना होता है। इस दृष्टि से युद्ध और राजनीति एक-दूसरे से अलग नहीं, बल्कि परस्पर पूरक हैं। जब शांतिपूर्ण राजनीतिक साधन विफल हो जाते हैं, तब युद्ध राष्ट्रीय हित की पूर्ति का माध्यम बनता है।

कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में युद्ध को राज्य की नीति का एक अभिन्न अंग माना है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि राज्य को अपनी शक्ति, परिस्थितियों और विरोधी की स्थिति के अनुसार दंड, भेद, साम और दान जैसे उपायों का प्रयोग करना चाहिए। जब अन्य उपाय प्रभावी न हों, तब दंड अर्थात युद्ध का प्रयोग राज्य के हित में उचित हो सकता है। कौटिल्य का यह दृष्टिकोण युद्ध को नैतिक या अनैतिक प्रश्न से अलग रखते हुए उसे पूर्णतः व्यावहारिक और हित-आधारित निर्णय के रूप में प्रस्तुत करता है।

आधुनिक यथार्थवादी विचारक **हैंस जे. मौर्गेन्थाऊ** युद्ध को शक्ति-संघर्ष की चरम अवस्था मानते हैं। उनके अनुसार राष्ट्रीय हित का मूल अर्थ है—राज्य की उत्तरजीविता और सुरक्षा। जब किसी राज्य की भौतिक, राजनीतिक या सांस्कृतिक पहचान को खतरा होता है, तब युद्ध राष्ट्रीय हित की रक्षा का साधन बन जाता है। मौर्गेन्थाऊ यह भी मानते हैं कि युद्ध का प्रयोग राज्य तभी करता है जब उसे यह विश्वास हो कि उससे उसके राष्ट्रीय हितों की रक्षा या अभिवृद्धि संभव है।

युद्ध का प्रयोग ऐतिहासिक उदाहरणों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों द्वारा युद्ध का सहारा फासीवादी के विस्तार को रोकने और वैश्विक शक्ति-संतुलन को पुनः स्थापित करने के लिए लिया गया। इसी प्रकार, भारत-पाकिस्तान युद्ध (1971) को भारत ने अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा और क्षेत्रीय स्थिरता के संदर्भ में लड़ा, जिसके परिणामस्वरूप बांग्लादेश का उदय हुआ और दक्षिण एशिया में शक्ति-संतुलन भारत के पक्ष में आया। यह उदाहरण दर्शाता है कि युद्ध किस प्रकार राष्ट्रीय हितों शक्तियों की अभिवृद्धि का साधन बन सकता है।

आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति में युद्ध के स्वरूप भी बदलते गए हैं। आज पूर्ण युद्ध के स्थान पर सीमित युद्ध, प्रॉक्सी युद्ध और तकनीकी एवं साइबर युद्ध जैसे रूप अधिक प्रचलित हैं। फिर भी इन सभी का मूल उद्देश्य वही रहता है—राज्य की सुरक्षा सुनिश्चित करना, विरोधी की शक्ति को सीमित करना और अंतरराष्ट्रीय प्रणाली में अपने हितों को सुरक्षित रखना।

इस प्रकार, युद्ध को राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में समझा जा सकता है। यह साधन कठोर, जोखिमपूर्ण और विनाशकारी अवश्य है, किंतु यथार्थवादी दृष्टिकोण में यह राज्य की शक्ति और सुरक्षा का अंतिम आश्रय माना जाता है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकताओं को समझने के लिए युद्ध और राष्ट्रीय हित के इस गहरे संबंध को समझना अनिवार्य है।

11.4 युद्ध के उद्देश्य, स्वरूप एवं प्रभावों का विश्लेषण

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में युद्ध को केवल सैन्य संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि एक **बहुआयामी राजनीतिक साधन** के रूप में देखा जाता है। युद्ध के उद्देश्य, उसके स्वरूप और उसके प्रभाव आपस में गहराई से जुड़े हुए हैं तथा ये तीनों मिलकर यह स्पष्ट करते हैं कि युद्ध किस प्रकार राष्ट्रीय हितों की पूर्ति करता है।

11.4.1 युद्ध के उद्देश्य

युद्ध के उद्देश्य समय, परिस्थितियों और राज्य की प्राथमिकताओं के अनुसार भिन्न हो सकते हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार युद्ध का प्राथमिक उद्देश्य **राष्ट्रीय सुरक्षा और उत्तरजीविता** की रक्षा करना होता है। जब किसी राज्य की सीमाओं, संप्रभुता या राजनीतिक स्वतंत्रता पर प्रत्यक्ष खतरा उत्पन्न होता है, तब युद्ध आत्मरक्षा का साधन बन जाता है।

इसके अतिरिक्त, युद्ध का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य **शक्ति और प्रभुत्व की स्थापना** भी होता है। शक्तिशाली राष्ट्र कई बार अपने क्षेत्रीय या वैश्विक प्रभाव को बनाए रखने के लिए युद्ध का सहारा लेते हैं। इतिहास में साम्राज्यवादी विस्तार, उपनिवेशवाद और प्रभाव-क्षेत्रों की स्थापना इसी उद्देश्य से जुड़ी रही है।

कुछ परिस्थितियों में युद्ध का उद्देश्य **शक्ति-संतुलन को बनाए रखना या पुनर्स्थापित करना** भी होता है। जब किसी क्षेत्र में कोई राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो जाता है और अन्य राज्यों के हितों के लिए खतरा बनता है, तब युद्ध या सैन्य हस्तक्षेप के माध्यम से संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। शीत युद्ध के दौरान महाशक्तियों की सैन्य रणनीतियाँ इसी सोच को प्रतिबिंबित करती हैं।

11.4.2 युद्ध के स्वरूप

युद्ध के स्वरूप समय के साथ निरंतर बदलते रहे हैं। पारंपरिक दृष्टि से युद्ध को पूर्ण युद्ध और सीमित युद्ध के रूप में समझा जाता था। पूर्ण युद्ध में राज्य अपनी समस्त सैन्य, आर्थिक और मानवीय शक्ति का प्रयोग करता है, जबकि सीमित युद्ध में उद्देश्य और साधन दोनों नियंत्रित रहते हैं।

आधुनिक युग में युद्ध के नए स्वरूप उभरकर सामने आए हैं। प्रॉक्सी युद्ध में प्रत्यक्ष टकराव के स्थान पर राज्य किसी अन्य राज्य या गैर-राज्य अभिनेताओं के माध्यम से अपने हितों की पूर्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त, शीत युद्ध जैसे अप्रत्यक्ष संघर्षों में वैचारिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रतिस्पर्धा को प्राथमिकता दी जाती है।

वर्तमान समय में तकनीकी युद्ध, साइबर युद्ध और सूचना युद्ध का महत्व बढ़ गया है। इनमें प्रत्यक्ष सैन्य संघर्ष के बिना ही विरोधी की संचार प्रणाली, आर्थिक ढाँचे और जनमत को प्रभावित किया जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि युद्ध अब केवल युद्धक्षेत्र तक सीमित नहीं रह गया है, बल्कि समाज और राज्य की समस्त संरचना को प्रभावित करता है।

11.4.3 युद्ध के प्रभाव

युद्ध के प्रभाव बहुआयामी और दीर्घकालिक होते हैं। सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव राज्य की सुरक्षा और सत्ता-संरचना पर पड़ता है। युद्ध के परिणामस्वरूप राज्य की सीमाएँ बदल सकती हैं, शासन-व्यवस्था प्रभावित हो सकती है और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उसकी स्थिति में परिवर्तन आ सकता है।

आर्थिक दृष्टि से युद्ध अक्सर विनाशकारी सिद्ध होता है। संसाधनों का क्षय, अवसंरचना का नुकसान और विकास प्रक्रियाओं का अवरोध युद्ध के सामान्य परिणाम होते हैं। साथ ही सामाजिक स्तर पर युद्ध जनसंख्या विस्थापन, मानवीय संकट और सामाजिक अस्थिरता को जन्म देता है।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर युद्ध का प्रभाव शक्ति-संतुलन और अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था पर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैश्विक राजनीतिक ढाँचे में व्यापक परिवर्तन हुए और नए अंतरराष्ट्रीय संगठन अस्तित्व में आए। इससे यह स्पष्ट होता है कि युद्ध न केवल राज्यों के बीच संबंधों को बदलता है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय प्रणाली की दिशा भी निर्धारित करता है।

इस प्रकार, युद्ध के उद्देश्यों, स्वरूपों एवं प्रभावों का अध्ययन यह समझने में सहायक होता है कि युद्ध किस प्रकार राष्ट्रीय हितों से जुड़ा हुआ है और क्यों अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इसे एक महत्वपूर्ण, यद्यपि अत्यंत कठोर, साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

11.5 प्रचार अर्थ एवं परिभाषा

प्रचार का अर्थ सामान्यतः उन कार्यों से लिया जाता है जो दूसरे व्यक्ति को अपना पक्ष समझाने तथा तदनुकूल आचरण कराने के लिए किये जाते हैं। प्रचार वह कला है जिसके माध्यम से एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिए जनमत के मस्तिष्क को प्रभावित करता है।

जोसेफ फ्रंकेल के शब्दों में, "प्रचार से हमारा अर्थ सामान्यतः किसी भी ऐसे व्यवस्थित प्रयास से होता है जो किसी विशेष उद्देश्य के लिए प्रदत्त समूह के मस्तिष्कों को, भावनाओं को तथा क्रियाओं को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।"

हेरल्ड लासवेल के अनुसार "प्रचार विवादस्पद दृष्टिकोणों को नियंत्रित करने के लिए प्रतीकों का विस्तार है।"

संक्षेप में प्रचार से अभिप्राय है-

- प्रचार व्यक्तियों द्वारा व्यवस्थित प्रयास है।
- ये प्रयास मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित होते हैं क्यूंकि जिन व्यक्तियों को प्रचार से प्रभावित करना है वे उसे अच्छी तरह ग्रहण कर ले।
- प्रचार के लिए कई साधनों,प्रतीकों आदि का प्रयोग किया जाता है। किस परिस्थिति में कौन-सा साधन या प्रतीकों का प्रयोग किया जाए वह प्रचार की रणनीति बनाने वाले पर निर्भर करता है।
- प्रचार न तो नैतिक होता है और न अनैतिक। किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण को अपने अनुकूल बनाने को न तो अच्छा कहा जा सकता है और न बुरा।

समकालीन समय में प्रचार का व्यापक रूप से उपयोग किया गया है, देश के भीतर आम सहमति और अंतरराष्ट्रीय संबंधों को प्राप्त करने,समेकित और विनियमित करने के लिए एक साधन के रूप में और खासकर युद्ध में प्रचार की भूमिका और अधिक बढ़ जाती है। नेपोलियन के फ्रांस में एक आधुनिक तकनीक के रूप में प्रचार ने महत्वपूर्ण स्थान लिया तथा एक उपकरण के रूप में द्वितीय विश्व युद्ध में चरमोत्कर्ष में पंहुचा। जिसे बाद में खाड़ी युद्ध में व्यापक रूप से और सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया।

हाल के दिनों में 'प्रोपेगैंडा' शब्द का इस्तेमाल 'सॉफ्ट पावर' के रूप में भी किया गया है। शक्तिशाली राजनीतिक और गैर-राजनीतिक संगठनों के माध्यम कम पारदर्शी चैनलों और पैरवी के माध्यम से सामाजिक और जनमत को प्रभावित करना।

11.6 प्रचार के उद्देश्य - राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि

अंतरष्ट्रीय राजनीति में राज्य प्रचार के माध्यम से अपना प्रभाव बनाते हैं. पैडिलफोर्ड तथा लिंकन का कथन है कि " प्रचार का रूप चाहे कुछ भी हो अथवा इसमें किसी भी तकनीकी को अपनाया गया हो, इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति ही होती है।" मूल रूप में सभी प्रचार सम्बन्धी कार्य राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। जिस समय अन्तराष्ट्रीय समझौते होते हैं उस समय निर्णयों को अपने हितों के अनुकूल मोड़ने के लिए कोई भी देश प्रचार का सहारा ले सकता है। प्रचार को माध्यम बना कर राष्ट्र अपनी विचारधारा का विस्तार करते हैं। अपनी राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय नीतियों हेतु समर्थन प्राप्त करने के लिए भी प्रचार का सहारा लिया जा सकता है। अन्तराष्ट्रीय राजनीति का इतिहास बताता है कि प्रचार के माध्यम से युद्ध के परिणामों को भी बदला जा सकता है। पामर और पार्किंस के अनुसार, " प्रचार राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है क्यूंकि इससे राज्य में संगठित लोकमत तैयार होता है और विदेशो में अपने हितों की वृद्धि होती है।"

शीतयुद्ध के युग में प्रचार के बिना कोई भी राज्य अपने उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर सकता है। आज तो प्रचार को राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के साधन के रूप में ही स्वीकार नहीं किया जाता अपितु इसे राष्ट्रीय शक्ति का एक तत्त्व भी माना जाता है। एक राज्य चाहे सही कार्य करे यदि वह प्रचार का सहारा न ले तो कठिनाई में उलझ सकता है। प्रचार के द्वारा ही विदेश नीति की सत्यता को दर्शाया जाता है। नाज़ी जर्मनी की राजनीति पूरी तरह प्रचार पर आधारित थी और हिटलर ने प्रचार की महत्ता को स्वीकार किया था। प्रचार को साधन के रूप में मानते हुए हिटलर ने लिखा है, "प्रचार एक साधन है और जिन उद्देश्यों की प्राप्ति करनी है उसी सन्दर्भ में प्रचार को देखना है। इसे इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए ताकि उद्देश्यों की प्राप्ति के योग्य हो सके और यह बिल्कुल स्पष्ट है कि सामान्य उद्देश्यों का महत्व आवश्यकताओं के अनुसार बदलता रहता है इसलिए प्रचार का आन्तरिक रूप भी तदनुसार बदलता रहना चाहिए।

प्रचार के उद्देश्यों पर यदि हम विचार करते है तो समझ आएगा कि राष्ट्रीय हितों को केंद्र में रखते हुए ही समस्त प्रचार सम्बन्धी कार्यों को क्रियान्वित किया जाता है. उदाहरण के लिए:
किसी समस्या या समकालीन मुद्दों पर विचार करने हेतु विभिन्न सम्मेलनों के आयोजन हेतु जो वातावरण बनाया जाता है, उसमे प्रचार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
विचारधारा का प्रसार प्रचार के माध्यम से ही संभव है. सभी राज्य यह प्रयास करते हैं कि उनके राष्ट्र में व्याप्त विचारधारा का प्रवाह विभिन्न राज्यों में हो जिससे कि राज्यों के मध्य मैत्रीपूर्ण तथा सहयोगपूर्ण सम्बन्ध बने।
अन्तराष्ट्रीय समझौते को अपने हित की ओर झुकाव के लिए एक राज्य प्रचार का सहारा ले सकता है।
अपनी राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय नीतियों पर समर्थन प्राप्त करने हेतु प्रचार को माध्यम के तौर पर चुना जा सकता है।
` प्रचार के महत्व को स्वीकारते हुए अनेक राजनीतिज्ञों ने इसे न केवल राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का साधन माना बल्कि राष्ट्रीय शक्ति का भी महत्वपूर्ण तत्व माना है। बीसवी शताब्दी में प्रचार राष्ट्रीय नीति का एक परिपक्व साधन बन गया है।

11.7 प्रचार की पद्धति एवं तरीके

अन्तराष्ट्रीय राजनीति में भी प्रचार के उन्ही प्रचलित तरीकों को शामिल किया गया है जो व्यापर एवं विज्ञापन के क्षेत्र में अपनाये जाते हैं। नीति निर्माण के दौरान कुछ संवेदनशील बातों को ध्यान में रखा जाता है कि लोगो की इच्छाएं,भय और कमजोरियां क्या है? प्रचार की बहुत सी विधियाँ हैं लेकिन यहाँ पर हम पामर एवं पार्किंस द्वारा व्याख्यायित चार विधियों का ही अध्ययन करेंगे:

- प्रस्तुत करने की विधि
- ध्यान आकर्षित करने की विधि
- अनुक्रिया प्राप्त करने की युक्ति
- स्वीकृति पाने के साधन

प्रस्तुत करने की विधि:

प्रस्तुत करने की विधि से आशय है कि प्रचारकर्ता अपने विचार कुछ इस तरह से प्रस्तुत करता है कि सिर्फ उन्ही का पक्ष प्रकट हो। उनका प्रयास यह होता है कि विचारों का प्रसारण इस प्रकार होना चाहिए कि दूसरे पक्ष के विचारों को जाने बिना सिर्फ एक ही पक्ष के विचार का प्रसारण हो। उनके द्वारा उन तथ्यों और तर्कों को छुपा दिया जाता है या सामने ही नहीं आने दिया जाता जिससे कि उनके पक्ष को किसी भी प्रकार की क्षति पहुचती है। **अब्राहम लिंकन** जिन दिनों वकालत करते थे उन दिनों एक न्यायधीश ने उनके तर्कों पर आपत्ति करते हुए कहा कि "लिंकन, इस मुक़दमे में आप जो तर्क दे रहे हैं,वे आपके द्वारा ही एक अन्य मुक़दमे में कल दिए गए तर्कों के प्रतिकूल हैं। इसका उत्तर देते हुए लिंकन ने कहा कि "हो सकता है मैंने कल जो तर्क दिए थे वे गलत हो, किन्तु मेरे आज के तर्क पूर्णतः सत्य है। हिटलर ने इस प्रणाली का बखूबी से फायदा उठाया। जब हिटलर ने चेकोस्लाविया को हड़पने का संकल्प किया तो उसने अपने उद्देश्य को इस रूप में प्रस्तुत किया कि वह चेकोस्लाविया के केवल उन्ही प्रदेशों का को प्राप्त करना चाहता है, जिनमे जर्मन भाषा-भाषी लोग बसे हुए है। यह मांग आत्मनिर्णय के उस सिद्धांत के आधार पर की गयी थी जो लोकतंत्र का एक मौलिक सिद्धांत था और जिस पर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, आदि पश्चिमी राज्य आस्था रखते थे। कश्मीर समस्या पर पाकिस्तान अपने तर्क सदैव तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर्ता है। पाकिस्तान बराबर यही प्रचार करता रहा है कि कश्मीर पाकिस्तान का अंग है क्यूंकि वहां की अधिकांश जनता मुसलमान है। यदि पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप का उदहारण लिया जाए तो अपने शासन काल में उनके द्वारा छः मुस्लिम देशो के नागरिकों की आवाजाही पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था उनके इस निर्णय ने विश्व समुदाय में इस्लामोफोबिया को बढाने में योगदान दिया। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान ट्रम्प द्वारा विभिन्न मीडिया मंचों के माध्यम से सिर्फ अपने पक्ष को ही जनता के समक्ष पहुचाया गया व अन्य पक्ष के विचारों को जनता के समक्ष तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत किया गया। शीतयुद्ध के दौरान दोनों ही महाशक्तियों द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध इस पद्धति का प्रयोग कलात्मक ढंग से किया गया था। यदि इजराइल और फिलिस्तीन की बात की जाए तो दोनों ही राज्य वैश्विक स्तर पर एक दूसरे के विरुद्ध और साथ ही विश्व स्तर पर सहानुभूति प्राप्त करने के लिए हमेशा से प्रचार जैसे साधन का प्रयोग करते थे व यह प्रक्रिया आज भी जारी है।

ध्यान आकर्षित करने की विधि:

अपने उद्देश्यों को निर्धारित करने के बाद प्रचारक उनके प्रति सम्बद्ध देशों के लोगों का ध्यान आकर्षित करता है। इसके लिए कई साधन अपनाये जाते हैं- दूसरे देश की सरकार के लिए समय-समय पर नोट्स,पत्र,विरोध पत्र आदि भेजे जाते थे। कभी-कभी राष्ट्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन भी करता है, सेनाओं की परेडों आदि से भी दूसरे देशों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। विभिन्न देशों के दूतावास सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करके अपने देश की संस्कृति,साहित्य, कला, रीति-रिवाज आदि से भी विदेशियों को परिचित करवाते हैं। आजकल शासनाध्यक्षों एवं अन्य नेताओं की यात्राओं का भी इन्ही कारणों से प्रयोग किया जाता है। इन सद्भावना यात्राओं द्वारा राष्ट्रों को दुसरे देशों में अपनी नीति के प्रचार के लिए अच्छा अवसर प्राप्त हो जाता है। राष्ट्रों के पास अनुकूल ध्यान आकर्षित करने के लिए बहुत से संसाधन मौजूद होते है जिनका प्रयोग सभी राष्ट्र अपने हितों को साधने के लिए करते रहते हैं।

प्रत्युत्तर प्राप्त करने की विधि:

प्रचारकर्ता द्वारा लोगों की देशभक्ति,आत्मरक्षा एवं न्यायप्रियता आदि भावनाओं को प्रभावित करके अपनी इच्छानुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। इसके लिए निम्नलिखित विधियाँ अपनायी जाती हैं:

- प्रचारक लोगों के गर्व, प्रतिष्ठा, आकाँक्षाओं तथा भावनाओं को उत्तेजित करते हैं जिनके द्वारा सम्बंधित समुदायों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है।
- नए नारों का निर्माण करते हैं जिससे लोगों में अनुकूल चेतना जागृत हो जाती है, जैसे "स्वतंत्रता,समानता और भ्रातृत्व", "राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार", "जनतंत्र खतरे में है" आदि नारे विश्व राजनीति में प्रचलित रहे हैं।
- प्रतीकों का प्रयोग; जैसे राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गीत आदि को काम में लेना. राष्ट्र के प्रतीकों का काम कभी-कभी राष्ट्रीय नेताओं और सामाजिक चिन्ह् से भी किया जाता है। इतिहास में सबसे प्रभावशाली प्रतीक की भूमिका नाजी जर्मनी में "स्वास्तिक" ने की। यह हिटलर के उद्देश्यों, आकाँक्षाओं और अभिलाषाओं का द्योतक था तथा जर्मन व्यक्ति बड़ी श्रद्धा और भक्ति-भाव से इस प्रतीक की पूजा किया करते थे।

स्वीकृति प्राप्त करने की विधि:

प्रचारक द्वारा ऐसे प्रयत्न किये जाते हैं जिनके द्वारा दुसरे देश उसकी नीतियों को स्वीकृति प्रदान करें। प्रचारक जिस समुदाय को प्रभावित करना चाहता है वह यह प्रयत्न करता है कि वह समुदाय उसे स्वीकार कर ले। प्रचारक और समुदाय में पूर्ण तादाम्य स्थापित हो जाए। कभी-कभी लोक धर्म, जाति,विचारधारा का सहारा लेकर प्रचार-उद्देश्य समुदाय को अपनी ओर मिलाते हैं। हिटलर ने पश्चिमी देशों के जर्मन विरोध को कुंठित करने के लिए साम्यवादी खतरे का नारा बुलंद किया था। ऑस्ट्रिया आदि को अपने अधिपत्य में करने के लिए हिटलर ने "जर्मन जाति" से उन्हें अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। जापान ने पश्चिमी देशों के विरुद्ध एशिया के लोगों का समर्थन प्राप्त कने के लिए "एशिया एशियावासियों के लिए" का नारा लगाया था।

11.8 प्रभावशाली प्रचार की विशेषताएं एवं नियम

प्रभावशाली प्रचार की विशेषताएं निम्नलिखित हैं:

- ❖ प्रचार के प्रभावशाली होने के लिए उसमे निरंतरता पायी जानी चाहिए. वे राज्य जिनके प्रचार का आधार नित्य बदलता रहता है, उनकी बात को गम्भीरता से नहीं लिया जाता है।
- ❖ प्रचार में सादगी होनी चाहिए। प्रचार के नारे सरल,सुगम और बोधगम्य होने चाहिए. प्रचार ऐसा होना चाहिए जो औसत व्यक्ति की समझ में आ सके।
- ❖ प्रचार सुरुचिपूर्ण होना चाहिए। प्रचार उस समय तक प्रभावहीन रहता है जब तक कि वह सुनने वालों को आकर्षक न लगे।

- ❖ प्रचार विश्वसनीय होना चाहिए। छोटे स्तर पर झूठ का कम प्रयोग होना चाहिए और यदि कोई बड़ा झूठ बोला जाए तो उसे बार-बार दोहराया जाना चाहिए।
- ❖ प्रचार के लिए ऐसे नारों और समस्याओं को अपनाना चाहिए जिनमे साधारण व्यक्ति दिलचस्पी ले सके। जैसे साम्राज्यवादी व पूंजीवादी विरोध का प्रचार उस देश में किया जाना चाहिए, जहाँ निवासी इसे देख चुके हों।

प्रचार हमेशा से राष्ट्रीय हित का प्रमुख साधन रहा है चाहे बात राष्ट्रीय स्तर की हो या अंतराष्ट्रीय स्तर की। समस्त देश प्रचार की विभिन्न तकनीकों का प्रयोग अपने हित के अनुसार करते हैं तथा लगातार नकारात्मक तरीकों में भी इनका प्रयोग बढता जा रहा है। शीतयुद्ध के दौरान दोनों ही महाशक्तियों ने एक दूसरे के खिलाफ अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए प्रचार मशीनरी का प्रयोग किया। अमेरिका ने सोवियत संघ की पहचान एक **"दुष्ट साम्राज्य"** के रूप में की। पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति **जोर्ज बुश** द्वारा सोवियत संघ के विघटन के पश्चात लीबिया,इराक,ईरान और उत्तरी कोरिया के लिए **"बुराई की धुरी"** शब्द का प्रयोग किया गया था। 9/11 के हमले के बाद अमेरिका द्वारा ओसामा बिन लादेन और इराक को संभावित खतरे के रूप में मानवता का विनाशक और सामूहिक विनाशक की उपाधि दी गए। इन सभी मामलों में, इतिहास के विभिन्न कालों में अमेरिका द्वारा विभिन्न प्रचार तंत्रों का जिनमे- प्रेस, मीडिया, टेलीविज़न और वेबसाइट का प्रयोग बड़े पैमाने पर प्रचार करने के लिए **"कथित दुश्मनों"** के खिलाफ अभियान चलाया।

11.9 प्रचार और सर्वाधिकारवादी राज्य

सर्वाधिकारवादी राज्यों में प्रचार का विशेष महत्व है। 1905 में लेनिन ने कहा था कि साम्यवादी दल की विजय के लिए प्रचार महत्वपूर्ण हथियार है। प्रचार के विभिन्न तरीकों के विकास के लिए सोवियत नेताओं की विशेष अभिरुचि रही। साम्यवादियों की प्रचार की अपनी अलग ही भाषा रही। साम्यवादी "बुर्जुआ लोकतंत्र", "दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ", आदि नारों का प्रयोग करते। वे लाल सितारा, हथौड़ा, हंसिया आदि प्रतीकों का प्रयोग करते हैं। साम्यवादी प्रचार का क्षेत्र मुख्य रूप से अविकसित देशों को बनाया जाता है। सोवियत संघ यह सिद्ध करने की कोशिश करता था कि अमेरिका द्वारा विभिन्न देशों को दी जाने वाली सैनिक और आर्थिक सहायता साम्राज्यवाद का ही दूसरा रूप है। 1945-47 के काल में सोवियत प्रचार का उद्देश्य जनवादी लोकतंत्र की स्थापना करना रहा है। 1949 में सोवियत संघ ने शांति अभियान शुरू किया। प्रचार द्वारा सोवियत जनता एवं विश्व के लोगों को यह बताने का भरसक प्रयत्न किया गया कि सोवियत रूस अपनी पूरी शक्ति से शांति स्थापित करने के लिए तत्पर है तथा आणविक शास्त्रों को मिटाकर वह निशस्त्रीकरण करना चाहता है।

नाजी जर्मनी में हिटलर ने प्रचार के राष्ट्रीय मंत्रालय की स्थापना की। एक ही प्रकार के लोकमत की स्थापना के लिए संस्कृति के राष्ट्रीय मंडल की स्थापना की गयी थी। नाजियों के प्रसिद्ध नारे थे "हेल हिटलर", "शासक जाति", "एक राज्य,एक नेता और एक लोग।"

फासीवादी इटली में मुसोलिनी का प्रचारतंत्र हिटलर से भी अधिक पुराना और संगठित था। उसने इटली को रोमन साम्राज्य के रूप में दर्शाया, एड्रियाटिक समुद्र को इटली की झील और मेडीटेरेनियन को इटली के समुद्र के रूप में प्रदर्शित किया। लोगों को प्रेरित एवं उत्तेजित करने के लिए नारों का प्रयोग किया एवं प्रतीकों का सहारा लिया।

11.10 प्रचार और राजनीतिक युद्ध

प्रचार राजनीतिक युद्ध नहीं है। प्रचार राजनीतिक युद्ध का एक उपकरण है। राजनीतिक युद्ध के संचालन में प्रचार-साधनों का अनवरत प्रयोग होता है। सामान्य प्रचार को हम राजनीतिक युद्ध की संज्ञा नहीं देते, लेकिन प्रचार का उद्देश्य यदि विरोधी राज्य को निर्बल बनाना, डरना या धमकाना अथवा अपनी नीति मनवाने के लिए विवश करना है तो वह राजनीतिक युद्ध का अंग बन जाता है। प्रचार को राजनीतिक युद्ध की परिधि में तभी लिया जा सकता है जबकि उसका उद्देश्य विवशकारिता हो।

राजनीतिक युद्ध अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक राष्ट्र के लिए उपलब्ध युद्ध के सभी साधनों का उपयोग करता है। राजनीतिक युद्ध का सबसे अच्छा उपकरण "प्रभावी नीति को बलपूर्वक समझाया गया", या अधिक प्रत्यक्ष रूप से, "अप्रत्यक्ष नीति बलपूर्वक समर्थित है।" लेकिन राजनीतिक युद्ध का प्रयोग तब किया जाता है जब "जनसंपर्क बयान और सौम्य, सार्वजानिक कूटनीति, शैली अनुनयन, साफ्ट पावर की नीतियां आवश्यक कार्यों को जीतने में विफल हो जाती हैं।" राजनीतिक युद्ध का प्रमुख तरीका प्रचार के माध्यम से होता है।

11.11 प्रचार एवं कूटनीति

कूटनीति के साधनों में प्रचार एक महत्वपूर्ण साधन है। प्रचार के माध्यम से मित्रराष्ट्रों के प्रति सद्भावनाएं व्यक्त करने और उनमे वृद्धि करने तथा शत्रु राज्यों के प्रति विष उगलने में सुविधा रहती है। प्रचार द्वारा विरोधी पक्ष को अन्तराष्ट्रीय मंच पर बदनाम किया जाता है। प्रचार की सहायता से किसी राज्य के साथ संधि के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार किया जाता है तथा संधि को प्रभावी बनाने के लिए स्वदेश और विदेश में लोकमत तैयार किया जाता है। प्रत्येक देश की विदेश नीति का यह मुख्य लक्ष्य रहता है कि विरोधियों के विचारों को परिवर्तित कर अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल बनाया जाए. प्रचार के माध्यम से एक राज्य अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल विशवास पैदा करने, नैतिक मूल्यों का विकास करने, भावात्मक प्राथमिकताओं को उभारने तथा लोगों के मस्तिष्कों को बदलने का प्रयास करता है। प्रचार के माध्यम से विदेश नीति के लक्ष्यों को परिभाषित किया जाता है।

11.12 सारांश

राष्ट्रीय हित के साधन के रूप में युद्ध और प्रचार आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति के दो ऐसे प्रमुख तत्व हैं, जिनके माध्यम से राष्ट्र अपने अस्तित्व, सुरक्षा और प्रभाव को बनाए रखने का प्रयास करते हैं। कोई भी राज्य अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में केवल आदर्शों के सहारे कार्य नहीं करता, बल्कि अपनी नीतियों और कार्यों को राष्ट्रीय हितों के अनुरूप संचालित करता है। इस संदर्भ में युद्ध और प्रचार दोनों को यथार्थवादी दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

युद्ध राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का एक कठोर लेकिन निर्णायक साधन माना जाता है। जब कूटनीति, संवाद और शांतिपूर्ण उपाय विफल हो जाते हैं, तब राज्य अपनी सुरक्षा, संप्रभुता, क्षेत्रीय अखंडता और शक्ति-संतुलन की रक्षा के लिए युद्ध का सहारा लेते हैं। युद्ध के माध्यम से राज्य न केवल अपने अस्तित्व की रक्षा करता है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी स्थिति और प्रभाव को भी पुनर्परिभाषित करता है। इतिहास और समकालीन राजनीति में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि युद्ध ने शक्ति-संतुलन, सीमाओं और वैश्विक राजनीति की दिशा को बार-बार बदला है।

वहीं दूसरी ओर, प्रचार राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति का एक सूक्ष्म किंतु अत्यंत प्रभावशाली साधन है। आधुनिक युग में बिना व्यापक जनसमर्थन और अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति के कोई भी युद्ध या विदेश नीति सफल नहीं हो सकती। प्रचार के माध्यम से राष्ट्र अपनी नीतियों, युद्धों और कूटनीतिक निर्णयों को न्यायसंगत तथा आवश्यक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। 21वीं शताब्दी में संचार तकनीक, मीडिया और डिजिटल माध्यमों के विकास ने प्रचार की भूमिका को और अधिक सशक्त बना दिया है, जिससे राष्ट्र घरेलू और वैश्विक दोनों स्तरों पर जनमत को प्रभावित करने में सक्षम हुए हैं।

इस प्रकार, युद्ध और प्रचार एक-दूसरे के पूरक साधन के रूप में कार्य करते हैं। युद्ध जहाँ शक्ति का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है, वहीं प्रचार उस शक्ति को वैधता और स्वीकार्यता प्रदान करता है। दोनों मिलकर राष्ट्रीय हितों की रक्षा, विस्तार और स्थायित्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

11.13 अभ्यास प्रश्न

1. यह किसका कथन है कि, "प्रचार का रूप चाहे कुछ भी हो अथवा इसमें किसी भी तकनीकी को अपनाया गया हो, इसका मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति ही होती है।"-

(A). मोर्गेंथाऊ (B) पेडलफोर्ड तथा लिंकन (C) जोसेफ नाई (D) रिचर्ड स्नाइडर

2. निम्नलिखित में से कौन प्रचार की पद्धति में शामिल नहीं है?

(A) प्रस्तुत करने की विधि (B) ध्यान आकर्षित करने की विधि

(C) अनुक्रिया प्राप्त करने की युक्ति (D) बल प्रयोग

3. "प्रचार राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में अधिकाधिक आवश्यक होता जा रहा है क्यूंकि इससे राज्य में संगठित लोकमत तैयार होता है और विदेशो में अपने हितों की वृद्धि होती है" यह कथन दिया गया है-

(A) पामर एवं पार्किंस (B) पेडलफोर्ड तथा लिंकन (C) जोसेफ फ्रैंकल (D) हेरल्ड लासवेल

4. राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन के रूप में युद्ध को किस दृष्टिकोण में सर्वाधिक महत्व दिया गया है?
(A.) आदर्शवादी दृष्टिकोण (B) उदारवादी दृष्टिकोण (C) यथार्थवादी दृष्टिकोण (D) व्यवहारवादी दृष्टिकोण

5.“युद्ध राजनीति का ही एक अन्य साधन है”—यह कथन किस विचारक से संबंधित है? (A) हैंस मौर्गेन्थाऊ (B) जॉर्ज केनन (C) क्लॉजविट्ज़ (D) रूसो

11.14 शब्दावली

1. कूटनीति – कूटनीति राज्यों का प्रतिनिधित्व तथा समझौता करने की कला है।

2. सॉफ्ट पावर – सॉफ्ट पॉवर (मृदु शक्ति) में अपील और आकर्षण के माध्यम से दूसरों की प्राथमिकताओं को आकार देना शामिल है।

3. इस्लामोफोबिया – इस्लामोफोबिया सामान्य रूप से इस्लाम या मुसलमानों के धर्म के प्रति भय, घृणा या पूर्वाग्रह है।

4. सर्वाधिकारवादी राज्य – वह राज्य होता है जो राज्य की शक्ति को एक ही जगह में केन्द्रित करने में विश्वास करता है।

11.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(1. B (2. D (3. A (4.C (5.C

11.16 सन्दर्भ-सूची

1. Willert, Arthur 2016, “Publicity and Propaganda in International Affairs”, Royal Institute of International Affairs.
2. Baylis John; Steve Smith 2004, “The Globalization of World Politics An Introduction to International Relations”, Oxford University Press.
3. Basu, Rumki, 2012, “International Politics Concept, Theories and Issues”, Sage Publication India Pvt. Ltd.
4. फडिया, बी.एल., 2010, “अन्तराष्ट्रीय राजनीति:सिद्धांत एवं समकालीन राजनीतिक मुद्दे”, साहित्य भवन पब्लिकेशन,इलाहबाद.
5. घई,यू.आर., 2007 “अन्तराष्ट्रीय राजनीति सिद्धांत एवं व्यवहार”, न्यू अकेडमिक पब्लिशिंग कंपनी,जालंधर.

11.17 निबंधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय हित के साधन प्रचार का अर्थ बताते हुए उसके उद्देश्यों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करें।

2. समकालीन अंतराष्ट्रीय संबंधों में प्रचार के महत्व पर प्रकाश डालें।

3. प्रचार के विभिन्न पद्धतियों एवं तकनीकों की व्याख्या करे।

4. राष्ट्रीय हित की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए युद्ध को उसकी अभिवृद्धि के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में विवेचित कीजिए। उपयुक्त विचारकों के मतों एवं उदाहरणों के साथ उत्तर दीजिए।

5. युद्ध के उद्देश्यों, स्वरूपों एवं प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। यह स्पष्ट कीजिए कि युद्ध किस प्रकार राज्य की सुरक्षा और शक्ति-संतुलन से जुड़ा होता है।

इकाई 12- शक्ति संतुलन

इकाई की संरचना

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 शक्ति सन्तुलन: अर्थ
12.4 शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास
12.5 नयी शक्तियों का उदय और बदला शक्ति सन्तुलन
12.6 शीत युद्ध के दौर में शक्ति सन्तुलन
12.7 शीत युद्ध का अंत तथा शक्ति सन्तुलन का अवमूल्यन
12.8 विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन
12.9 शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के साधन
12.9.1 क्षतिपूर्ति
12.9.2 हस्तक्षेप
12.9.3 मध्यवर्ती राज्य
12.9.4 शस्त्रीकरण
12.9.5 विभाजन तथा शासन
12.9.6 मैत्री सन्धियाँ
12.10 शक्ति सन्तुलन का मूल्यांकन
12.10.1 समूहिक सुरक्षा
12.10.2 मुलभूत सिद्धांत
12.10.3 मूलभूत समस्याएं
12.10.4 असफलता के कारण
12.11 सारांश
12.12 शब्दावली
12.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.14 संदर्भ ग्रन्थ
12.15 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.16 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

शक्ति सन्तुलन (Balance of Power) का सिद्धान्त शक्ति और शक्ति-संघर्ष की अवधारणा के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसके मूल में यह निहित है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय किसी भी एक शक्ति को दूसरे से इतना अधिक शक्तिशाली नहीं बनने दिया जा सकता कि वह उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके या तमाम अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम को अपनी इच्छानुसार एकाधिकारी ढंग से प्रभावित करने की क्षमता उसे हासिल हो जाए। जिस शक्ति-संतुलन की बात अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में की जाती है वह वास्तव में यूरोपीय इतिहास की पृष्ठभूमि में ही अच्छी तरह समझी जा सकती है। शक्ति सन्तुलन पिछली चार शताब्दियों से यूरोप तथा अन्तर्राष्ट्रीय

राजनीति में बड़ी भूमिका अदा करता रहा है। अतः इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का एक मौलिक सिद्धान्त तथा राजनीति का एक आधारभूत नियम माना जाता है। शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राज्यों को सदैव प्रयत्नशील रहना पड़ता है। शक्ति सन्तुलन किसी विशिष्ट राजनीतिक व्यवस्था का आवश्यक लक्षण नहीं है लोकतांत्रिक और सर्वाधिकारवादी दोनों प्रकार के राज्य इसका प्रयोग कर सकते है। शक्ति सन्तुलन के खेल में केवल बड़े राष्ट्र ही खिलाड़ी होते है छोटे राष्ट्र इसका शिकार बनते है अथवा दर्शक के रूप में रहते है। शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति, एक प्रक्रिया, एक नीति और व्यवस्था के रूप में चित्रित किया जा सकता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि वर्त्तमान समय में शक्ति सन्तुलन के लिए आवश्यक दशाएँ नहीं है अतः शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त वर्त्तमान समय में लागू नहीं हो सकता। दूसरी ओर कुछ विचारक शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त को आज भी सार्थक मानते है। उनका कहना है कि शक्ति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिए शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त अनिवार्य है। माँरगेन्थाऊ का कथन है कि ''शक्ति सन्तुलन और उसे बनाए रखने का उद्देश्य लेकर चलने वाली नीतियाँ केवल अपरिहार्य ही नहीं है, बल्कि प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के समाज के अपेक्षित्व स्थायित्व लाने वाले तत्व है।''

इस प्रकार शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह सच है कि विश्व की राजनीतिक स्थिति में बदलाव के कारण इस सिद्धान्त को कमतर करके आका जाता है। परन्तु फिर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारभूत सिद्धान्त है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना महत्व है।

12.2 उद्देश्य

शक्ति सन्तुलन व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य शान्ति तथा सुरक्षा कायम रखना है। इस व्यवस्था के द्वारा शान्ति को स्थायित्व प्रदान किया जाता है। शक्ति सन्तुलन में छोटे राज्यों का उद्देश्य होता है कि उनकी स्वाधीनता की सुरक्षा बनी रही। शक्ति संतुलन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व को कायम रखा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्रियान्वयन शक्ति संतुलन पर ही आधारित है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन का उद्देश्य है शक्तियों का समान वितरण। यह इस मान्यता पर आधारित है कि शक्ति सन्तुलन की उपेक्षा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्व की उपेक्षा प्रकट होती है। शक्ति सन्तुलन का उद्देश्य होता है कि राज्यों के व्यवहार को इस प्रकार नियमित करने का प्रयास किया जाए कि आक्रमण तथा विस्तावाद को असंभव बना दिया जाए।

12.3 शक्ति सन्तुलन: अर्थ

शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करना बड़ा कठिन है। ''रिचार्ड कॉब्डेन'' (Richard Cobden) के शब्दों में ''शक्ति सन्तुलन एक विचित्र उलझन भरा शब्द है, जो केवल भ्रमात्मक मिथ्या सत्य ही नहीं वरन् ऐसी अव्यक्त व्यवस्था का परिचायक है जिसकी कभी स्थापना नहीं की जा सकती।''

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के परिपेक्ष्य में शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच कम से कम स्थूल सन्तुलन कायम होना। ''श्लीचर'' के शब्दों में ''शक्ति सन्तुलन व्यक्तियों तथा समुदायों की सापेक्ष शक्ति की ओर संकेत करता है।'' ''क्लाँड'' के अनुसार ''शक्ति सन्तुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्र अपने आपसी शक्ति सम्बन्धों को बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के स्वतन्त्रतापूर्वक संचालित करते है। इस प्रकार यह एक विकेन्द्रित व्यवस्था है जिसमें शक्ति व नीति निर्णायक इकाइयों के हाथों में ही रहती है। ''कॉल्डेन'' के अनुसार ''एक राष्ट्र को स्वयं अपनी तथा अपने पड़ोसी राष्ट्रों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन की स्थापना करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। स्वतन्त्रता, शन्ति, स्थिरता तथा सार्वजनिक सुरक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन आवश्यक है, क्योंकि एक निश्चित सीमा के बाद एक राज्य की बढ़ती हुई शक्ति अन्य सभी राज्यों को

प्रभावित करने लगती है। इतना ही नहीं, एक राज्य का अत्यधिक शक्तिशाली होने का अर्थ है अन्य राज्यों का विनाश और पराजय। पड़ोसी राष्ट्रों में स्थिरता और शान्ति स्थापित करने का केवल एक ही उपाय है कि सब राष्ट्रों की शक्ति करीब-करीब समान और तुल्य ही रहे।'' ''डिकिंसन'' के मतानुसार सन्तुलन शब्द का प्रयोग समानता और असमानता दोनों ही अर्थों में किया जाता है। लेखा सन्तुलन का अर्थ होते है समानता, लेकिन जब सन्तुलन किसी एक के हित में हो तो इसका अर्थ होता है असमानता। शक्ति सन्तुलन का सिद्धान्त प्रथम अर्थ का दावा करता है किन्तु दूसरे के लिए प्रयत्नशील रहता है।

एक अन्य विद्वान ''जॉन स्पिकमैन'' ने इसका सुन्दर विश्लेषण करते हुए कहा है कि ''राज्यों को केवल इस बात में दिलचस्पी होती है कि तुला का पलड़ा अपने पक्ष में झुका हुआ हो, क्योंकि अपने सम्भावित शत्रु के मुकाबले उस जैसा शक्तिशाली होने में कोई वास्तविक सुरक्षा नहीं है। सुरक्षा केवल इस बात में निहित है कि आप अपने शत्रु से अधिक शक्तिशाली हो।'' यह तथ्य इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि 1914 के प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यूरोप के राज्य दो गुटों में बंटे हुए थे एक गुट फ्रांस, ब्रिटेन और रूस का था और दूसरा गुट जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी तथा टर्की के राज्य का। इन दोनों की शक्ति लगभग सन्तुलित थी और दोनों पक्ष इस प्रयत्न में थे कि वे इस सन्तुलन को किस प्रकार अपने पक्ष में करें। इटली युद्ध छिड़ने पर काफी समय तक किसी पक्ष के साथ खुल्लमखुल्ला सम्मिलित होने में हिचकिचाता रहा, यद्यपि उसने जर्मनी के साथ गुप्त संधि की हुई थी। युद्ध में मित्र राष्ट्रों का पलड़ा भारी होने पर वह उनकी ओर से लड़ाई में सम्मिलित हुआ।

उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने पर हम पाते है कि शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति, एक प्रक्रिया, एक नीति और व्यवस्था के रूप में चित्रित किया जा सकता है शक्ति सन्तुलन विशिष्ट स्थिति का द्योतक है जिसमें शक्ति संबंध लगभग बराबरी के आधार पर होता है। कैनेथ टॉमसन, माँरगेन्थाऊ, चर्चिल आदि ने शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त को विदेश नीति के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया है। वे यह मानते है कि सन्तुलन शक्ति खरतनाक होती है। विदेश नीति की दृष्टि से राष्ट्र उसी समय शक्ति सन्तुलन की अवधारणा स्वीकार करते है जबकि वे अन्य राज्यों की तुलना में प्रबल हों। चर्चिल ने शक्ति सन्तुलन को ब्रिटिश विदेश नीति की अद्भुत परम्परा बताया था। मार्टिन वाइट, ए.जे.पी. टेलर, चार्ल्स लर्च आदि शक्ति सन्तुलन को एक पद्धति मानते है। आधुनिक विश्व में जहाँ बहुत सारे राज्य है, शक्ति सन्तुलन द्वारा एक व्यवस्था स्थापित की जा सकती है।

हाँन्स जे. माँरगेन्थाऊ ने शक्ति के चार अर्थ बताए हैं -

1. राज्यों में शक्ति के वितरण पर जोर देने वाली नीति।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी स्वरूप का चित्रण करने वाला सिद्धान्त।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति का समान वितरण।
4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक शक्ति वितरण को प्रकट करने वाली शब्दावली।

इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता है। यह इस मान्यता पर आधारित होता है कि शक्ति सन्तुलन की उपेक्षा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्व की उपेक्षा प्रकट होती है।

12.4 शक्ति सन्तुलन के सद्धान्त का ऐतिहा सक वकास

जहाँ कही राज्य व्यवस्था की बहुल प्रणाली विद्यमान रहती है, शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का अस्तित्व रहता है। प्राचीन समय में भी इस सिद्धान्त का प्रयोग होता था, विशेष रूप से यूनान के नगर राज्यों की व्यवस्था में तथा मिस्त्र, बेबीलोन, भारत तथा चीन की राज्य प्रणाली में। ''डेविड ह्यूम ने अपने एक निबंध ''ऑफ द बायलेन्स ऑफ पावर'' में इसे ए प्रेवेंलिग नेशन ऑफ एनसियन्ट टॉइम'' कहा है। भारत के भी शासक शक्ति सन्तुलन, सिद्धान्त का व्यवहार करते रहते थे। ''कौटिल्य' के ''मण्डल सिद्धान्त'' में शक्ति सन्तुलन की धारणा के बीज निहित है।

शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की वास्तविक शुरूआत 15वीं शताब्दी से होती है। इटली के राज्यों की राजनीति के परिचालन में इस सिद्धान्त का प्रयोग होता रहा है। 'मैकियावेली'' के ''प्रिंस'' में इस ओर संकेत किया गया है। वेनिस नाम के नगर राज्य तो सन्तुलनकर्ता की भूमिका का निर्वाह भी करने लगा था। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस और हैप्सबर्ग के बीच अधिभावी शक्ति सन्तुलन चलता था। इंग्लैण्ड ने शक्ति सन्तुलन की कूटनीति का आश्रय लिया और उसने फ्रांस एवं रोमन राज्य के मध्य सन्तुलन बनाए रखने का प्रयत्न किया। सन् 1648 की वेस्टफेलिया की सन्धि ने राष्ट्रीय-राज्य की स्थापना की और शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की भूमिका और अधिक सार्थक दिखाई देने लगी। 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तरी यूरोप में एक पृथक शक्ति सन्तुलन का विकास स्वीडन की शक्ति के द्वारा बाल्टिक सागर के निकटवर्ती राष्ट्रों को दी गयी एक चुनौती से हुआ। 18वीं शताब्दी का काल खासतौर से 1713 की यूट्रैक्ट की सन्धि से पोलैण्ड के प्रथम विभाजन (1772) तक का समय शक्ति सन्तुलन अवधारणा के विकास का स्वर्ण युग माना जाता है।

18वीं शताब्दी के अंतिम चरण में और 19वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर पाँच राज्य ऐसे थे जो बड़ी शक्ति के रूप में पहचाने जाते थे। इनमें से पहला ग्रेट ब्रिटेन था जो अकार और जनसंख्या की दृष्टि से अन्य बड़ी ताकतों से बहुत छोटा था पर औद्योगीकरण के युग का सूत्रपात करने के कारण और अपने एशियाई साम्राज्य के संसाधनों के स्वामित्व के कारण, उनसे कही अधिक ताकतवर और प्रभावशाली बन गया था। जब से सर फ्रांसिस ड्रेक ने स्पेन की नौसेना को जबर्दस्त शिकस्त दी थी, तब से ब्रिटेन की नौसेना को चुनौती देने वाला कोई नहीं बचा था। दूसरी बड़ी ताकत फ्रांस था, नेपोलियन के शासनकाल में कई बार ऐसा लगता कि वह ब्रिटेन को पीछे धकेल अव्वल बन बैठेगा परन्तु नेपोलियन की हार के बाद फ्रांस राजनैतिक उथल-पुथल के दौर से गुजरता रहा और ब्रिटेन को चुनौती देना उसके लिए सहज-संभव नहीं रहा। तीसरी बड़ी शक्ति प्रशा था। प्रशा के सम्राट सैनिक दृष्टि से ताकतवर थे, पर अनेक सूबों के स्थानीय शासक अपनी अलग सांस्कृतिक-आर्थिक पहचान बनाये हुए थे। यूरोप में उन्हें पहले दर्जे की ताकत मानने वाले कम थे। उनका प्रभुत्व ज्यादा से ज्यादा आस्ट्रिया-हंगरी वाले प्रतिद्वंद्वी सम्राज्य तक ही सीमित रहता था। चौथी बड़ी शक्ति आस्ट्रिया-हंगरी था। यह एक बहुराष्ट्रीय राज्य था जिसकी एकता का एकमात्र सूत्र हैप्सवर्ग राजवंश था। पाँचवी बड़ी शक्ति रूस था। रूस का फैलाव किसी भी दूसरी शक्ति से कही ज्यादा था, परन्तु उसका आकार ही उसे यूरोप में सक्रिय हस्तक्षेप से रोकता था। उसकी पहचान एक यूरेशियाई ताकत के रूप में थी जो दूसरे यूरोपीय देशों से कहीं अधिक पिछड़ा और दकियानूस था। उसे अन्य बड़ी शक्तियाँ अपने संयुक्त सैनिक मोर्चे को ताकतवर, अजेय बनाने के लिए ही गाढ़े वक्त में बुलाती थी, अन्यथा उसे उसी के हाल पर छोड़ दिया जाता था। रूस को भी इसमें ज्यादा एतराज नहीं था। जब नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया इसके बाद से यूरोप के अन्य बड़ी ताकतों ने इसी में अपना भला समझा कि यूरोपीय शक्ति सन्तुलन में जोड़-तोड़ करते वक्त, रूस को औरों के बराबर नहीं समझा जाए।

12.5 नयी शक्तियों का उदय और बदला शक्ति सन्तुलन

यह समझना गलत होगा कि शक्ति सन्तुलन बुनियादी तौर से बदलता नहीं था। जिन दो बातों ने स्थिति को आमूल-चूल बदल डाला था, उनमें रूस में बोल्शेविक क्रान्ति और इसके पहले जापान का एक ताकतवर सैनिक शक्ति के रूप में उदय था। प्रथम विश्वयुद्ध में बहुत बड़े पैमाने पर नरसंहार हुआ था और सैनिकों के साथ-साथ निर्दोष नागरिकों को भी हताहत होना पड़ा था। सबसे ज्यादा तबाही फ्रांस और जर्मनी को झेलनी पड़ी थी इसी कारण इन दो देशों के बीच कड़वाहट बहुत ज्यादा बढ़ गई। पारम्परिक रूप से यूरोप के नेतृत्व के लिए प्रतिस्पर्धी इन दो देशों का बैर काफी खतरनाक बन गया था। जर्मनी पर वर्षाय की संधि थोपा गया यह तमाम परिस्थिति नाजी पार्टी के उत्थान में सहायक

सिद्ध हुई। जर्मनी 1919 से 1936-37 तक इस स्थिति में नहीं था कि उसे दूसरी बड़ी ताकते बराबरी का दर्जा दे, शक्ति सन्तुलन को नियंत्रित करने के लिए अपने साथ रख सकें। फ्रांस भले ही जीतने वाले पक्ष के साथ था, परन्तु उसकी अर्थव्यवस्था ध्वस्त हो चुकी थी और वह भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बड़ी शक्ति समझे जाने लायक नहीं रही थी। रूस, सोवियत संघ में बदल चुका था, और वह अपनी सीमाओं के भीतर ही नई साम्यवादी व्यवस्था को सुरक्षित रखने को आतुर था। इसी क्रान्ति के कारण प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान नई सोवियत सरकार ने जर्मनी के साथ अलग सन्धि कर ली थी और शक्ति सन्तुलन की अवधारणा को खास जबर्दस्त धक्का लगा दिया था। रूस में इस क्रान्ति के पहले तभी से बदलाव दिखाई देने लगा था जब वह जापान से पराजित हुआ था। किसी एशियाई शक्ति के हाथों पराजित होने वाला वह पहला यूरोपीय देश है।

इस पराक्रम के बाद जापान की गिनती बड़ी शक्तियों में होने लगी थी और उसे भी यूरोपीय शक्ति सन्तुलन के संदर्भ में महत्वपूर्ण समझा जाने लगा था। वाशिंगटन के नौ-सैनिक सम्मेलनो में उसकी भूमिका खासी महत्वपूर्ण रही थी। दो विश्वयुद्धों के अंतराल में जो नया शक्ति संगठन उभर कर सामने आया वह 19वीं सदी के परस्पर विरोधी, प्रतिस्पर्धी सैनिक संगठनों से बहुत फर्क नहीं था। इसके साथ 20वीं सदी में एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों में मुक्ति संग्राम गतिशील हुए। यूरोप के प्रतिस्पर्धी देशों ने अपने प्रतिद्वंद्वी को कमजोर करने के लिए उसके प्रभुत्व वाले उपनिवेशों में स्वाधीनता संग्राम को प्रोत्साहन देन लगा। इस सब का नतीजा यह हुआ कि 1945 में युद्ध विराम तक पारम्परिक शक्ति सन्तुलन को फिर से स्थापित करना असंभव हो चुका था, विश्व पर द्वितीय विश्वयुद्ध का खतरा मंडराने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाश के कारण अब कोई भी यूरोपीय राष्ट्र वास्तव में ताकतवर नहीं रह गया था। एटमी हथियारों के प्रयोग ने शक्ति की परिभाषा ही बदल डाली थी। एटमी हथियारों के बिना अब कोई भी देश अपने को बड़ी शक्ति नहीं कह सकता था। अमरीका विश्व में नई शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। दूसरी ओर सोवियत संघ को भले ही युद्ध में भारी क्षति पहुँचा हो फिर भी वह दूसरी शक्ति के रूप में उभर कर आयी।

12.6 शीत युद्ध के दौर में शक्ति सन्तुलन

शीत युद्ध(cold war) के वर्षों में दो महाशक्तियों के बीच भले ही आतंक का सन्तुलन राजनयन के लिए निर्णायक महत्व का रहा हो, क्षेत्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में पारम्परिक शक्ति सन्तुलन और कुछ दशक तक प्रभावशाली रहा। प्रारम्भिक वर्षों में पूंजीवादी पश्चिम देश, अमेरिका और यूरोप साम्यवादी खेमे के सोवियत संघ और चीन को सन्तुलित करते रहे पर शीघ्र ही दोनों खेमों में सहयोगियों के बीच असंतोष की सुगबुगाहट देखने को मिलने लगी। जनरल द गॉल ने फ्रांस के ऐतिहासिक राष्ट्रीय गौरव का झंडा लहराते हुए अमेरिकी प्रभुत्व को चुनौती दी और सोवियत संघ तथा चीन के साथ अपने राष्ट्रीयहित को अलग से समायोजित करने की चेष्टा की। इन्हीं वर्षों में यूरोपियन साम्यवाद का उफान देखने में आया जिसमें स्तालिनवादी-लेनिनवादी रूसी अथवा माओवादी चीनी साम्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीय स्थापनाओं को नकारते हुए, यूरोपीय साम्यवादी विकल्प तलाशने की सार्थक केाशिश की गई थी। 1950 के मध्य से ही यह बात जगजाहिर हो चुकी थी कि पूर्वी यूरोप के अनेक साम्यवादी देश सोवियत संघ के उपग्रह या उपनिवेश बने रहने को तैयार नहीं। चीन में माओवादी साम्यवाद, सोवियत साम्यवाद से अलग सैद्धान्तिक स्थापनाएँ करता था। सोवियत चीन कलह ने भी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सन्तुलन को काफी प्रभावित किया। इस तमाम घटनाक्रम के कारण गुटनिरपेक्ष देशों को यह मौका मिला कि वे अपेक्षाकृत स्वायत्त स्वाधीन विदेश नीति का अनुसरण कर सके। इस पूरे दौर में शक्ति सन्तुलन खासा लचीला और निरन्तर परिवर्तनशील रहा।

12.7 शीत युद्ध का अंत तथा शक्ति सन्तुलन का अवमूल्यन

1970 के दशक के आरम्भ में अमेरिकी विदेश सचिव, हेनरी किसिंजर ने नए सिरे से 19वीं सदी के नमूने वाले शक्ति सन्तुलन को एक बार फिर स्थापित करने का प्रयत्न किया। किसिंजर ने एक साथ संयुक्त राज्य अमेरिका के संबंध तात्कालीन सोवियत संघ और माओवादी चीन के साथ सुधारने की सफल कोशिश की। इसी के साथ-साथ उन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया से अमेरिकी सेनाओं की वापसी का मार्ग प्रशस्त किया। मध्य पूर्व में किसिंजर के प्रयासों से ही कैंप - डेविड समझौता सम्पन्न हुआ। इन सभी घटनाओं ने महाशक्तियों के बीच तनाव घटाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और शक्ति सन्तुलन के बारे में फिर से सोचा जाने लगा। 1971 के तेल संकट और 1973 का अरब-इजराइली संघर्ष ने पश्चिमी देशों के गठबंधन में असुरक्षा का भाव बढ़ा दिया था। 19वीं सदी की तरह इस वक्त भी शक्ति सन्तुलन का आकर्षण सामूहिक सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण बन चुका था। परन्तु इस नए शक्ति सन्तुलन के स्थापित होने के पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य एक बार फिर नाटकीय ढंग से बदल गया। वाटर गेट कांड में फंसने के बाद निक्सन को पद त्याग करना पड़ा। चीन में माओ युग का अवसान होने लगा। सोवियत संघ के विघटन और विलय की प्रक्रिया ब्रेजनेव के देहांत के साथ ही शुरू हो गई थी। इस सब के कारण किसिंजर ने जिस शक्ति सन्तुलन की कल्पना की थी वह 1990 के दशक तक बिल्कुल ही निरर्थक लगने लगा था।

12.8 वचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन

माँरगेन्थाऊ ने शक्ति सन्तुलन की अवधारणा को एक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया है। माँरगेन्थाऊ के अनुसार शक्ति सन्तुलन उन राष्ट्रों की आत्मरक्षा की युक्ति है जिनकी स्वतन्त्रता एवं अस्तित्व को दूसरे राष्ट्रों की शक्ति में असंगत वृद्धि से भय है। शक्ति सन्तुलन का प्रयोग विशुद्ध रूप में आत्मरक्षण के स्पष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होता है। राष्ट्रों में व्याप्त शक्ति की प्रतिस्पर्द्धा सिद्धान्तों पर हावी हो जाता है। वे उन सिद्धान्तों को छिपाने, उनको युक्तियुक्त सिद्ध करने एवं स्वयं को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए उनको विचारधाराओं में रूपान्तरित कर देते है। साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक राष्ट्र ने बहुधा यही दावा किया है कि वह केवल साम्यावस्था चाहता है। राष्ट्रों की सापेक्ष शक्ति स्थितियों के सही मूल्यांकन की कठिनाइयें ने शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधाराओं में से एक बना दिया है। पश्चिम देशों में शक्ति सन्तुलन की बात वह करता है जोकि गैर-अमेरिकी राष्ट्रों की नीतियों द्वारा विक्षुब्ध हो सकता है। इसी प्रकार भूमध्य सागर में सन्तुलन की बात वह करता है जिसकी रूसी घुसपैठ से रक्षा होनी चाहिए। एक विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन का प्रयोग शक्ति सन्तुलन की यांत्रिकी में अन्तर्निहित कठिनाई पर जोर देता है। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन ऐसी वास्तविकता और क्रिया का प्रदर्शन करता है जो वास्तव में उसमें नहीं है। इसीलिए इसमें वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को बनावटी रूप देने युक्तिसंगत सिद्ध करने तथा न्यायसंगत ठहराने की प्रवृत्ति रहती है।

12.9 शक्ति सन्तुलन स्था पत करने के साधन

शक्ति सन्तुलन के लिए राज्य कौन-कौन से साधन अपनाते है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के समीक्षकों ने मोटे तौर से छः साधन बताए है जिनसे राष्ट्र शक्ति संतुलन अपने पक्ष में करने की कोशिश करते हैः

12.9.1 क्षतिपूर्ति (Compensation)

क्षतिपूर्ति या मुआवजे की नीति से अभिप्राय है कि एक राज्य को उतना दो जितना उससे ले लिया गया है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय तुल्यभारिता बनी रहे। युद्धों के पश्चात् शान्ति सन्धियों में इसी आधार पर राज्यों के क्षेत्रों में प्रदेशों का आदान-प्रदान होता है और सीमाओं में परिवर्तन किया जाता है कि राज्यों की तुलनात्मक शक्ति यथापूर्व बनी रहे।

सन् 1713 में यूट्रैक्टर सन्धि द्वारा प्रथम बार स्पेन द्वारा अधिकृत भूमि को बांटकर शक्ति सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश की गयी थी। इस प्रकार पोलैण्ड का तीन बार विभाजन 1772, 1793 तथा 1795 में किया गया और तीनों बार उसका बँटवारा इस प्रकार किया गया कि सन्तुलन कायम रहे। भू-भागों के वितरण में केवल क्षेत्रफल को ही ध्यान में नहीं रखा जाता वरन् उसकी उर्वरता, औद्योगिक क्षमता तथा साधनों की प्रचुरता का भी ध्यान रखा जाता है। माँरगेन्थाऊ के अनुसार ''राजनीतिक समझौते को जन्म देने वाली राजनयिक वार्ताओं की सौदेबाजी भी अपने सामान्यतम रूप का सिद्धान्त ही है और इस प्रकार वह शक्ति सन्तुलन का एक अंग है।''

12.9.2 हस्तक्षेप (Intervention)

कभी-कभी शक्तिशाली राज्य सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते है। एक देश शस्त्रीकरण, औद्योगीकरण एवं उत्पादन बढ़ाकर शान्तिप्रिय राज्य के स्थान पर आक्रामक राज्य बन सकता है जिसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पड़ता है। अतः ऐसी स्थिति में अन्य राज्य या तो मूक-दर्शक बना रह सकता है अथवा प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कर सकता है। 1648 में वेस्टफेलिया की सन्धि के बाद से यूरोप की राजनीति का यह मुख्य सिद्धान्त रहा है कि कोई भी राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति सम्पन्न न हो, सब राज्यों में शक्ति सन्तुलन बना रहे। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत ब्रिटेन ने जोर्डन में, अमरीका ने ग्वांटेमाला, क्यूबा, लेबनान, लाओस, कम्बोडिया और वियतनाम तथा सोवियत संघ ने उत्तरी कोरिया, पूर्वी जर्मनी, चकोस्लोवाकिया एवं अफगानिस्तान में हस्तक्षेप किया है। ये समस्त हस्तक्षेप यथापूर्व स्थिति को बनाए रखने अथवा शक्ति सन्तुलन को अपने पक्ष में मोड़ने के लिए किए गए। हस्तक्षेप की अन्तिम उग्र स्थिति युद्ध हेाता है। जबकि युद्ध के उपरान्त शक्ति सन्तुलन की स्थिति बदल जाती है।

12.9.3 मध्यवर्ती राज्य (Buffer State)

शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का तीसरा तरीका है मध्यवर्ती राज्य एक ऐसा तटस्थ बफर राज्य स्थापित किया जाए जो दुर्बल हो और दो बड़े गैर-मित्र देशों के बीच में स्थित हो। ऐसे मध्यवर्ती राज्यों का काम है दोनों बड़े अमित्र राष्ट्रों को अलग रखकर उनमें युद्ध छिड़ने की गुंजाइश कम करना। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रूस और जर्मनी के बीच पोलैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी के बीच बेल्जियम और हॉलैण्ड तथा भारत और चीन के बीच तिब्बत मध्वर्ती राज्य का काम करता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व दो शक्तिशाली गुटों में विभक्त हो गया और उनके बीच सन्तुलन स्थापित करने के लिए मध्यवर्ती राज्य के अस्तित्व का महत्व बढ़ गया था जो अवरोधक का काम करें।

12.9.4 शस्त्रीकरण (Armament / Militarization)

माँरगेन्थाऊ के अनुसार जिन प्रधान साधनों द्वारा एक राष्ट्र अपनी शक्ति से शक्ति सन्तुलन बनाए रखने अथवा उसको पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करता है, अस्त्र-शस्त्र हैं। जब कभी कोई राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाता है तब इसके प्रतियोगी राज्य भी इसकी बराबरी में आने के लिए शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा में पड़ जाते है। शस्त्रीकरण की यह होड़ यद्यपि सन्तुलन के लिए होती है तथापि इसके कारण गतिशील शक्ति सन्तुलन की स्थिति का निर्माण होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमरीका और सोवियत संघ में शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा कुछ ऐसी ही थी।

12.9.5 विभाजन तथा शासन (Divide and Rule)

शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राज्य शत्रुपक्ष के साथी राष्ट्रों में फूट डालने का भी प्रयत्न करते है जिससे उसके शत्रु आपस में न मिल सके, उनमें फूट रहे और वे कमजोर बने रहें। फ्रांस की नीति जर्मनी तथा शेष यूरोप के साथ सोवियत संघ की नीति। 17वीं शताब्दी से द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक फ्रांसीसी विदेश नीति का अपरिवर्तनीय

सिद्धान्त रहा है कि या तो वह जर्मनी साम्राजय के बहुत से छोटे स्वतंत्र राज्यों में विभाजन का पक्ष ले या एक एकीकृत राष्ट्र के रूप में ऐसे राज्यों का सम्मेलन न होने दे। इसी प्रकार सोवियत संघ ने निरन्तर यूरोप के एकीकरण की सभी योजना का विरोध इस मान्यता पर किया कि यूरोपीय राष्ट्रों का एक पाश्चात्य गुट में एकत्रीकरण सोवियत संघ के शत्रुओं को इतनी शक्ति दे देगा, जिससे उनकी सुरक्षा को खतरा हो जाएगा।

12.9.6 मैत्री सन्धियाँ (Treaties of Friendship / Alliances)

मैत्री सन्धियाँ शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का मुख्य आधर रही है। परमार तथा पर्किन्स के अनुसार यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि राज्यों की प्रत्येक सन्धि का संबंध शक्ति सन्तुलन से रहता है, चाहे उसका विस्तार क्षेत्रीय हो, गोलाद्धीय हो या विश्वव्यापी। जब भी कोई एक राज्य अन्य राज्यों की तुलना में शक्तिशाली होने लगता है, अन्य राज्य आशंकित हो उठते है। ये सभी भयभीत राज्य आपस में मैत्री संधियाँ करके इस शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध संगठित हो जाते है। इनके संगठित होने से शक्तिशाली राज्य अपने को अकेला अनुभव करता है और प्रत्युत्तर में प्रतिसंधियाँ करने लगता है। इस प्रकार का क्रम तब तक चलते रहता है जब तक कि विश्व के सभी राष्ट्र स्पष्ट रूप से विरोधी गुटों में संगठित हो कर बँट नहीं जाते। मैत्री संधि और प्रतिमैत्री संधियाँ यूरोपीय राजनीति का मुख्य अंग रही है।

इस प्रकार अपने अनुकूल शक्ति सन्तुलन बनाए रखने के लिए राज्य इन छः में से कोई भी तरीका अपनाते रहते है।

12.10 शक्ति सन्तुलन का मूल्यांकन

आइनिस क्लाइड ने लिखा है कि शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त के सफल क्रियान्वयन के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक है –

प्रथम, शक्ति थोड़े से स्थानों पर केन्द्रित होकर व्यापक रूप से बहुत से राज्यों के बीच विभाजित होनी चाहिए।

द्वितीय, नीति का नियंत्रण उन लोगों के द्वारा होना चाहिए जो कूटनीतिक खेल के चातुर्यपूर्ण खिलाड़ी है और जो किसी विचारधारा के साथ बंधे हुए नहीं है।

तृतीय, शक्ति के तत्व सीधे-सादे स्थायी होने चाहिए।

चतुर्थ, युद्ध पर होने वाला खर्च इतना अधिक होना चाहिए कि राज्य आसानी से आश्रय न ले सके। **पंचम**, यथापूर्व स्थिति की व्यवस्था को दी जाने वाली चुनौतियाँ क्रान्तिकारी नहीं होनी चाहिए ।

षष्ठ, यथासम्भव एक सन्तुलनकर्ता होना चाहिए। परन्तु आज शक्ति पहले जैसे बोधगम्य नहीं है, वे दिन-प्रतिदिन दुरूह होते जा रहे है। कार्ल जे फ्रैडरिक के मत में ''अब यह सिद्धान्त बिल्कुल अर्थहीन हो गया है क्योंकि यह किसी समस्या का समाधान नहीं करता। न न्याय की स्थापना करता है न अन्तर्राष्ट्रीय घटना का विश्लेषण करने में सहायक होता है और न ही सद्भावना बढ़ाने में।'' शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त राज्य को शक्ति संचय के लिए प्रेरित करता है। इसमें राज्य भयग्रस्त रहते है। क्योंकि अधिकतम शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा सार्वभौमिक है ताकि कभी ऐसा न हो कि विरोधी उनको शक्ति स्थिति से वंचित कर दें। शक्ति सन्तुलन शक्ति का आदर्श वितरण नहीं है। मॉरगेन्थाऊ के अनुसार ''शक्ति सन्तुलन के पलड़े कभी भी यथावत सन्तुलित नहीं होंगे। न समता का सही बिन्दु पहचानने योग्य ही होते है, न उसके पहचानने की आवश्यकता ही है।'' शक्ति सन्तुलन युद्धों का कारण बने है। चार्ल्स पंचम से हिटलर तक के बहुत से उदाहरण विद्यमान है। माँरगेन्थाऊ ने शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इसे एक अनिश्चित, अवास्तविक और अपर्याप्त सिद्धान्त बताया है।

इन कमियों के बावजूद भी शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय राजनीत का सारभूत सिद्धान्त है। यह सच है कि अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच शक्ति के एक नए द्वि-ध्रुवीकरण के जन्म से तथा साथ ही किसी सन्तुलनकर्ता के अभाव के कारण वर्त्तमान में यह सिद्धान्त पुराना पड़ गया है। तथापि फ्रांस और चीन ने द्विध्रुवीय व्यवस्था को

चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया था। जर्मनी और जापान विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने की आकांक्षा रखते है अतः निकट भविष्य में शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का महत्व और भी अधिक बढ़ने वाला है। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र-राज्य प्रणाली पर आधारित रहेगी शक्ति सन्तुलन उसका अनिवार्य तत्व रहेगा। भले ही सैद्धान्तिक रूप से उसमें कितनी ही कमियाँ क्यों न रह जाए। फ्रेडरिक के मत में ''आज की अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की तुलना में शक्ति संतुलन कहीं अधिक वांछनीय है, यद्यपि शक्ति संतुलन भी मानव स्वभाव और विश्व राजनीति की अपूर्णता का ही द्योतक है।

12.10.1 समूहिक सुरक्षा (Collective Security)

सुरक्षा हेतु किया जाने वाला सामूहिक प्रयास दुनिया में यदि शांति स्थिरता लानी है तो इसके लिए सभी को प्रयास करने होंगे। इसके लिए सामूहिक प्रयास जरूरी होगा। यह तभी संभव हो पाएगा जब सभी राष्ट्र किसी भी आक्रमण को रोकने का सामूहिक प्रयास करेंगे। यह कैसे होगा यह-संगठन द्वारा होगा। जब इस सामूहिक प्रयास को एक संगठन का रूप देंगे तभी यह संभव हो पाएगा। फलस्वरूप दो संगठन बने --

1-प्रथम विश्व युद्ध के बाद.League of Nation(राष्ट्र संघ)

2 - द्वितीय विश्व युद्ध के बाद .United Nation Organization(संयुक्त राष्ट्र संगठन)

सामूहिक सुरक्षा एक ऐसी कानूनी रूप से स्थापित यांत्रिकी की ओर संकेत करता है जिसे किसी राज्य द्वारा किसी अन्य राज्य पर आक्रमण रोकने या दबाने के लिए आकार दिया जाता है। अर्थात, सामुहिक सुरक्षा एक तंत्र की स्थापना की बात करता है क्योंकि यदि कोई राज्य किसी अन्य राज्य पर आक्रमण करता है तो उसे अर्न्तराष्ट्रीय शांति स्थिरता के लिए दबाया रोका जा सके। /

12.10.2 मुलभूत सिद्धांत

ONE FOR ALL AND ALL FOR ONEअर्थात *एक सभी के लिए और सभी* एक के लिए एक राज्य पर आक्रमण सभी राज्यों पर आक्रमण माना जाएगा और सभी राज्य द्वारा उस आक्रमणकर्ता का मुकाबला किया जाएगा। यहां आक्रमण का आधर व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है जो सामूहिक सुरक्षा के लिए जरूरी भी है यह तभी संभव है जब सभी राष्ट्र एक तंत्र से जुड़े हो।

इसके तहत दो तरह की बातें -

1. जिस पर आक्रमण हुआ है - वास्तविक पीड़ित (Real Victim)
2. जिसने आक्रमण किया है - वास्तविक आक्रमणकारी (Real Aggressor)

वास्तविक क्यों ?

क्योंकि यहां यह संकेत मिलता है कि पहले यह पहचान करना होगा कि आक्रमण किसने और किसपर किया गया। वही ऐसा न हो जाए अपने उपर हमला करने हल्ला करे कि हमारे उपर आक्रमण हुआ है। और इस आधर अपने व्यक्तिगत दुश्मनों पर निशाना साध पाए।

कदम ऐसे हो जिससे वास्तविक पीड़ित की सम्प्रभुता सुरक्षित हो सके सैन्य, आर्थिक मदद, शांति सेना की मदद वास्तविक आक्रमणकारी के लिए सामूहिक धमकी या दण्ड दिया जाएगाकूटनीतिक दबाब -, प्रतिबंध द्वारा या सैन्य कार्यवाई द्वारा।

12.10.3 मूलभूत समस्याएं

1. आक्रमणकारी की पहचान करना अर्थात किसी सशस्त्र संघर्ष में सभी राष्ट्र इस बात पर एकमत हो कि कौन आक्रमणकर्ता है। सभी की रजामंदी हो तभी कार्यवाही संभव होगी।

2. सुरक्षा के प्रति समान दृष्टिकोण अर्थात सभी राष्ट्र इस बात पर समान रूचि रखते हो कि आक्रमण को रोका जाए चाहे वह किसी भी स्रोत से संबंधित हो, जुड़ा हो। भले ही वह किसी का मित्र हो या किसी से उसका हित जुड रहा हो। अपनी संकीर्ण राष्ट्रहित को परे रखकर कदम उठाना होगा। उदाहरण अरब- इजराइल युद्ध इसमें हमेशा संयुक्त राज्य अमेरिका का हित इजराइल के साथ रहा, USSR का अरब से साथ, ऐसा नही होना चाहिए।
3. सभी राष्ट्र आक्रमणकर्ता के विरुद्ध कार्यवाही में भाग लेने के लिए स्वतंत्र व सक्षम हो। अर्थात सभी राष्ट्र को इस सामूहिक कार्यवाही में शामिल किया जाय जिसमें उसकी सहमति भी होनी चाहिए।
4. सामूहिकता की कुल शक्ति इतनी पर्याप्त हो कि वो आक्रमण को परास्त कर सके। (ऐसा न हो कि नेपाल, भूटान, बंग्लादेश, श्रीलंका जैसे देश चल पड़े संयुक्त राज्य अमेरिका से लडने)।
5. इस उद्वेश्य को आकार देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता होती है। जिसके कानूनी आधार, कुछ सिद्वांत हो और जिसके बातों को सभी सदस्य मानने को तत्पर रहते हों।

NATO इसलिए नहीं हो सकता है, क्योंकि यह क्षेत्रीय सैन्य संगठन तथा संकीर्ण हित से संबंधित है जबकि संयुक्त राष्ट्र संगठन विश्व शांति की बात करता है, इसका दायरा बहुत ही विस्तृत है।

प्रश्न उठता है कि आखिर क्यों सामूहिक सुरक्षा से राज्य जुड़ना चाहते है? क्योंकि

1. यह सभी राज्यों की सुरक्षा की वायदा करना है न केवल शक्तिशाली राज्यों की चूँकि सभी राष्ट्र युद्ध की धमकी से डरते है इसलिए वे इसमें शामिल होने की पहल करते है। (संयुक्त राष्ट्र संगठन के रूप मे)।
2. सैद्धांतिक रूप से सामूहिक सुरक्षा का सिद्वांत अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को और अधिक निश्चितता प्रदान करता है कम से कम युद्ध के खिलाफ एकजुट प्रत्युत्तर देकर। संबंधों में निश्चितता इसलिए आती है क्योंकि सभी राष्ट्र युद्ध को रोकना चाहते हैं प्रथम विश्व युद्ध|तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उत्पन्न हुए नए प्रकार का संबंध।
3. सामूहिक सुरक्षा स्पष्ट समस्या पर ध्यान देता है जो कि आक्रमण की होती है जिसे किसी सदस्य राज्य की भौगोलिक एकता व राजनैतिक स्वतंत्रता के सैनिक उल्लंघन के रूप में देखा जाता है सामूहिक सुरक्षा अपने उद्देश्यों के लिए अस्पष्ट नहीं है उद्वेश्य बिल्कूल ही स्पष्ट है।

भौगोलिक एकता तथा राजनीति स्वतंत्रता ये किसी राष्ट्र का राष्ट्रहित है जो सामुहिक सुरक्षा की संकल्पना से जुड़ जाता है क्योंकि कोई भी राष्ट्र अपनी माँगों एकता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता खोना नहीं चाहेगा। अतः सामूहिक सुरक्षा तथा राष्ट्रीय हित में कोई मतभेद नही है। राष्ट्रीय हित व सामूहिक सुरक्षा एक दूसरे के पूरक है उसमें किसी भी तरह का विरोध नही है। इसी पूरकता की आड़ में कोई राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा से जुड़ना चाहता है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद पहली बार सामूहिक सुरक्षा को आकार देने का प्रयास किया गया। क्योंकि इतनी भयावह परिस्थितियाँ पहले कभी नही हुआ था। शांति सुरक्षा की बात मानव जीवन की उत्पति से की जाती रही है, परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध एक भयावह परिघटना थी जिसमे एक साथ करोड़ो लोग मारे गए थे। इस प्रकार के युद्ध को भविष्य में टालने के लिए ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका के राष्ट्रपति ने पेरिस में सम्मेलन बुलाकर वर्साय की संधि के माध्यम से लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना की परन्तु 1931- जापान ने मुचूरिया पर आक्रमण किया|1935-36 इटली ने एबीसीनिया | (इथोपिया) पर आक्रमण किया1937- जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया तीनों| आक्रमणLeague of nations के बनने के बाद हुए परन्तु उक्त संगठन कुछ नहीं कर पाया। स्पष्ट है कि सामूहिक सुरक्षा ठीक ढंग से काम नहीं कर रहा था। league of nations की असफलता भी सबसे बड़ा प्रमाण द्वितीय विश्वयुद्ध का होना था जो पहले विश्व युद्ध से भी ज्यादा भयावह थी जिसने परमाणु हथियार तक प्रयोग किए गए।- league of nations की असफलताओं क्यों हुई यह एक बड़ा प्रश्न है।

12.10.4 असफलता के कारण

1. संयुक्त राज्य अमेरिका जो कि संस्थापक देश था और USSR दूसरी बड़ी शक्ति के रूप में उभर रहा था इस व्यवस्था से अलग रहे। साथ ही जर्मनी, जापान जैसे देश भी अलग रहे (शामिल नहीं थे) वर्साय की संधि (जर्मनी के खिलाफ बनाई
2. प्रथम विश्व युद्ध के बाद जो स्थितियाँ (वर्साय की संधि के बाद) बनीतरह की विचारधारा आइ,-यथास्थिति बनी रहे वर्साय की संधि के बाद की परिस्थितियों के समर्थक अर्थात), जर्मनी का अमानवीय शोषण - फ्रांस, समर्थक ब्रिटेन। कुछ देश जो इस यथास्थिति को बदलने की बात कर रहे थे -जर्मनी, इटली,(इटली को बँटवारे में उसके अनुसार हिस्सा नही मिल पाया था था इसलिए इटली परिवर्तन की बात कर रहा था। जर्मनी को शोषित राष्ट्र था |ये स्थितियाँ दर्शाती है कि यूरोप में कोई सामूहिक हित नही था, जाहिर है इस स्थिति में सामुहिक सुरक्षा सफल नही हो सकता और न ही हुआ। सामूहिक सुरक्षा के प्रयास तभी सफल हो सकते है जो सभी राष्ट्रों के हित एक से हो सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा व्यवहार में इसलिए भी असफल हो गई क्योंकि सभी राष्ट्रों के हित भिन्न भिन्न थे इसकारण से सामूहिक सुरक्षा के तंत्र के रूप में- राष्ट्र संघ असफल हो गया।
3. तुष्टिकरण की नीति लिए अपने संकीर्ण हित के-दूसरे को प्रोत्साहित करना ताकि अपने दुश्मन को अप्रत्यक्ष रूप से पराजित किया जा सके। इंग्लैंड की दुश्मनी जर्मनी से जर्मनी की USSR सोवियत संघ, वही इंग्लैण्ड की USSR से।यदि यहाँ जर्मनी USSR पर हमला करता है और इंग्लैड़ कुछ न कहे या जर्मनी को अप्रत्यक्ष रूप से शह दे तो यह नीति तुष्टिकरण की होगी। 1935 में इटली ने अबीसीनिया पर जब हमला किया तब इंग्लैंड़ तथा फ्रांस ने कुछ नही किया यही तुष्टिकरण की नीति ने|League of nation असफल कर दिया। 1937 में हिटलर ने चेकोस्लाविया पर कब्जा कर लिया यदि इसे रोक लिया गया होता तो शायद द्वितीय विश्व युद्ध होता ही नहीं।

सामूहिक सुरक्षा के तथा इसके एक तंत्र के रूप में राष्ट्र संघ के असफल होने के बाद इसपर सामूहिक सुरक्षा तथा शक्ति संतुलन शक्ति संतुलन के मानने या न मानने पर विवाद छिड़ा जिसमें रूजवेल्ट ने शक्ति संतुलन पर जोर दिया। अंततः निष्कर्ष तथा एकमत संयुक्त राष्ट्र की स्थापना पर हुआ। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना पूरी तरह से सिर्फ सामुहिक सुरक्षा की स्थापना के लिए नही था।सामूहिक सुरक्षा के साथ साथ शक्ति संतुलन के सिद्वांत से भी शामिल किया-गया।

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद शक्ति संतुलन को दर्शाती है। संयुक्त राष्ट्र भी महासभा सामूहिक सुरक्षा को दर्शाती है। सुरक्षा परिषद के पास Veto Power(निषेधाधिकार) है जिसके तहत किसी भी सदस्य राष्ट्र की असहमति पर किसी भी प्रस्ताव को समाप्त किया जा सकता है। Veto Power का दिया जाना देशों के महज संतुलन बैठाने के प्रयास के रूप में देखा जाता है। सुरक्षा परिषद की गठन पूर्व के परिस्थितियों को देखते हुए दिया गया जिसमें उसके सदस्य देशों को एक विशेष दर्जा दिया गया है।

संयुक्त राष्ट्र संगठन की भूमिका मिश्रित रही है। सफलता व असफलता दोनों ही हाथ लगी है। निरपेक्ष रूप से सफल या असफल नही कहा जा सकता है।

I. **कोरिया संकट** – 1950 उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर 1950 में हमला किया। इस हमले से रोकने की बात की गई इंग्लैंड़ ,संयुक्त राज्य अमेरिका , कनाडा जो दक्षिण कोरिया के लिए आगे आए परन्तु USSR तथा चीन उत्तर कोरिया के समर्थन में आगे आए अंततः 1953 में किसी प्रकार युद्ध रूका। संयुक्त राष्ट्र संगठन इस मसले पर विफल हो गया क्योंकि यहां आपस में गुटबंदी हो गया।

II. **स्वेज संकट 1956 -** मिश्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया जिसका विरोध इजराइल, फ्रांस, ब्रिटेन ने मिस्र पर हमला किया, परंतु यह संयुक्त राष्ट्र और दो महाशक्तियों को स्वीकार्य नहीं था फलतः दोनों ने इजराइल, फ्रांस, ब्रिटेन के खिलाफ दवाब बनाया जिसके कारण युद्ध रूक गया। यहां दोनो संयुक्त राज्य अमेरिका तथा USSR के हित मिले और युद्ध रूका। फलतः कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा के प्रयास सफल हुए। इसे संयुक्त राष्ट्र द्वारा उठाया गया कदम माना। जबकि समाहित करने का योग संयुक्त राज्य अमेरिका तथा USSR का है।

III. **1991 का खाड़ी युद्ध-** इराक ने कुबैत पर कब्जा किया जिसके परिणामस्वरूप इराक पर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा28 सहयोगी देशों ने हमला किया। जिसपर संयुक्त राष्ट्र की सहमति थी। इस समय USSR विघटन की प्रक्रिया से गुजर रहा था जिससे उसने इसमें भाग ही नही लिया। यहां भी संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से सामूहिक सुरक्षा के प्रयास सफल साबित हुआ।

IV. **पुनः खाड़ी संकट** – 2003 **(इराक युद्ध)-** संयुक्त राज्य अमेरिका ने बगैर किसी ठोस कारण के इराक पर हमला किया, क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका की नजर में इराक ऐसा हथियार बना राह था जिससे मानव जाति के बड़े पैमाने पर नरसंहार का संकेत मिलते है। परन्तु ऐसा कोइ प्रमाण नही मिल पाया है। रूस, फ्रांस, और चीन ने इसका विरोध किया बावजूद इसके संयुक्त राज्य अमेरिका ने इराक पर हमला किया। UN महासचिव कोफी अनान ने इस युद्ध को "अनुचित" और अंतरराष्ट्रीय कानून के विरुद्ध बताया। यहां सामूहिक सुरक्षा व्यवाहरिक रूप से तथा उसके एक महत्पूर्ण यंत्र के रूप मे संयुक्त राष्ट्र असफल साबित हुआ।

अतः कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा का तंत्र mechanism अपने आप में उतना सक्षम नहीं है बल्कि सैद्धांतिक रूप से यह व्यवस्था अन्तर्राष्टीय राजनीति के शक्ति समीकरणों से निर्धारित हो रही है। सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था उन परिस्थितियों से निर्धारित हो रही है जो उस समय शक्ति समीकरण अस्तित्व में था। जैसे राष्ट्र संघ(League of Nations) के समय शक्ति समीकरण यूरोपीय देशों द्वारा निर्धारित हो रही थी तो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा की गयी स्थापना में शक्ति समीकरणों को सुरक्षा परिषद् के रूप में स्वीकार किया गया था, शक्ति की संकल्पना चूंकि बदलती रही है। फलतः शक्ति संतुलन तथा Power equation भी बदलतें रहे है और ये सभी जब बदलेंगे, तब शक्ति समीकरण अपनी बदलती हुई परिस्थितियों मे संयुक्त राष्ट्र को प्रभावित करेगा क्योंकि संयुक्त राष्ट्र की स्थापना में भी सुरक्षा परिषद के रूप में Power equation को मान्यता 5 राष्ट्रों को विशेष शक्ति देकर किया गया। इस कारण से ही अलग अलग युद्ध में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है। कुल मिलकर यदि संयुक्त राष्ट्र को यदि शक्ति संतुलन संगठन के रूप में देखते है जिसकी स्थापना द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक नए विश्व को दिशा देने हेतु हुआ था। यूरोप के पास स्थित शक्ति समीकरण धीरे-धीरे समाप्त होकर संयुक्त राज्य अमेरिका तथा USSR के पास हस्तांतरित होती चली गई। क्योंकि तब वहां Power Vaccuum की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। फलतः इस Vaccuum को भरने के लिए आए दोनो देश संयुक्त राज्य अमेरिका or USSR दोनो ही आमने सामने हो गए।

यहां दोनो देश अपने अपने हिसाब से कार्य तथा स्वतंत्र हो रहे नवोदित राष्ट्रों को अपने पक्ष में करने तथा कब्जा करने की पुरजोर कोशिश करने लगे। स्वाभाविक दोनों ही आमने-सामने हो गए।

निश्चित तौर पर Power Vaccuum भरने के लिए राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित कों तथा शक्ति संतुलन की जगह सामूहिक सुरक्षा को अधिक वरीयता देंगें। जबकि ऐसी स्थिति में सामूहिक सुरक्षा के mechanism के रूप में में संयुक्त राष्ट्र विशेष सफल नही रहा है। वास्तविक आक्रमणकारी की पहचान आज ज्यादा कठिन हो गया है। ऐसी

स्थिति में जबकि Power equation इसी के ईद गिर्द घूम रही थी गुटबाजी शुरू हो गई है फलतः शक्ति संतुलन-की संकल्पना घूमिल पड़ गई।

यदि जैसा कि कहा जाता है कि Unipolarity की इस युग में जो इसे संरक्षित कर रहा है यदि उस पे ही आक्रमण हो जाए तो उसे कौन रोकेगा। क्योंकि हम जानते है कि सामूहिक सुरक्षा के तहत कदम तभी उठाए जाते है जब सामूहिक प्रयास में पर्याप्त शक्ति होती है। ऐसी स्थिति में Unipolarity को leader जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका को माना जाता है यदि वही आक्रामक हो जाए तो पर्याप्त शक्ति कहां से लाया जाय, क्योंकि मान्यता यह है कि विश्व एक ध्रुवीय है। जैसा कि माना जाता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका सर्वशक्तिशाली है। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इराक पर हमले के मामले में रूस, चीन, फ्रांस ने केवल विरोध किया, सेना नही उतारी, क्योंकि इन देशों के पास संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना में पर्याप्त शक्ति नहीं है। स्वाभाविक रूप से संयुक्त राष्ट्र संगठन को असफल होना ही है।

गैर राज्यीय कर्त्ता:- वर्तमान विश्व में शक्ति का मामला अब केवल राज्य तक सीमित नही रह गया है। गैर राज्य कर्त्ता जैसे आतंकवादी संगठन यदि किसी राज्य को अपना निशाना बनाता है । तो उसे कैसे रोका जाय? क्योंकि वर्तमान विश्व में राज्य प्रायोजित आतंकवादी क्रियाकलाप भी काफी बढें है। ऐसी स्थिति में सुरक्षा के प्रति चुनौतियों पहले की तुलना में काफी बढ़ गए है। आतंकवादी क्रियाकलाप चुंकि वैश्विक हो गई है। इसलिए तक चुनौतियों और बढ़ गई हैं। इसके आढ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अफगानिस्तान तथा इराक पर हमला किया। तो प्रश्न उठता है कि ऐसे हमले से क्या आतंकवाद समाप्त हो गया है या नही। ऐसी स्थिति में विश्व के सामने मौजूद परिस्थितियां इस वैश्विक आतंकवादी क्रियाकलापों के खिलाफ पहले की तुलना में और भी सामूहिक प्रयास की मांग करता है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि प्रयास की सामूहिकता पर पहले की तुलना में और अधिक बल दिया जाए।कुल मिलाकर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि

1. सैद्वांतिक रूप से सामूहिक समस्या युद्ध को रोके और शांति स्थापित करने का साधन है। यह व्यवस्था सुरक्षा की समस्या को व्यक्तिगत समस्या नहीं बल्कि उसे सामूहिक समस्या मानते हुए सामूहिक प्रयास की बात करती है।
2. यह बगैर अराजक राज व्यवस्था को बदले विश्व सरकार के लाभ दिलाने का प्रयत्न करती है। अर्थात बिना-किसी नियंत्रण वाली फ़ौजया संस्था के तहत मौजुदा राज्य की व्यवस्था को बदलने की बात नही करता बल्कि संयुक्त राष्ट्र के लाभ को उन्हें दिलाने की बात करती है। (संयुक्त राष्ट्र विश्व सरकार नहीं हैं।)
3. लेकिन राज्य इस अराजक व्यवस्था में शक्ति संतुलन व अपने राष्ट्रीय हितों को अधिक वरीयता देते है। और इसलिए सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से सभी राज्यों का एकमत होना कठिन हो जाता है। क्योंकि सभी राज्यों के राष्ट्रीय हित अलग अलग हो जाते है। इस कारण वहां की स्थिति में गुटबाजी उत्पन्न हो जाती हैं। व्यवहार में ऐसा ही होता है।
4. लेकिन फिर भी सामूहिक सुरक्षा के सिद्वांत की व्यवहारिक सफलताएं भी अनेक बार देखी गई हैं। कांगो, कंबोड़ियों, स्वेज संकट के समय ।
5. जिस प्रकार से आज सुरक्षा की समस्या वैश्यिक आतंकवाद के कारण और अधिक जटिल हो रही है उसका समाधान किसी एक राज्य के स्तर पर नहीं निकाला जा सकता। इस दृष्टि से जो शक्ति संतुलन की संकल्पना है वह और अधिक प्रासंगिक हो जाती है। इस कारण इसे और अधिक प्रभावी बनाने की आवश्यकता है।

अभ्यास प्रश्नःसामूहिक सुरक्षा की मूलभूत समस्यांओ की चर्चा करे। -

उत्तरः -

आक्रमणकारी की पहचान करना अर्थात किसी सशस्त्र संघर्ष में सभी राष्ट्र इस बात पर एकमत हो कि कौन आक्रमणकर्ता है। सभी की रजामंदी हो तभी कार्यवाही संभव होगी। सुरक्षा के प्रति समान दृष्टिकोण अर्थात सभी राष्ट्र इस बात पर समान रूचि रखते हो कि आक्रमण को रोका जाए चाहे वह किसी भी स्रोत से संबंधित हो, जुड़ा हो। भले ही वह किसी का मित्र हो या किसी से उसका हित जुड रहा हो। अपनी संकीर्ण राष्ट्रहित को परे रखकर कदम उठाना होगा। जैसे अरब इजराइल युद्ध इसमें हमेशा संयुक्त राज्य अमेरिका का हित इजराइल के साथ रहा, USSR का अरब से साथ, ऐसा नही होना चाहिए।

सभी राष्ट्र आक्रमणकर्ता के विरूद्व कार्यवाही में भाग लेने के लिए स्वतंत्र व सक्षम हो। अर्थात सभी राष्ट्र को इस सामूहिक कार्यवाही में शामिल किया जाय जिसमें उसकी सहमति भी होनी चाहिए। सामूहिकता की कुल शक्ति इतनी पर्याप्त हो कि वो आक्रमण को परास्त कर सके। ऐसा न हो कि नेपाल, भूटान, बंग्लादेश, श्रीलंका जैसे देश चल पड़े संयुक्त राज्य अमेरिका से लडने इस उद्देश्य को आकार देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता होती है। जिसके कानूनी आधार, कुछ सिद्वांत हो और जिसके बातों को सभी सदस्य मानने को तत्पर रहते हों। जैसे - NATO इसलिए नहीं हो सकता है, क्योंकि यह क्षेत्रीय सैन्य संगठन तथा संकीर्ण हित से संबंधित है जबकि संयुक्त राष्ट्र व् विश्व शांति की बात करता है, इसका दायरा बहुत ही विस्तृत है।

12.11सारांश

इस अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन की अवधारणा का विस्तार से वर्णन किया गया है। शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मौलिक सिद्धान्त कहा जाता है। इस अध्याय में सबसे पहले शक्ति सन्तुलन का अर्थ, इसके बाद ऐतिहासिक विकास का वर्णन किया गया है। इसी तरह इस अध्याय में नयी शक्तियों का उदय ओर बदला शक्ति सन्तुलन, शीत युद्ध के दौर में शक्ति सन्तुलन, शीत युद्ध का अंत और शक्ति सन्तुलन का अवमूल्यन, विचारधारा के रूप में शक्ति सन्तुलन, शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के साधन एवं शक्ति सन्तुलन का मूल्यांकन का वर्णन किया गया है। शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पिछले चार शताब्दियों से महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सारभूत सिद्धान्त है।

12.12शब्दावली

1. **शीत युद्ध**-द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व दो गुटों में बटाँ था। दोनों के बीच वर्चस्व के लिए जो मानसिक युद्ध चल रहे थे उन्हें शीत युद्ध कहा गया।
2. **विचारधारा**-विचारों एवं विश्वासों का ऐसा समुच्चय जो अपने को अपने आप में पूर्ण मानती हो।
3. **क्षतिपूर्ति**-युद्ध के बाद शन्ति संधियों में इसी आधार पर राज्यों के क्षेत्रों का आदान-प्रदान होता है।
4. **हस्तक्षेप**-जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामले में दखल देते है और प्रभावित करते है तो उसे हस्तक्षेप कहते है।
5. **मध्यवर्ती राज्य**-यह दो बड़े राज्यों के बीच में दुर्बल राज्य होता है जो बड़े राज्यों में युद्ध होने से रोकता है।
6. **शस्त्रीकरण**-राष्ट्र अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए शस्त्रों के भंडार को बढ़ाता है। इससे अन्य राष्ट्र भी शस्त्रों को बढ़ाने लगता है इसे शस्त्रीकरण कहते है।
7. **मैत्रि संधि** -दो या दो से अधिक राष्ट्र आपस में समझौता करते है कि वे एक-दूसरे का सभी परिस्थितियों में साथ देंगे।

8. **संयुक्त राज्य संघ-** यह एक अन्तर्राष्टीय संगठन है जो दुनिया भर के देशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सुरक्षा, मानवाधिकार आर्थिक, सामाजिक प्रगति के लिए कार्य करना (मिलेनियम डवलेपमेंट गोल) जैसे कठिन कार्यो के आसान प्रवर्त्तन करानें के लिए बनाया गया।
9. **शीत युद्धः**- दो राज्यों के बीच गम्भीर तनाव की स्थिति जब युद्ध के सारे लक्षण मौजूद हो लेकिन वास्तव में युद्ध न हो रहा हो।
10. **शक्ति संतुलन-** शक्ति संतुलन का सिद्धांत अन्तर्राष्टीय राजनीति का वह सिद्धांत है जिसके अनुसार यूरोपीय महाद्वीप में यह माना जाता था कि वहाँ के राष्ट्रों के एक दूसरे गुट के बराबर रहनी चाहिए ताकि किसी एक गुट की शक्ति बहुत अधिक न बढ जाए।

12.12अभ्यास प्रश्न

प्रश्न1 शक्ति संतुलन स्थापित करने के साधन का संक्षिप्त वर्णन करें?

उत्तर शक्ति सन्तुलन अन्तर्राष्ट्रीय संबंध का मौलिक सिद्धान्त है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के मुख्यतः छः साधनों का वर्णन किया गया है। ये साधन है पहला क्षतिपूर्ति, युद्ध के पश्चात् शान्ति संधियों में प्रदेशों का आदान-प्रदान और सीमाओं में परिवर्त्तन इसी आधार पर किया जाता है। दूसरा है हस्तक्षेप कभी-कभी शक्तिशाली राज्य सन्तुलन स्थापित करने की दृष्टि से अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करते है। ये हस्तक्षेप सन्तुलन को अपने तरफ करने के लिए किया जाता है। तीसरा मध्यवर्ती राज्य यह दो देशों के बीच सन्तुलन बनाए रखने में सहायक होता है। चौथा शस्त्रीकरण इसके द्वारा राष्ट्र अपने शक्ति को बढ़ाता है। पाँचवा विभाजन तथा शासन है। शक्ति सन्तुलन स्थापित करने के लिए राष्ट्र विरोधी राष्ट्रों में फूट डालने का प्रयत्न करते है। छठाँ और अन्तिम साधन है मैत्री संधियाँ इसके द्वारा राष्ट्र अपना मित्र बढ़ा कर सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन बनाए रखा जाता है ताकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनी रहे।

प्रश्न शक्ति सन्तुलन सिद्धान्त का अर्थ स्पष्ट करें?

उत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन से अभिप्राय है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच कम से कम स्थूल सन्तुलन कायम रहे। स्वतन्त्रता शान्ति स्थिरता तथा सार्वजनिक सुरक्षा के लिए शक्ति सन्तुलन आवश्यक है क्योंकि एक निश्चित सीमा के बाद एक राज्य की बढ़ती हुई शक्ति अन्य सभी राज्यों को प्रभावित करने लगती है। विदेश नीति की दृष्टि से राष्ट्र उसी समय शक्ति सन्तुलन की अवधारणा स्वीकार करते है जबकि वे अन्य राज्यों की तुलना मे प्रबल हो। शक्ति सन्तुलन एक व्यवस्था के रूप में नीति-निर्माताओं के लिए मार्गदर्शक होता है। इसे शक्ति सन्तुलन राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त कहा जाता है। यह इस मान्यता पर आधारित है कि शक्ति सन्तुलन की उपेक्षा से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के तत्व की उपेक्षा प्रकट होती है। शक्ति सन्तुलन विशिष्ट स्थिति का द्योतक है जिसमें शक्ति संबंध लगभग बराबरी के आधार पर होता है। राज्यों में केवल इस बात की दिलचस्पी होती है कि शक्ति का पलड़ा अपने पक्ष में झुका हुआ हो तभी वह अपनी सुरक्षा के लिए निश्चित रहेगा। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक स्थिति एक प्रक्रिया एक नीति और व्यवस्था के रूप में चित्रित किया जा सकता है।

12.14संदर्भ ग्रन्थ

1. मॉरगेन्थाऊ, हैन्स (1960), पॉलिटिक्स एमंग नेशन, मैकमिलन-हिल ह्यमेनिटीज।
2. कुमार, महेन्द्र (2013), अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक परिपेक्ष्य, शिवलाल अग्रवाल पब्लिकेशनस एण्ड कॉरपोरेशन।

3. पंत, पुष्पेश (2008), ‘‘21वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध’’, टाटा मेकग्राहिल पब्लिकेशन कम्पनी लिमिटेड।
4. वाल्टज, केन्नेथ एन, ‘थ्योरी आफ इंटरनेशनल पोलिटिकस, पबलिशर वेवल एंड पी आर आइ एन सी एडीशन)2010
5. रॉचेस्टर, जेमारटीन ., फन्डामेंटल प्रिंसीपलस आफ इन्टरनेशल रिलेशन पब्लिशर रीड हॉउ यु वान्ट -

6. ए अप्पारदोराय व एमएस.राजन., इंडियाज फॉरेन पॉलिसी एण्ड रिलेशंज, नई दिल्ली, 1985, पृ.374।

12.15 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. फाड़िया, बी.एल. (2008) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. खन्ना, बी.एन. (2003) अन्तर्राष्ट्रीय संबंध, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि.

12.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन के महत्व को स्पष्ट करते हुए इसके प्राप्ति के साधनों का उल्लेख करे?

इकाई:13 - सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

13.2.1 सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना
13.2.2 सामूहिक सुरक्षा बनाम सामूहिक रक्षा

13.3 सामूहिक सुरक्षा का ऐतिहासिक विकास

13.3.1 वेस्टफेलिया व्यवस्था और शक्ति संतुलन
13.3.2 राष्ट्र संघ (League of Nations) और सामूहिक सुरक्षा
13.3.3 द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात सामूहिक सुरक्षा का विकास

13.4 संयुक्त राष्ट्र और सामूहिक सुरक्षा प्रणाली

13.4.1 संयुक्त राष्ट्र चार्टर में सामूहिक सुरक्षा
13.4.2 सुरक्षा परिषद की भूमिका
13.4.3 अध्याय VI, VII और VIII का महत्व

13.5 सामूहिक सुरक्षा के प्रमुख तत्व

13.5.1 सार्वभौमिक सदस्यता
13.5.2 आक्रामकता की सामूहिक पहचान
13.5.3 सामूहिक कार्रवाई और प्रतिबंध

13.6 सामूहिक सुरक्षा के लाभ

13.6.1 अंतरराष्ट्रीय शांति एवं स्थिरता
13.6.2 छोटे राज्यों की सुरक्षा
13.6.3 युद्ध की रोकथाम

13.7 सामूहिक सुरक्षा की सीमाएँ एवं आलोचनाएँ

13.7.1 राष्ट्रीय हितों का टकराव
13.7.2 वीटो शक्ति की समस्या
13.7.3 असमान शक्ति संरचना

13.8 सामूहिक सुरक्षा और क्षेत्रीय संगठन

13.8.1 नाटो (NATO)
13.8.2 वारसा संधि
13.8.3 क्षेत्रीय सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र

13.9 शीत युद्धोत्तर काल में सामूहिक सुरक्षा

13.9.1 बदलती सुरक्षा अवधारणाएँ
13.9.2 आतंकवाद और सामूहिक सुरक्षा
13.9.3 मानवीय हस्तक्षेप और शांति स्थापना

13.10 भारत और सामूहिक सुरक्षा

13.10.1 भारत की संयुक्त राष्ट्र में भूमिका
13.10.2 शांति अभियानों में भारत का योगदान

13.11 सारांश

13.12 प्रमुख शब्दावली

13.13 अभ्यास प्रश्न

13.14 संदर्भ

13.0 प्रस्तावना

अंतरराष्ट्रीय राजनीति का केंद्रीय प्रश्न सदैव यह रहा है कि विश्व में स्थायी शांति और सुरक्षा कैसे सुनिश्चित की जाए। राष्ट्र–राज्य व्यवस्था के उदय के बाद प्रत्येक राज्य ने अपनी सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता दी, किंतु केवल राष्ट्रीय स्तर पर अपनाई गई सुरक्षा नीतियाँ वैश्विक संघर्षों को रोकने में असफल रहीं। युद्ध, उपनिवेशवाद, शक्ति संघर्ष और संसाधनों पर नियंत्रण की होड़ ने यह स्पष्ट कर दिया कि किसी एक राज्य की असुरक्षा अंततः पूरे अंतरराष्ट्रीय तंत्र को अस्थिर कर देती है। इसी ऐतिहासिक अनुभव ने सामूहिक सुरक्षा जैसी अवधारणा को जन्म दिया।

सामूहिक सुरक्षा का मूल तर्क यह है कि शांति अविभाज्य होती है। यदि किसी एक क्षेत्र या राज्य में हिंसा और आक्रामकता को अनदेखा किया जाता है, तो उसका प्रभाव धीरे-धीरे अन्य राज्यों तक फैलता है। इसलिए सुरक्षा को व्यक्तिगत या द्विपक्षीय समस्या न मानकर वैश्विक दायित्व के रूप में देखा जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण राष्ट्र–राज्य की संकीर्ण सोच से ऊपर उठकर अंतरराष्ट्रीय सहयोग और साझा उत्तरदायित्व की आवश्यकता को रेखांकित करता है।

बीसवीं शताब्दी के दो विश्व युद्धों ने यह प्रमाणित कर दिया कि शक्ति संतुलन, सैन्य गठबंधन और गुप्त संधियाँ विश्व शांति की गारंटी नहीं दे सकतीं। इन युद्धों से उत्पन्न विनाश, मानव क्षति और आर्थिक पतन ने अंतरराष्ट्रीय समुदाय को यह सोचने पर विवश किया कि यदि युद्ध को रोकना है तो एक ऐसी व्यवस्था चाहिए जिसमें सभी राष्ट्र मिलकर आक्रामकता का विरोध करें। सामूहिक सुरक्षा इसी सोच का संस्थागत रूप है।

आधुनिक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में सामूहिक सुरक्षा केवल सैन्य प्रतिक्रिया तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें कूटनीतिक दबाव, आर्थिक प्रतिबंध, अंतरराष्ट्रीय कानून और नैतिक उत्तरदायित्व भी शामिल हैं। इसका उद्देश्य युद्ध

जीतना नहीं, बल्कि युद्ध को प्रारंभ होने से पहले ही रोक देना है। इस प्रकार यह अवधारणा निवारक (preventive) और सुधारात्मक (corrective) दोनों प्रकार की भूमिका निभाती है।

इस इकाई के अंतर्गत सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को उसके सैद्धांतिक आधार, ऐतिहासिक विकास, संस्थागत ढांचे, व्यावहारिक सीमाओं और वर्तमान वैश्विक संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता के साथ समझाया जाएगा। इससे स्नातक स्तर के विद्यार्थी न केवल विषय की मूल अवधारणा को समझ सकेंगे, बल्कि समकालीन अंतरराष्ट्रीय राजनीति में इसके महत्व का विश्लेषण भी कर पाएँगे।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी:-

1. सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा, सिद्धांत और उद्देश्य को समझ सकेंगे और अंतरराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के संदर्भ में इसके महत्व का मूल्यांकन कर सकेंगे।
2. सामूहिक सुरक्षा के ऐतिहासिक विकास को पहचान सकेंगे, विशेषकर वेस्टफेलिया व्यवस्था, शक्ति संतुलन, प्रथम विश्व युद्ध, राष्ट्र संघ और द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात इसके विकास को समझ सकेंगे।
3. संयुक्त राष्ट्र की भूमिका और संस्थागत ढाँचे को समझ सकेंगे, जिसमें सुरक्षा परिषद, चार्टर और अध्याय VI, VII, VIII की प्रक्रियाओं का विश्लेषण शामिल है।
4. सामूहिक सुरक्षा के प्रमुख तत्व जैसे सार्वभौमिक सदस्यता, आक्रामकता की सामूहिक पहचान और सामूहिक कार्रवाई की क्षमता का मूल्यांकन कर सकेंगे।
5. सामूहिक सुरक्षा के लाभ और सीमाओं को पहचानकर इसके व्यावहारिक प्रभाव और चुनौतियों का विश्लेषण कर सकेंगे।
6. आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में सामूहिक सुरक्षा की प्रासंगिकता का मूल्यांकन कर सकेंगे और यह समझ सकेंगे कि वैश्विक शांति बनाए रखने में यह कितनी महत्वपूर्ण है।

13.2 सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

सामूहिक सुरक्षा का तात्पर्य एक ऐसी अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था से है, जिसमें विश्व के सभी राष्ट्र यह स्वीकार करते हैं कि अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की रक्षा उनका साझा उत्तरदायित्व है। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी राज्य द्वारा की गई आक्रामक कार्रवाई को केवल उस राज्य और पीड़ित राज्य के बीच का विवाद नहीं माना जाता, बल्कि उसे पूरे अंतरराष्ट्रीय समुदाय के लिए खतरे के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा सुरक्षा की अवधारणा को व्यक्तिगत राष्ट्रों की सीमाओं से बाहर निकालकर वैश्विक स्तर पर स्थापित करती है।

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा इस सिद्धांत पर आधारित है कि यदि सभी राष्ट्र एकजुट होकर आक्रामकता का विरोध करेंगे, तो युद्ध की संभावना अपने आप कम हो जाएगी। इसका कारण यह है कि किसी भी आक्रामक राज्य को यह ज्ञात होगा कि उसके विरुद्ध केवल एक देश नहीं, बल्कि संपूर्ण अंतरराष्ट्रीय समुदाय खड़ा होगा। इस प्रकार सामूहिक प्रतिक्रिया की आशंका ही आक्रामक प्रवृत्तियों को हतोत्साहित करने का कार्य करती है।

अंतरराष्ट्रीय संबंधों के विद्वान सामूहिक सुरक्षा को केवल एक राजनीतिक व्यवस्था नहीं, बल्कि एक नैतिक सिद्धांत के रूप में भी देखते हैं। यह व्यवस्था यह मानती है कि शांति, युद्ध से कहीं अधिक मूल्यवान है और उसे बनाए रखने के लिए राष्ट्रों को अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों से ऊपर उठना चाहिए। सामूहिक सुरक्षा इसी नैतिक आधार पर सहयोग, कानून और संस्थागत नियंत्रण को प्राथमिकता देती है।

सामूहिक सुरक्षा की परिभाषा में यह तत्व भी शामिल है कि यह व्यवस्था सार्वभौमिक होती है। इसमें मित्र और शत्रु की पहचान पहले से निश्चित नहीं होती। कोई भी राज्य, यदि अंतरराष्ट्रीय कानून और शांति का उल्लंघन करता है, तो उसे आक्रामक माना जाता है और उसके विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई की जाती है। इस दृष्टि से सामूहिक सुरक्षा निष्पक्षता और समानता के सिद्धांत पर आधारित है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में सामूहिक सुरक्षा की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, जहाँ अंतरराष्ट्रीय शांति भंग करने वाले राज्यों के विरुद्ध सुरक्षा परिषद को सामूहिक कार्रवाई करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि संस्थागत और व्यवहारिक रूप भी प्रदान किया गया है।

13.2.1 सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना

सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना इस विचार पर आधारित है कि अंतरराष्ट्रीय शांति को बनाए रखना किसी एक राष्ट्र की जिम्मेदारी नहीं हो सकती, बल्कि यह समस्त अंतरराष्ट्रीय समुदाय का साझा दायित्व है। यह संकल्पना यह मानती है कि विश्व में सभी राष्ट्र किसी न किसी रूप में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक स्थान पर उत्पन्न अस्थिरता का प्रभाव अंततः अन्य क्षेत्रों तक भी पहुँचता है। इसलिए सुरक्षा को अलग–थलग राष्ट्रीय नीति के रूप में नहीं, बल्कि सामूहिक प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए।

इस संकल्पना के अनुसार, यदि कोई राज्य अंतरराष्ट्रीय नियमों और कानूनों का उल्लंघन करते हुए आक्रामक कार्रवाई करता है, तो उसके विरुद्ध सभी राष्ट्रों को एकजुट होकर प्रतिक्रिया देनी चाहिए। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि प्रतिक्रिया किसी राजनीतिक मित्रता या शत्रुता के आधार पर नहीं, बल्कि केवल आक्रामकता के आधार पर तय की जाती है। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा की संकल्पना निष्पक्षता और समान व्यवहार के सिद्धांत पर टिकी हुई है।

सामूहिक सुरक्षा की यह अवधारणा इस विश्वास को भी प्रबल करती है कि सामूहिक दबाव, चाहे वह कूटनीतिक हो, आर्थिक हो या आवश्यकता पड़ने पर सैन्य, किसी भी आक्रामक राज्य को अपनी नीति पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य कर सकता है। इस संकल्पना का उद्देश्य युद्ध को बढ़ावा देना नहीं, बल्कि युद्ध की स्थिति को उत्पन्न होने से पहले ही रोक देना है। अतः इसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक निवारक व्यवस्था के रूप में देखा जाता है।

13.2.2 सामूहिक सुरक्षा बनाम सामूहिक रक्षा

सामूहिक सुरक्षा और सामूहिक रक्षा देखने में समान प्रतीत हो सकती हैं, किंतु उनके उद्देश्य, दायरा और कार्यप्रणाली में मूलभूत अंतर है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा सार्वभौमिक होती है और यह पूरे अंतरराष्ट्रीय समुदाय की शांति बनाए रखने पर केंद्रित रहती है। इसके विपरीत सामूहिक रक्षा कुछ सीमित देशों के बीच बनाए गए सैन्य या राजनीतिक गठबंधनों पर आधारित होती है, जिनका उद्देश्य केवल अपने सदस्य देशों की सुरक्षा सुनिश्चित करना होता है।

सामूहिक रक्षा में यह पहले से निर्धारित होता है कि खतरा किससे है और किसके विरुद्ध कार्रवाई की जाएगी। इस व्यवस्था में "हम" और "वे" की स्पष्ट पहचान होती है, जिससे यह व्यवस्था अक्सर शक्ति राजनीति और गुटबंदी को बढ़ावा देती है। इसके विपरीत सामूहिक सुरक्षा में किसी भी राज्य को पहले से शत्रु नहीं माना जाता। जो भी राज्य अंतरराष्ट्रीय शांति को भंग करता है, वही आक्रामक माना जाता है, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो।

नाटो जैसे संगठन सामूहिक रक्षा का प्रमुख उदाहरण हैं, जहाँ सदस्य देशों पर आक्रमण को सभी सदस्य देशों पर आक्रमण माना जाता है। जबकि संयुक्त राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जहाँ सिद्धांत रूप में पूरे विश्व की शांति को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामूहिक रक्षा सीमित सुरक्षा प्रदान करती है, जबकि सामूहिक सुरक्षा का लक्ष्य व्यापक और वैश्विक शांति की स्थापना करना है।

13.3 सामूहिक सुरक्षा का ऐतिहासिक विकास

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा अचानक उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि यह अंतरराष्ट्रीय राजनीति के लंबे ऐतिहासिक अनुभवों का परिणाम है। प्रारंभिक काल में राज्यों की सुरक्षा का आधार शक्ति और सैन्य क्षमता हुआ करती थी। प्रत्येक राज्य अपनी रक्षा स्वयं करने का प्रयास करता था और युद्ध को एक वैध साधन माना जाता था। इस स्थिति में शांति अस्थायी होती थी और युद्ध अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था का सामान्य अंग बन गया था।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में शक्ति संतुलन की व्यवस्था विकसित हुई, जिसका उद्देश्य यह था कि कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली न हो सके कि वह पूरे महाद्वीप पर प्रभुत्व स्थापित कर ले। यद्यपि इस व्यवस्था ने कुछ समय तक स्थिरता प्रदान की, किंतु यह व्यवस्था स्थायी शांति की गारंटी नहीं बन सकी। शक्ति संतुलन अंततः प्रतिस्पर्धा और संदेह को ही बढ़ावा देता रहा।

प्रथम विश्व युद्ध के व्यापक विनाश ने अंतरराष्ट्रीय समुदाय को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि युद्ध को रोकने के लिए एक नई व्यवस्था की आवश्यकता है। इसी पृष्ठभूमि में राष्ट्र संघ की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाना और आक्रामकता के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई करना था। राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा का पहला संगठित प्रयास था।

हालाँकि राष्ट्र संघ की असफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल नैतिक अपील और कानूनी सिद्धांत पर्याप्त नहीं होते। संयुक्त राज्य अमेरिका की अनुपस्थिति, प्रमुख शक्तियों के परस्पर विरोधी हित और प्रभावी प्रवर्तन तंत्र के अभाव ने राष्ट्र संघ को कमजोर बना दिया। परिणामस्वरूप वह इटली, जर्मनी और जापान की आक्रामक नीतियों को रोकने में असफल रहा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सामूहिक सुरक्षा को अधिक मजबूत संस्थागत आधार देने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र ने सामूहिक सुरक्षा को अंतरराष्ट्रीय कानून, सुरक्षा परिषद और स्पष्ट प्रक्रियाओं के माध्यम से लागू करने का प्रयास किया। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा का ऐतिहासिक विकास आदर्शवाद से यथार्थवादी संस्थागत ढांचे की ओर एक महत्वपूर्ण संक्रमण को दर्शाता है।

13.3.1 वेस्टफेलिया व्यवस्था और शक्ति संतुलन

वेस्टफेलिया की संधि (1648) को आधुनिक राष्ट्र–राज्य व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। इस संधि ने राज्य की संप्रभुता, क्षेत्रीय अखंडता और आंतरिक मामलों में बाहरी हस्तक्षेप न करने के सिद्धांत को स्थापित किया। वेस्टफेलिया व्यवस्था के अंतर्गत प्रत्येक राज्य को अपनी सुरक्षा और अस्तित्व की रक्षा स्वयं करनी थी, जिससे सुरक्षा की अवधारणा पूरी तरह राष्ट्रीय और आत्मकेंद्रित बन गई।

इस व्यवस्था में अंतरराष्ट्रीय शांति बनाए रखने का प्रमुख साधन शक्ति संतुलन माना गया। शक्ति संतुलन का तात्पर्य यह था कि यदि किसी एक राज्य की शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, तो अन्य राज्य मिलकर उसकी शक्ति को संतुलित कर दें। इसका उद्देश्य युद्ध को रोकना था, किंतु व्यवहार में यह व्यवस्था संदेह, प्रतिस्पर्धा और हथियारों की दौड़ को बढ़ावा देती रही।

यद्यपि शक्ति संतुलन ने कुछ समय के लिए यूरोप में स्थिरता बनाए रखी, लेकिन यह व्यवस्था स्थायी शांति स्थापित करने में असफल रही। यह व्यवस्था युद्ध को अनैतिक नहीं मानती थी, बल्कि उसे एक वैध राजनीतिक साधन के रूप में स्वीकार करती थी। यही कारण था कि बार-बार युद्ध होते रहे। इन ऐतिहासिक अनुभवों ने यह स्पष्ट कर दिया कि केवल शक्ति संतुलन के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा सुनिश्चित नहीं की जा सकती, और इसी समझ ने आगे चलकर सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

13.3.2 राष्ट्र संघ (League of Nations) और सामूहिक सुरक्षा

प्रथम विश्व युद्ध के विनाशकारी अनुभवों के पश्चात अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने यह अनुभव किया कि यदि युद्ध को भविष्य में रोकना है तो एक ऐसी संस्था की आवश्यकता है जो राज्यों के बीच सहयोग को बढ़ावा दे और आक्रामकता के विरुद्ध सामूहिक प्रतिक्रिया को संभव बनाए। इसी उद्देश्य से 1919 में राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। राष्ट्र संघ को सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को व्यवहार में लागू करने का पहला संगठित प्रयास माना जाता है।

राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा प्रणाली इस विचार पर आधारित थी कि सदस्य राज्य आपसी विवादों को युद्ध के माध्यम से नहीं, बल्कि बातचीत, मध्यस्थता और पंचाट द्वारा सुलझाएँगे। यदि कोई राज्य इन प्रक्रियाओं की अनदेखी करता है और आक्रामक युद्ध करता है, तो उसे अंतरराष्ट्रीय शांति का भंगकर्ता माना जाएगा। ऐसी स्थिति में अन्य सदस्य राज्यों द्वारा उस पर आर्थिक और राजनीतिक प्रतिबंध लगाए जाने की व्यवस्था की गई थी।

हालाँकि व्यवहार में राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा को प्रभावी रूप से लागू नहीं कर सका। अमेरिका की सदस्यता न होना, प्रमुख शक्तियों के संकीर्ण राष्ट्रीय हित, सर्वसम्मति की अनिवार्यता और सैन्य शक्ति के अभाव ने इसे कमजोर बना दिया। परिणामस्वरूप इटली द्वारा इथियोपिया पर आक्रमण, जापान द्वारा मंचूरिया पर कब्ज़ा और जर्मनी की विस्तारवादी नीति को रोकने में राष्ट्र संघ विफल रहा। इस असफलता ने यह स्पष्ट कर दिया कि सामूहिक सुरक्षा को सफल बनाने के लिए मजबूत संस्थागत ढाँचे और प्रभावी प्रवर्तन तंत्र की आवश्यकता होती है।

13.3.3 द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात सामूहिक सुरक्षा का विकास

द्वितीय विश्व युद्ध ने मानव इतिहास में अभूतपूर्व विनाश, जनहानि और आर्थिक तबाही को जन्म दिया। इस युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि आक्रामक शक्तियों को समय रहते रोका नहीं गया, तो उनका प्रभाव केवल क्षेत्रीय नहीं बल्कि वैश्विक स्तर पर विनाशकारी हो सकता है। राष्ट्र संघ की विफलता से सीख लेते हुए अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने यह अनुभव किया कि सामूहिक सुरक्षा को केवल नैतिक अपीलों पर नहीं, बल्कि सुदृढ़ संस्थागत और कानूनी आधार पर स्थापित करना आवश्यक है।

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 1945 में संयुक्त राष्ट्र की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र का उद्देश्य केवल युद्ध रोकना ही नहीं था, बल्कि अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए सामूहिक कार्रवाई की एक प्रभावी प्रणाली विकसित करना भी था। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में स्पष्ट रूप से यह प्रावधान किया गया कि अंतरराष्ट्रीय शांति भंग करने वाली किसी भी आक्रामक कार्रवाई को पूरे अंतरराष्ट्रीय समुदाय के विरुद्ध अपराध माना जाएगा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को पहले की तुलना में अधिक व्यावहारिक और यथार्थवादी रूप में विकसित किया गया। सुरक्षा परिषद को यह अधिकार दिया गया कि वह शांति के लिए खतरे की पहचान करे और आवश्यक होने पर आर्थिक प्रतिबंधों अथवा सैन्य कार्रवाई की अनुमति दे। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा को एक संगठित निर्णय–प्रक्रिया और प्रवर्तन तंत्र प्राप्त हुआ।

हालाँकि शीत युद्ध के दौरान महाशक्तियों के वैचारिक टकराव और वीटो शक्ति के प्रयोग ने सामूहिक सुरक्षा की प्रभावशीलता को सीमित कर दिया, फिर भी संयुक्त राष्ट्र की स्थापना ने इस अवधारणा को स्थायी वैश्विक ढाँचा प्रदान किया। इस दौर में शांति स्थापना अभियानों और कूटनीतिक प्रयासों के माध्यम से सामूहिक सुरक्षा को नए रूपों में लागू करने का प्रयास किया गया।

इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात सामूहिक सुरक्षा का विकास आदर्शवादी कल्पना से आगे बढ़कर एक संस्थागत, कानूनी और आंशिक रूप से व्यवहारिक व्यवस्था के रूप में सामने आया। यह विकास अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सहयोग और सामूहिक उत्तरदायित्व की बढ़ती आवश्यकता को दर्शाता है।

13.4 संयुक्त राष्ट्र और सामूहिक सुरक्षा प्रणाली

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से की गई थी। इसके संस्थापक देशों का यह विश्वास था कि यदि अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने के लिए एक स्थायी, सार्वभौमिक और कानूनी संस्था होगी, तो भविष्य में विश्व युद्ध जैसी त्रासदियों को रोका जा सकेगा। संयुक्त राष्ट्र को इस प्रकार संरचित किया गया कि वह न केवल युद्ध के बाद शांति बहाल कर सके, बल्कि युद्ध की संभावना को प्रारंभिक स्तर पर ही नियंत्रित कर सके।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में सामूहिक सुरक्षा को केंद्रीय स्थान दिया गया है। चार्टर का मुख्य उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखना, राज्यों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित करना और विवादों का शांतिपूर्ण समाधान सुनिश्चित

करना है। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा को केवल एक सिद्धांत नहीं, बल्कि एक कानूनी दायित्व के रूप में प्रस्तुत करता है, जिसे सभी सदस्य देशों द्वारा स्वीकार किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा प्रणाली इस विचार पर आधारित है कि आक्रामकता को व्यक्तिगत समस्या न मानकर सामूहिक चिंता का विषय बनाया जाए। जब कोई राज्य अंतरराष्ट्रीय शांति के लिए खतरा उत्पन्न करता है, तो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देश संयुक्त रूप से प्रतिक्रिया देने के लिए बाध्य होते हैं। यह प्रतिक्रिया सैन्य हस्तक्षेप तक सीमित नहीं होती, बल्कि इसमें कूटनीतिक प्रयास, आर्थिक प्रतिबंध और राजनीतिक दबाव भी शामिल होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह अंतरराष्ट्रीय कानून और संस्थागत प्रक्रिया पर आधारित है। किसी भी प्रकार की कार्रवाई व्यक्तिगत निर्णय पर नहीं, बल्कि सामूहिक विचार–विमर्श और औपचारिक निर्णय प्रक्रिया के माध्यम से की जाती है। इससे इस व्यवस्था को वैधता और नैतिक बल प्राप्त होता है।

हालाँकि व्यवहार में संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा प्रणाली अनेक चुनौतियों का सामना करती रही है, फिर भी यह आज भी वैश्विक स्तर पर शांति बनाए रखने का सबसे व्यापक और मान्य ढाँचा है। इसकी सीमाओं के बावजूद, संयुक्त राष्ट्र ने सामूहिक सुरक्षा को एक स्थायी अंतरराष्ट्रीय आदर्श के रूप में स्थापित किया है।

13.4.1 संयुक्त राष्ट्र चार्टर में सामूहिक सुरक्षा

संयुक्त राष्ट्र चार्टर सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा का कानूनी और वैचारिक आधार प्रस्तुत करता है। चार्टर की प्रस्तावना में ही अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने की प्रतिबद्धता व्यक्त की गई है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि भविष्य की पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए राष्ट्रों के बीच सहयोग और सामूहिक प्रयास अनिवार्य हैं। इस प्रकार चार्टर सामूहिक सुरक्षा को केवल एक राजनीतिक लक्ष्य नहीं, बल्कि एक साझा नैतिक दायित्व के रूप में स्थापित करता है।

चार्टर का अनुच्छेद 1 संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख उद्देश्यों में अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने तथा शांति के लिए खतरे को रोकने की बात करता है। इसमें यह भी कहा गया है कि विवादों का समाधान शांतिपूर्ण साधनों से किया जाना चाहिए और बल प्रयोग को अंतिम विकल्प के रूप में ही अपनाया जाए। यह प्रावधान सामूहिक सुरक्षा की उस मूल भावना को दर्शाता है, जिसमें युद्ध को सामान्य राजनीतिक साधन के रूप में अस्वीकार किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय VII में सामूहिक सुरक्षा को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है। इस अध्याय के अंतर्गत सुरक्षा परिषद को यह अधिकार दिया गया है कि वह शांति के लिए खतरे, शांति भंग या आक्रामकता के कृत्य की पहचान करे और उसके विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई की अनुमति दे। इस कार्रवाई में आर्थिक प्रतिबंध, कूटनीतिक उपाय तथा आवश्यकता पड़ने पर सैन्य हस्तक्षेप भी शामिल हो सकता है।

चार्टर में आत्मरक्षा के अधिकार को भी मान्यता दी गई है, किंतु इसे अस्थायी और सीमित माना गया है। अनुच्छेद 51 के अनुसार कोई भी राज्य तब तक आत्मरक्षा कर सकता है, जब तक सुरक्षा परिषद अंतरराष्ट्रीय शांति बनाए

रखने के लिए आवश्यक कदम न उठा ले। यह व्यवस्था यह सुनिश्चित करती है कि व्यक्तिगत सुरक्षा अधिकार सामूहिक सुरक्षा प्रणाली को कमजोर न करें।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र चार्टर सामूहिक सुरक्षा को स्पष्ट नियमों, संस्थागत ढाँचे और कानूनी वैधता के साथ प्रस्तुत करता है। यद्यपि व्यवहार में इसकी प्रभावशीलता पर प्रश्न उठते रहे हैं, फिर भी चार्टर ने सामूहिक सुरक्षा को अंतरराष्ट्रीय राजनीति का एक अनिवार्य और स्वीकृत सिद्धांत बना दिया है।

13.4.2 सुरक्षा परिषद की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा प्रणाली में सुरक्षा परिषद को केंद्रीय और निर्णायक भूमिका प्रदान की गई है। सुरक्षा परिषद को अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने की प्राथमिक जिम्मेदारी सौंपी गई है, जिससे यह संयुक्त राष्ट्र की सबसे शक्तिशाली संस्था बन जाती है। परिषद के निर्णय सभी सदस्य देशों पर बाध्यकारी होते हैं, जो सामूहिक सुरक्षा को प्रभावी बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

सुरक्षा परिषद का प्रमुख कार्य यह निर्धारित करना है कि किसी विशेष स्थिति से अंतरराष्ट्रीय शांति को खतरा है या नहीं। यदि परिषद यह निष्कर्ष निकालती है कि किसी राज्य की कार्रवाई शांति भंग या आक्रामकता के अंतर्गत आती है, तो वह सामूहिक प्रतिक्रिया की प्रक्रिया आरंभ कर सकती है। इस प्रक्रिया में पहले शांतिपूर्ण उपायों को प्राथमिकता दी जाती है, जैसे कूटनीतिक बातचीत, मध्यस्थता और चेतावनी।

यदि शांतिपूर्ण उपाय असफल हो जाते हैं, तो सुरक्षा परिषद को आर्थिक और राजनीतिक प्रतिबंध लगाने का अधिकार प्राप्त है। इन प्रतिबंधों का उद्देश्य आक्रामक राज्य पर दबाव डालकर उसे अंतरराष्ट्रीय नियमों का पालन करने के लिए बाध्य करना होता है। इसके अंतर्गत व्यापार प्रतिबंध, वित्तीय नियंत्रण और कूटनीतिक अलगाव जैसे उपाय शामिल होते हैं।

अत्यधिक गंभीर परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद सैन्य कार्रवाई की अनुमति भी दे सकती है। यह सैन्य कार्रवाई संयुक्त राष्ट्र के प्रत्यक्ष नियंत्रण में या सदस्य देशों के सहयोग से की जा सकती है। हालाँकि यह कदम अंतिम उपाय माना जाता है और इसका उद्देश्य युद्ध फैलाना नहीं, बल्कि शांति बहाल करना होता है।

हालाँकि सुरक्षा परिषद की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, फिर भी स्थायी सदस्यों की वीटो शक्ति ने कई बार इसकी प्रभावशीलता को सीमित किया है। इसके बावजूद सुरक्षा परिषद आज भी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का मुख्य स्तंभ बनी हुई है और वैश्विक शांति बनाए रखने में इसकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

13.4.3 अध्याय VI, VII और VIII का महत्व

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय VI, VII और VIII सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के व्यवहारिक ढाँचे को स्पष्ट करते हैं। ये अध्याय यह निर्धारित करते हैं कि अंतरराष्ट्रीय विवादों से निपटने के लिए कौन-कौन से उपाय अपनाए जा सकते हैं और किस परिस्थिति में किस प्रकार की कार्रवाई उचित होगी। इन अध्यायों के माध्यम से सामूहिक सुरक्षा को केवल सिद्धांत के स्तर पर नहीं, बल्कि कार्यात्मक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय VI का संबंध विवादों के शांतिपूर्ण समाधान से है। इसके अंतर्गत वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, सुलह, पंचाट और न्यायिक समाधान जैसे उपायों को प्राथमिकता दी जाती है। यह अध्याय यह दर्शाता है कि संयुक्त राष्ट्र का पहला उद्देश्य युद्ध को रोकना है, न कि तुरंत बल प्रयोग करना। इस प्रकार अध्याय VI सामूहिक सुरक्षा के निवारक और शांतिपूर्ण पक्ष को मजबूत करता है।

अध्याय VII सामूहिक सुरक्षा की कठोर और प्रवर्तनात्मक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। जब शांतिपूर्ण उपाय असफल हो जाते हैं और अंतरराष्ट्रीय शांति को गंभीर खतरा उत्पन्न होता है, तब सुरक्षा परिषद इस अध्याय के अंतर्गत कार्रवाई कर सकती है। इसमें आर्थिक प्रतिबंधों से लेकर सैन्य हस्तक्षेप तक के प्रावधान शामिल हैं। यह अध्याय सामूहिक सुरक्षा को प्रभावी बनाने का मुख्य साधन है।

अध्याय VIII क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका को मान्यता देता है। इसके अनुसार क्षेत्रीय संगठन स्थानीय विवादों को सुलझाने में सहायक हो सकते हैं, बशर्ते उनकी गतिविधियाँ संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धांतों के अनुरूप हों। इससे यह स्पष्ट होता है कि सामूहिक सुरक्षा केवल वैश्विक स्तर पर ही नहीं, बल्कि क्षेत्रीय सहयोग के माध्यम से भी सुदृढ़ की जा सकती है।

इन तीनों अध्यायों का संयुक्त महत्व यह है कि वे सामूहिक सुरक्षा को लचीला, क्रमिक और व्यावहारिक बनाते हैं। शांतिपूर्ण समाधान से लेकर कठोर कार्रवाई तक की स्पष्ट प्रक्रिया यह सुनिश्चित करती है कि सुरक्षा व्यवस्था मनमानी न होकर कानूनी और संस्थागत नियंत्रण में रहे।

13.5 सामूहिक सुरक्षा के प्रमुख तत्व

सामूहिक सुरक्षा केवल एक सैद्धांतिक विचार नहीं है, बल्कि यह कुछ मूलभूत तत्वों पर आधारित एक सुव्यवस्थित व्यवस्था है। इन तत्वों के बिना सामूहिक सुरक्षा प्रभावी रूप से कार्य नहीं कर सकती। ये तत्व अंतरराष्ट्रीय सहयोग, समान उत्तरदायित्व और नियम-आधारित व्यवस्था को सुदृढ़ करते हैं। सामूहिक सुरक्षा का पूरा ढाँचा इस विश्वास पर टिका होता है कि सभी राष्ट्र मिलकर शांति बनाए रखने के लिए प्रतिबद्ध रहेंगे।

सामूहिक सुरक्षा का पहला प्रमुख तत्व यह है कि सुरक्षा को व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामूहिक दायित्व माना जाए। इसका अर्थ यह है कि कोई भी राज्य यह नहीं कह सकता कि किसी अन्य क्षेत्र में हो रही आक्रामकता उससे संबंधित नहीं है। इस तत्व के माध्यम से वैश्विक उदासीनता को समाप्त करने और साझा जिम्मेदारी की भावना विकसित करने का प्रयास किया जाता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व अंतरराष्ट्रीय नियमों और कानूनों की स्वीकृति है। सामूहिक सुरक्षा तभी प्रभावी हो सकती है जब सभी राज्य अंतरराष्ट्रीय कानून, संधियों और संयुक्त राष्ट्र चार्टर के प्रावधानों का सम्मान करें। नियमों की समान स्वीकृति ही यह सुनिश्चित करती है कि सामूहिक कार्रवाई निष्पक्ष और वैध बनी रहे।

तीसरा तत्व संस्थागत व्यवस्था का है। सामूहिक सुरक्षा को लागू करने के लिए संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्थाओं की आवश्यकता होती है, जो निर्णय लेने, विवादों का मूल्यांकन करने और कार्रवाई को नियंत्रित करने का कार्य करें। बिना संस्थागत ढाँचे के सामूहिक सुरक्षा केवल एक नैतिक अपील बनकर रह जाती है।

अंततः सामूहिक कार्रवाई की इच्छा और क्षमता भी सामूहिक सुरक्षा का एक अनिवार्य तत्व है। यदि राष्ट्र सिद्धांत रूप में तो सामूहिक सुरक्षा को स्वीकार करें, लेकिन व्यवहार में सहयोग न करें, तो यह व्यवस्था निष्प्रभावी हो जाती है। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा के प्रमुख तत्व परस्पर जुड़े हुए हैं और एक-दूसरे को सुदृढ़ करते हैं।

13.5.1 सार्वभौमिक सदस्यता

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा तभी प्रभावी हो सकती है जब इसमें सभी राष्ट्र शामिल हों और सदस्यता सार्वभौमिक हो। सार्वभौमिक सदस्यता का अर्थ केवल कुछ शक्तिशाली देशों या सीमित क्षेत्रीय समूहों तक सुरक्षा व्यवस्था को सीमित न रखना है, बल्कि यह सुनिश्चित करना है कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय का हर राज्य इस व्यवस्था में सम्मिलित हो। इससे सामूहिक सुरक्षा की वैधता और प्रभावशीलता दोनों बढ़ती हैं।

सर्व सदस्य देशों की भागीदारी से यह सुनिश्चित होता है कि किसी भी आक्रामक राज्य को अपने कार्यों के लिए बचने का अवसर न मिले। यदि कुछ शक्तिशाली या रणनीतिक देशों को इस प्रणाली से बाहर रखा जाए, तो आक्रामकता को बढ़ावा मिल सकता है और व्यवस्था का उद्देश्य कमजोर पड़ सकता है। इसलिए सार्वभौमिक सदस्यता सामूहिक सुरक्षा की नैतिक और व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से अनिवार्य तत्व है।

साथ ही सार्वभौमिक सदस्यता अंतरराष्ट्रीय सहयोग और साझा उत्तरदायित्व की भावना को प्रबल करती है। यह प्रत्येक राज्य को यह स्मरण कराती है कि शांति का उल्लंघन केवल पीड़ित राज्य का नहीं, बल्कि पूरे विश्व के लिए खतरा है। इसी कारण संयुक्त राष्ट्र जैसी वैश्विक संस्थाओं ने सार्वभौमिक सदस्यता को अपने चार्टर में मुख्य आधार बनाया है।

13.5.2 आक्रामकता की सामूहिक पहचान

सामूहिक सुरक्षा की प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर करती है कि आक्रामकता को सभी सदस्य राष्ट्र एक समान रूप से पहचानें। यदि किसी राज्य की आक्रामक कार्रवाई को केवल कुछ देशों द्वारा ही आक्रामक माना जाए और अन्य इसे नजरअंदाज करें, तो सामूहिक सुरक्षा प्रणाली कमजोर पड़ जाती है। इसलिए अंतरराष्ट्रीय समुदाय में स्पष्ट और साझा मानक आवश्यक हैं, जो यह तय करें कि कौन-सी कार्रवाई अंतरराष्ट्रीय शांति को भंग करती है।

आक्रामकता की सामूहिक पहचान का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि इसे किसी राजनीतिक या आर्थिक हित के आधार पर प्रभावित नहीं किया जाना चाहिए। सभी सदस्य राष्ट्रों को निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इससे सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की वैधता और विश्वास दोनों बढ़ते हैं। यदि आक्रामकता की पहचान असमान या पक्षपाती हो, तो आक्रामक राज्य इसे अपने लिए अवसर के रूप में देख सकता है और वैश्विक शांति खतरे में पड़ सकती है।

इस प्रकार आक्रामकता की सामूहिक पहचान न केवल कार्रवाई के लिए प्रारंभिक आधार प्रदान करती है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय कानून और नैतिकता के सिद्धांत को भी मजबूती देती है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में इसी सिद्धांत को स्थान दिया गया है, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि आक्रामकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया न केवल सक्षम बल्कि न्यायसंगत भी हो।

13.5.3 सामूहिक कार्रवाई की क्षमता

सामूहिक सुरक्षा की प्रणाली तभी प्रभावी हो सकती है जब सदस्य राष्ट्र न केवल आक्रामकता को पहचानें, बल्कि उसके विरुद्ध निर्णायक और सामूहिक कार्रवाई करने में सक्षम हों। सामूहिक कार्रवाई की क्षमता का अर्थ यह है कि सदस्य राष्ट्र अपने संसाधनों—चाहे वे सैन्य, आर्थिक या कूटनीतिक हों—को एकजुट रूप से नियोजित कर सकें, ताकि आक्रामक राज्य को उसकी नीति बदलने के लिए मजबूर किया जा सके।

यह क्षमता कई स्तरों पर काम करती है। पहला, कूटनीतिक दबाव और आर्थिक प्रतिबंध के माध्यम से आक्रामक राज्य को अंतरराष्ट्रीय नियमों का पालन करने के लिए प्रेरित किया जाता है। दूसरा, यदि स्थिति अत्यंत गंभीर हो, तो सदस्य देशों के सैन्य संसाधनों का सामूहिक उपयोग करके शांति बहाल की जा सकती है। इस प्रकार सामूहिक कार्रवाई की क्षमता न केवल प्रतिक्रिया का साधन है, बल्कि आक्रामकता को रोकने के लिए निवारक (preventive) उपकरण के रूप में भी कार्य करती है।

सामूहिक कार्रवाई की क्षमता के बिना, सामूहिक सुरक्षा केवल एक सिद्धांत बनकर रह जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि सदस्य राष्ट्र अपने संसाधनों और नीतियों को साझा उत्तरदायित्व के तहत सामूहिक सुरक्षा के लिए समर्पित करें। यह न केवल आक्रामक राज्यों के लिए डर का कारक बनता है, बल्कि अंतरराष्ट्रीय समुदाय में विश्वास और सहयोग की भावना को भी मजबूत करता है।

13.6 सामूहिक सुरक्षा के लाभ

सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के कई महत्वपूर्ण लाभ हैं, जो इसे अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अनिवार्य और मूल्यवान बनाते हैं। सबसे पहले, यह विश्व शांति और सुरक्षा बनाए रखने का सबसे प्रभावी साधन है। जब सभी राष्ट्र आक्रामकता के विरुद्ध एकजुट रहते हैं, तो युद्ध की संभावना कम हो जाती है। आक्रामक राज्य यह जानकर कि उसके विरुद्ध पूरे अंतरराष्ट्रीय समुदाय का विरोध होगा, अपनी नीतियों में संशोधन करने के लिए प्रेरित होता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि सामूहिक सुरक्षा कमजोर देशों को सुरक्षा की गारंटी प्रदान करती है। केवल शक्तिशाली देशों के संरक्षण पर निर्भर रहने के बजाय, सामूहिक सुरक्षा प्रणाली में सभी सदस्य राष्ट्र समान रूप से जिम्मेदार होते हैं। इससे छोटे और कम शक्तिशाली राष्ट्र भी आक्रामकता के खिलाफ सुरक्षित महसूस कर सकते हैं और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में उनकी भागीदारी बढ़ती है।

तीसरा लाभ यह है कि यह अंतरराष्ट्रीय सहयोग और आपसी विश्वास को बढ़ावा देती है। जब सदस्य राष्ट्र साझा उत्तरदायित्व निभाते हैं, तो उनके बीच संवाद और सहयोग का माहौल मजबूत होता है। इससे वैश्विक राजनीति में संदेह और प्रतिस्पर्धा की भावना कम होती है और विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

चौथा लाभ यह है कि सामूहिक सुरक्षा प्रणाली अंतरराष्ट्रीय कानून और नियमों के पालन को सुनिश्चित करती है। आक्रामक राज्य यह जानते हैं कि नियमों का उल्लंघन केवल नैतिक समस्या नहीं बल्कि अंतरराष्ट्रीय कार्रवाई का कारण बनेगा। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में न्याय और कानूनी अनुशासन को भी मजबूती प्रदान करता है।

अंततः, सामूहिक सुरक्षा के माध्यम से युद्ध को रोकने और विवादों को नियंत्रित करने का उद्देश्य केवल तत्काल संकट समाधान नहीं है, बल्कि दीर्घकालिक शांति और स्थिरता स्थापित करना है। यह प्रणाली अंतरराष्ट्रीय राजनीति में स्थायी शांति की दिशा में सबसे संगठित और प्रभावी प्रयास के रूप में देखी जाती है।

13.7 सामूहिक सुरक्षा की सीमाएँ और चुनौतियाँ

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा आदर्शवादी और नैतिक रूप से प्रभावशाली होने के बावजूद, व्यवहार में कई सीमाओं और चुनौतियों का सामना करती है। सबसे पहली और प्रमुख सीमा यह है कि सभी राष्ट्रों का पूर्ण सहयोग हमेशा सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र अक्सर अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों और रणनीतिक प्राथमिकताओं को प्राथमिकता देते हैं। यदि कोई या कुछ शक्तिशाली राष्ट्र सहयोग में असमर्थ या अनिच्छुक हों, तो पूरी प्रणाली कमजोर पड़ जाती है।

दूसरी चुनौती यह है कि आक्रामकता की पहचान हमेशा स्पष्ट और सर्वसम्मति से संभव नहीं होती। अंतरराष्ट्रीय विवाद और राजनीतिक टकराव अक्सर जटिल और बहुआयामी होते हैं। किसी कार्रवाई को आक्रामक मानने में मतभेद या पक्षपात पैदा हो सकते हैं। जब आक्रामकता की सामूहिक पहचान पर विवाद होता है, तो सामूहिक कार्रवाई या तो विलंबित हो जाती है या पूरी तरह विफल हो जाती है।

तीसरी सीमा वीटो शक्ति और निर्णय प्रक्रियाओं से संबंधित है। विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यों की वीटो शक्ति कई बार सामूहिक कार्रवाई को रोकती रही है। यह स्थिति दिखाती है कि जब प्रमुख शक्तियाँ अपने हितों के आधार पर वीटो का प्रयोग करती हैं, तो वैश्विक स्तर पर आक्रामकता को रोकने की क्षमता सीमित हो जाती है।

अतिरिक्त रूप से, सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की प्रभावशीलता संसाधनों और कार्यान्वयन तंत्र पर भी निर्भर करती है। यदि सदस्य राष्ट्र आवश्यक सैन्य, आर्थिक या कूटनीतिक साधन उपलब्ध नहीं कराते, तो प्रणाली केवल सिद्धांत रूप में ही रह जाती है। इसके अलावा, अंतरराष्ट्रीय सहयोग में धीमे निर्णय और राजनीतिक जटिलताएँ भी सामूहिक सुरक्षा के कार्यान्वयन में बाधा डालती हैं।

इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा के लाभों के बावजूद इसके कई व्यावहारिक और संरचनात्मक सीमाएँ हैं। ये सीमाएँ यह संकेत देती हैं कि सामूहिक सुरक्षा प्रणाली को प्रभावी बनाने के लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग, संस्थागत सुधार और निर्णय प्रक्रियाओं में सुधार आवश्यक है

13.8 सामूहिक सुरक्षा और क्षेत्रीय संगठन

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा का विकास केवल वैश्विक स्तर पर ही नहीं हुआ है, बल्कि समय के साथ इसका विस्तार क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से भी हुआ है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति में यह अनुभव सामने आया कि संयुक्त राष्ट्र जैसी वैश्विक संस्था हर क्षेत्रीय संघर्ष में तुरंत, प्रभावी और स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप हस्तक्षेप नहीं कर पाती। इसी पृष्ठभूमि में क्षेत्रीय संगठन सामूहिक सुरक्षा के व्यावहारिक उपकरण के रूप में उभरे। ये संगठन भौगोलिक निकटता, सांस्कृतिक समानता और साझा सुरक्षा हितों के आधार पर अपने क्षेत्र में शांति बनाए रखने का प्रयास करते हैं।

क्षेत्रीय संगठनों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित होती है कि क्षेत्रीय अस्थिरता अंततः वैश्विक शांति को प्रभावित करती है। इसलिए क्षेत्रीय स्तर पर सहयोग और सामूहिक प्रतिक्रिया आवश्यक मानी जाती है। नाटो, वारसा संधि, अफ्रीकी संघ और यूरोपीय संघ जैसे संगठन इस बात का उदाहरण हैं कि कैसे क्षेत्रीय ढाँचे वैश्विक सामूहिक सुरक्षा प्रणाली के पूरक बन सकते हैं। ये संगठन कई बार संयुक्त राष्ट्र के साथ समन्वय करते हुए कार्य करते हैं और अध्याय VIII के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय शांति प्रयासों को सशक्त बनाते हैं।

इस प्रकार, क्षेत्रीय संगठन सामूहिक सुरक्षा को अधिक व्यवहारिक, त्वरित और प्रभावी बनाते हैं। वे न केवल सैन्य सुरक्षा तक सीमित रहते हैं, बल्कि राजनीतिक स्थिरता, संघर्ष समाधान और विश्वास निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इससे सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा अधिक व्यापक और बहुस्तरीय बनती है।

3.8.1 नाटो (NATO)

नाटो, अर्थात उत्तर अटलांटिक संधि संगठन, सामूहिक सुरक्षा पर आधारित सबसे प्रभावशाली क्षेत्रीय सैन्य संगठन माना जाता है। इसकी स्थापना 1949 में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उस समय की गई, जब यूरोप में राजनीतिक अस्थिरता और सोवियत संघ के विस्तार को लेकर पश्चिमी देशों में सुरक्षा संबंधी चिंताएँ बढ़ रही थीं। नाटो की स्थापना का मूल उद्देश्य अपने सदस्य देशों की सामूहिक रक्षा सुनिश्चित करना और किसी भी बाहरी आक्रमण के विरुद्ध एकजुट प्रतिक्रिया प्रदान करना था। इसका केंद्रीय सिद्धांत यह है कि यदि किसी एक सदस्य देश पर हमला होता है, तो उसे सभी सदस्य देशों पर हमला माना जाएगा।

नाटो की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था केवल सैन्य गठबंधन तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें राजनीतिक परामर्श, रणनीतिक समन्वय और संयुक्त निर्णय प्रक्रिया भी शामिल है। सदस्य देशों के बीच सैन्य अभ्यास, साझा रक्षा योजना और संसाधनों का सामूहिक उपयोग इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। शीत युद्ध के दौरान नाटो ने पश्चिमी यूरोप में सुरक्षा और स्थिरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और साम्यवादी प्रभाव के प्रसार को सीमित किया।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद नाटो की भूमिका और स्वरूप में भी परिवर्तन आया। अब इसका कार्यक्षेत्र केवल सामूहिक रक्षा तक सीमित न रहकर संकट प्रबंधन, आतंकवाद विरोधी अभियानों और शांति स्थापना कार्यों तक विस्तारित हो गया। बाल्कन क्षेत्र, अफगानिस्तान और अन्य संकटग्रस्त क्षेत्रों में नाटो की सक्रियता यह दर्शाती है कि क्षेत्रीय संगठन भी वैश्विक सामूहिक सुरक्षा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

हालाँकि, नाटो की आलोचना भी की जाती रही है। कुछ विद्वानों का मानना है कि नाटो की कार्रवाइयाँ कभी-कभी संयुक्त राष्ट्र की भूमिका को कमज़ोर करती हैं और यह संगठन शक्तिशाली देशों के हितों को अधिक प्राथमिकता देता है। इसके बावजूद, नाटो सामूहिक सुरक्षा के क्षेत्रीय मॉडल का एक सशक्त और प्रभावशाली उदाहरण बना हुआ है, जिसने अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा संरचना को गहराई से प्रभावित किया है।

13.8.2 वारसा संधि

वारसा संधि शीत युद्ध के दौरान सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा पर आधारित एक प्रमुख क्षेत्रीय सैन्य गठबंधन था, जिसकी स्थापना 1955 में की गई थी। यह संधि मुख्य रूप से नाटो के गठन के प्रत्युत्तर में अस्तित्व में आई और इसका नेतृत्व सोवियत संघ द्वारा किया गया। वारसा संधि में पूर्वी यूरोप के समाजवादी देश शामिल थे, जिनका उद्देश्य पश्चिमी सैन्य प्रभाव का सामूहिक रूप से सामना करना और अपने क्षेत्रीय हितों की रक्षा करना था। इस प्रकार, वारसा संधि ने शीत युद्ध की द्विध्रुवीय अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था में सामूहिक सुरक्षा को वैचारिक और सैन्य आधार प्रदान किया।

औपचारिक रूप से वारसा संधि का आधार यह था कि किसी एक सदस्य देश पर आक्रमण पूरे गठबंधन पर आक्रमण माना जाएगा। किंतु व्यवहार में इसकी संरचना अत्यधिक केंद्रीकृत थी और सोवियत संघ का प्रभुत्व इसमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता था। सदस्य देशों की सुरक्षा नीतियाँ और सैन्य निर्णय स्वतंत्र न होकर सामूहिक नाम पर नियंत्रित किए जाते थे। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या यह वास्तव में समान भागीदारी पर आधारित सामूहिक सुरक्षा थी या एक महाशक्ति द्वारा नियंत्रित सुरक्षा व्यवस्था।

वारसा संधि का उपयोग कई बार आंतरिक असंतोष और राजनीतिक विरोध को दबाने के लिए भी किया गया, जैसे हंगरी और चेकोस्लोवाकिया में सैन्य हस्तक्षेप। इन घटनाओं ने सामूहिक सुरक्षा की नैतिकता और वैधता पर गंभीर प्रश्न खड़े किए। इससे यह स्पष्ट हुआ कि यदि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में लोकतांत्रिक सहमति और संप्रभुता का सम्मान नहीं किया जाए, तो वह दमन का साधन भी बन सकती है।

शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ के विघटन के साथ ही 1991 में वारसा संधि को औपचारिक रूप से समाप्त कर दिया गया। इसका पतन इस बात का प्रमाण है कि सामूहिक सुरक्षा केवल सैन्य शक्ति या वैचारिक एकता पर नहीं टिक सकती, बल्कि इसके लिए पारस्परिक विश्वास, समानता और स्वैच्छिक सहयोग आवश्यक होता है। वारसा संधि का अनुभव सामूहिक सुरक्षा की सीमाओं को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उदाहरण प्रदान करता है।

13.8.3 क्षेत्रीय सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र

क्षेत्रीय सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र के बीच संबंध सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण आयाम है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय VIII में यह स्पष्ट किया गया है कि क्षेत्रीय संगठन अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने में सहायक भूमिका निभा सकते हैं, बशर्ते उनकी गतिविधियाँ संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धांतों के अनुरूप हों। इसका तात्पर्य यह है कि संयुक्त राष्ट्र क्षेत्रीय संगठनों को वैश्विक सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के पूरक के रूप में मान्यता देता है, न कि प्रतिस्पर्धी के रूप में।

क्षेत्रीय संगठनों की भूमिका विशेष रूप से तब महत्वपूर्ण हो जाती है जब किसी क्षेत्र में उत्पन्न संकट स्थानीय प्रकृति का होता है और तत्काल हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। ऐसे मामलों में क्षेत्रीय संगठन अपनी भौगोलिक निकटता और स्थानीय परिस्थितियों की बेहतर समझ के कारण अधिक प्रभावी ढंग से कार्य कर सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र अक्सर इन संगठनों के साथ समन्वय स्थापित कर शांति प्रयासों को सुदृढ़ करता है, जिससे सामूहिक सुरक्षा अधिक व्यवहारिक बनती है।

अफ्रीकी संघ, यूरोपीय संघ, आसियान और अरब लीग जैसे संगठन क्षेत्रीय स्तर पर संघर्ष समाधान और शांति स्थापना में सक्रिय भूमिका निभाते हैं। इन संगठनों के प्रयास संयुक्त राष्ट्र के व्यापक ढाँचे के अंतर्गत किए जाते हैं, जिससे अंतरराष्ट्रीय वैधता बनी रहती है। इस सहयोगात्मक मॉडल से यह स्पष्ट होता है कि वैश्विक और क्षेत्रीय सुरक्षा तंत्र एक-दूसरे के पूरक हैं।

इस प्रकार, क्षेत्रीय सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र के बीच सहयोग सामूहिक सुरक्षा को बहुस्तरीय और अधिक प्रभावी बनाता है। यह व्यवस्था न केवल वैश्विक शांति बनाए रखने में सहायक है, बल्कि स्थानीय समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त मंच भी प्रदान करती है।

13.9 शीत युद्धोत्तर काल में सामूहिक सुरक्षा

शीत युद्ध की समाप्ति के साथ ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सामूहिक सुरक्षा की प्रकृति और भूमिका में गहरे परिवर्तन देखने को मिले। द्विध्रुवीय विश्व व्यवस्था, जो मुख्यतः अमेरिका और सोवियत संघ के शक्ति संघर्ष पर आधारित थी, उसके अंत के बाद अंतरराष्ट्रीय प्रणाली अधिक जटिल और बहुआयामी हो गई। इस नए परिदृश्य में सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य केवल महाशक्तियों के बीच युद्ध को रोकना नहीं रहा, बल्कि वैश्विक शांति, स्थिरता और सहयोग को व्यापक रूप में सुनिश्चित करना बन गया।

शीत युद्धोत्तर काल में यह स्पष्ट हुआ कि सुरक्षा की चुनौतियाँ अब केवल राज्यों के बीच सैन्य संघर्ष तक सीमित नहीं हैं। आंतरिक संघर्ष, जातीय हिंसा, गृहयुद्ध, आतंकवाद और मानवीय संकट जैसे मुद्दे अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा के केंद्र में आ गए। इन परिस्थितियों ने सामूहिक सुरक्षा की पारंपरिक अवधारणा को चुनौती दी और इसके दायरे को विस्तृत करने की आवश्यकता उत्पन्न की। संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं को अब ऐसी परिस्थितियों में हस्तक्षेप करना पड़ा जहाँ खतरा सीधे किसी राज्य की सीमाओं पर नहीं, बल्कि मानव जीवन और सामाजिक स्थिरता पर था।

इस काल में सामूहिक सुरक्षा का स्वरूप अधिक मानवीय और बहुपक्षीय होता गया। शांति स्थापना, संघर्ष प्रबंधन और पुनर्निर्माण जैसे कार्य सामूहिक सुरक्षा के अभिन्न अंग बन गए। अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने यह स्वीकार किया कि स्थायी शांति केवल सैन्य शक्ति के माध्यम से नहीं, बल्कि राजनीतिक समाधान, आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के माध्यम से ही संभव है। इस प्रकार, शीत युद्धोत्तर काल ने सामूहिक सुरक्षा को अधिक व्यापक, लचीला और व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

13.9.1 बदलती सुरक्षा अवधारणाएँ

शीत युद्धोत्तर काल में सुरक्षा की अवधारणा में मौलिक परिवर्तन देखने को मिलता है। पारंपरिक रूप से सुरक्षा को राज्यों की सीमाओं की रक्षा और सैन्य शक्ति के संतुलन के रूप में देखा जाता था, किंतु आधुनिक अंतरराष्ट्रीय परिवेश में यह दृष्टिकोण अपर्याप्त सिद्ध हुआ। अब यह समझ विकसित हुई है कि केवल सैन्य खतरे ही सुरक्षा के लिए चुनौती नहीं हैं, बल्कि आर्थिक असमानता, पर्यावरणीय संकट, महामारी, साइबर हमले और सामाजिक अस्थिरता भी वैश्विक सुरक्षा को प्रभावित करते हैं। इस परिवर्तन ने सामूहिक सुरक्षा की परिधि को व्यापक बना दिया है।

मानव सुरक्षा की अवधारणा ने सुरक्षा के केंद्र को राज्य से व्यक्ति की ओर स्थानांतरित किया है। इसके अंतर्गत यह माना जाता है कि यदि नागरिक भय, भूख, बीमारी और हिंसा से सुरक्षित नहीं हैं, तो किसी भी राज्य को वास्तव में सुरक्षित नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिकोण ने सामूहिक सुरक्षा को अधिक मानवीय और समावेशी स्वरूप प्रदान किया है। संयुक्त राष्ट्र ने भी विकास, मानवाधिकार और शांति को परस्पर जुड़ा हुआ मानते हुए अपनी सुरक्षा रणनीतियों में इन तत्वों को शामिल किया है।

इसके अतिरिक्त, वैश्वीकरण और तकनीकी विकास ने सुरक्षा की चुनौतियों को सीमा–रहित बना दिया है। साइबर सुरक्षा, अंतरराष्ट्रीय अपराध और जलवायु परिवर्तन जैसे मुद्दे किसी एक देश के प्रयासों से नियंत्रित नहीं किए जा सकते। इन चुनौतियों से निपटने के लिए सामूहिक सुरक्षा को अंतरराष्ट्रीय सहयोग, साझा उत्तरदायित्व और बहुपक्षीय संवाद पर आधारित होना आवश्यक हो गया है। इस प्रकार, बदलती सुरक्षा अवधारणाएँ सामूहिक सुरक्षा को अधिक जटिल लेकिन साथ ही अधिक प्रासंगिक भी बनाती हैं।

13.9.2 आतंकवाद और सामूहिक सुरक्षा

शीत युद्धोत्तर काल में आतंकवाद अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए सबसे गंभीर चुनौतियों में से एक बनकर उभरा है। आतंकवाद की प्रकृति पारंपरिक युद्ध से भिन्न होती है, क्योंकि यह किसी एक राज्य की सीमाओं तक सीमित नहीं रहता और इसका प्रभाव अनेक देशों पर एक साथ पड़ता है। संगठित आतंकवादी नेटवर्क, सीमा–पार गतिविधियाँ और वैचारिक उग्रवाद सामूहिक सुरक्षा के लिए नई और जटिल चुनौतियाँ उत्पन्न करते हैं। इस कारण आतंकवाद से निपटने के लिए व्यक्तिगत या द्विपक्षीय प्रयास पर्याप्त नहीं रह गए हैं।

आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष में सामूहिक सुरक्षा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने आतंकवाद के खिलाफ साझा रणनीतियाँ विकसित की हैं, जिनमें आर्थिक प्रतिबंध, अंतरराष्ट्रीय कानून, खुफिया जानकारी का आदान–प्रदान और क्षमता निर्माण शामिल है। सुरक्षा परिषद द्वारा पारित प्रस्तावों ने आतंकवादी गतिविधियों को अंतरराष्ट्रीय अपराध घोषित किया है और सभी देशों को इनके विरुद्ध सहयोग करने का दायित्व सौंपा है।

इसके अतिरिक्त, आतंकवाद और मानवाधिकारों के बीच संतुलन बनाए रखना भी सामूहिक सुरक्षा की एक बड़ी चुनौती है। आतंकवाद विरोधी उपायों के नाम पर नागरिक स्वतंत्रताओं का उल्लंघन न हो, यह सुनिश्चित करना अंतरराष्ट्रीय समुदाय की जिम्मेदारी है। सामूहिक सुरक्षा तभी प्रभावी और नैतिक रूप से स्वीकार्य हो सकती है, जब

वह सुरक्षा के साथ–साथ मानवाधिकारों और कानून के शासन का भी संरक्षण करे। इस प्रकार आतंकवाद के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा एक अनिवार्य लेकिन संवेदनशील प्रक्रिया बन जाती है।

13.9.3 मानवीय हस्तक्षेप और शांति स्थापना

शीत युद्धोत्तर काल में सामूहिक सुरक्षा के अंतर्गत मानवीय हस्तक्षेप और शांति स्थापना की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गई है। कई देशों में आंतरिक संघर्ष, गृहयुद्ध, जातीय हिंसा और व्यापक मानवाधिकार उल्लंघन ने अंतरराष्ट्रीय समुदाय का ध्यान आकर्षित किया। ऐसी परिस्थितियों में जब किसी राज्य की सरकार अपने नागरिकों की रक्षा करने में असफल होती है, तब मानवीय हस्तक्षेप को सामूहिक सुरक्षा के एक आवश्यक उपाय के रूप में देखा जाने लगा। इसका उद्देश्य किसी राज्य की संप्रभुता को चुनौती देना नहीं, बल्कि मानव जीवन की रक्षा और मानवीय संकट को समाप्त करना होता है।

मानवीय हस्तक्षेप का सिद्धांत यह मानता है कि व्यापक नरसंहार, जातीय सफाए या गंभीर मानवाधिकार उल्लंघन की स्थिति में अंतरराष्ट्रीय समुदाय को हस्तक्षेप करने का नैतिक दायित्व होता है। संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में किए गए अनेक शांति अभियानों में सैन्य बलों के साथ–साथ नागरिक पुलिस, प्रशासनिक सहायता और मानवीय राहत कार्यों को भी शामिल किया गया है। इससे शांति स्थापना की प्रक्रिया केवल युद्धविराम तक सीमित न रहकर स्थायी शांति और पुनर्निर्माण की दिशा में आगे बढ़ी है।

हालाँकि, मानवीय हस्तक्षेप को लेकर कई विवाद भी उत्पन्न हुए हैं। कुछ देशों का मानना है कि इसका दुरुपयोग शक्तिशाली राष्ट्र अपने राजनीतिक हितों के लिए कर सकते हैं। इसके बावजूद, यह स्वीकार किया जाता है कि मानवीय हस्तक्षेप और शांति स्थापना आधुनिक सामूहिक सुरक्षा के अनिवार्य अंग बन चुके हैं। जब इन्हें अंतरराष्ट्रीय वैधता, बहुपक्षीय सहमति और मानवीय मूल्यों के साथ लागू किया जाता है, तब ये वैश्विक शांति और सुरक्षा को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

13.10 भारत और सामूहिक सुरक्षा

भारत का दृष्टिकोण सामूहिक सुरक्षा के प्रति प्रारंभ से ही सकारात्मक और सिद्धांत आधारित रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत ने अपनी विदेश नीति में अंतरराष्ट्रीय शांति, सहयोग और बहुपक्षीयता को केंद्रीय स्थान दिया। भारत का यह विश्वास रहा है कि वैश्विक सुरक्षा केवल सैन्य गठबंधनों या शक्ति संतुलन के माध्यम से सुनिश्चित नहीं की जा सकती, बल्कि इसके लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग और साझा उत्तरदायित्व आवश्यक है। इसी कारण भारत ने सामूहिक सुरक्षा को संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से लागू करने का समर्थन किया है।

भारत की सामूहिक सुरक्षा संबंधी नीति गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत से भी जुड़ी हुई है। भारत ने किसी भी सैन्य गुट में शामिल हुए बिना अंतरराष्ट्रीय शांति प्रयासों में सक्रिय भूमिका निभाई। उसका दृष्टिकोण यह रहा है कि सामूहिक सुरक्षा का उपयोग किसी एक देश या समूह के हितों की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि वैश्विक शांति और न्याय की स्थापना के लिए किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से भारत सामूहिक सुरक्षा को नैतिक और व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर महत्वपूर्ण मानता है।

इसके अतिरिक्त, भारत ने यह भी बल दिया है कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था लोकतांत्रिक, निष्पक्ष और सभी देशों के लिए समान होनी चाहिए। सुरक्षा परिषद में सुधार, विकासशील देशों की भागीदारी और अंतरराष्ट्रीय कानून का सम्मान—ये सभी भारत की सामूहिक सुरक्षा संबंधी सोच के प्रमुख तत्व हैं। इस प्रकार भारत सामूहिक सुरक्षा को केवल एक सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि वैश्विक शांति की दिशा में एक सक्रिय दायित्व के रूप में देखता है।

13.10.1 भारत की संयुक्त राष्ट्र में भूमिका

भारत संयुक्त राष्ट्र का एक संस्थापक सदस्य है और उसने आरंभ से ही इसके उद्देश्यों तथा सिद्धांतों के समर्थन में सक्रिय भूमिका निभाई है। भारत का यह विश्वास रहा है कि संयुक्त राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा को व्यवहार में लागू करने का सबसे वैध और प्रभावी मंच है। अंतरराष्ट्रीय शांति, संप्रभुता का सम्मान, विवादों का शांतिपूर्ण समाधान और अंतरराष्ट्रीय कानून का पालन—ये सभी भारत की संयुक्त राष्ट्र नीति के केंद्रीय तत्व रहे हैं। इस दृष्टिकोण के कारण भारत ने संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न अंगों में रचनात्मक भूमिका निभाई है।

भारत कई बार संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का अस्थायी सदस्य रह चुका है और इस दौरान उसने वैश्विक शांति एवं सुरक्षा से जुड़े महत्वपूर्ण मुद्दों पर संतुलित और जिम्मेदार दृष्टिकोण अपनाया है। भारत ने सुरक्षा परिषद में विकासशील देशों की आवाज़ को उठाया और यह जोर दिया कि सामूहिक सुरक्षा का ढाँचा अधिक लोकतांत्रिक और प्रतिनिधिक होना चाहिए। सुरक्षा परिषद में सुधार की माँग भी इसी सोच का परिणाम है, जिससे वैश्विक सुरक्षा निर्णयों में व्यापक भागीदारी सुनिश्चित की जा सके।

इसके अतिरिक्त, भारत ने संयुक्त राष्ट्र महासभा और अन्य मंचों पर निरस्त्रीकरण, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और बहुपक्षीय सहयोग का समर्थन किया है। भारत की भूमिका यह दर्शाती है कि वह सामूहिक सुरक्षा को केवल शक्तिशाली देशों का उपकरण नहीं, बल्कि सभी राष्ट्रों के लिए समान और न्यायपूर्ण व्यवस्था के रूप में देखता है। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र में भारत की भूमिका उसकी सामूहिक सुरक्षा के प्रति दीर्घकालिक प्रतिबद्धता को स्पष्ट करती है।

13.10.2 शांति अभियानों में भारत का योगदान

भारत संयुक्त राष्ट्र के शांति अभियानों में विश्व के सबसे प्रमुख और निरंतर योगदान देने वाले देशों में से एक रहा है। स्वतंत्रता के बाद से ही भारत ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह अंतरराष्ट्रीय शांति और स्थिरता को बनाए रखने के लिए केवल सिद्धांतों का समर्थन ही नहीं करेगा, बल्कि व्यवहारिक स्तर पर भी अपनी जिम्मेदारी निभाएगा। इसी दृष्टिकोण के अंतर्गत भारत ने संयुक्त राष्ट्र के शांति अभियानों में सैन्य, पुलिस और नागरिक कर्मियों की व्यापक भागीदारी सुनिश्चित की है। यह योगदान सामूहिक सुरक्षा के प्रति भारत की गहरी प्रतिबद्धता को दर्शाता है।

भारतीय सशस्त्र बलों और पुलिस इकाइयों ने एशिया, अफ्रीका और मध्य पूर्व के अनेक संघर्षग्रस्त क्षेत्रों में शांति स्थापना, युद्धविराम की निगरानी, नागरिकों की सुरक्षा और मानवीय सहायता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन अभियानों में भारतीय बलों ने कठिन परिस्थितियों में भी अनुशासन, निष्पक्षता और मानवीय मूल्यों का पालन किया है। इससे न केवल संबंधित क्षेत्रों में स्थिरता स्थापित करने में सहायता मिली, बल्कि संयुक्त राष्ट्र शांति अभियानों की विश्वसनीयता भी मजबूत हुई।

भारत का योगदान केवल सैन्य उपस्थिति तक सीमित नहीं रहा है, बल्कि उसने स्थानीय प्रशासन को सुदृढ़ करने, लोकतांत्रिक संस्थाओं के पुनर्निर्माण और सामाजिक विश्वास बहाली में भी सहयोग किया है। भारतीय शांति सैनिकों ने स्थानीय समुदायों के साथ संवाद और सहयोग के माध्यम से शांति प्रक्रिया को अधिक टिकाऊ बनाने का प्रयास किया है। इस प्रकार भारत का शांति अभियानों में योगदान यह दर्शाता है कि वह सामूहिक सुरक्षा को केवल शक्ति के माध्यम से नहीं, बल्कि मानवीय दृष्टिकोण और अंतरराष्ट्रीय सहयोग के आधार पर लागू करने में विश्वास रखता है।

13.11 सारांश

सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में शांति बनाए रखने का एक मूलभूत सिद्धांत है। इसके माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि शांति केवल किसी एक राष्ट्र का दायित्व नहीं है, बल्कि इसे पूरे अंतरराष्ट्रीय समुदाय का साझा उत्तरदायित्व माना जाना चाहिए। ऐतिहासिक अनुभवों—जैसे प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध—ने यह साबित किया कि केवल राष्ट्रीय सुरक्षा उपायों या शक्ति संतुलन पर निर्भर रहकर स्थायी शांति सुनिश्चित नहीं की जा सकती।

संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थानों ने सामूहिक सुरक्षा को एक वैधानिक और संस्थागत रूप प्रदान किया। सुरक्षा परिषद, चार्टर के अनुच्छेद, और अध्याय VI, VII और VIII जैसी व्यवस्थाएँ इसे प्रभावी बनाने का प्रयास हैं। इसके अतिरिक्त, सार्वभौमिक सदस्यता, आक्रामकता की सामूहिक पहचान और सामूहिक कार्रवाई की क्षमता जैसी मूलभूत विशेषताएँ इसे व्यवहार में लागू करने के लिए आवश्यक आधार प्रदान करती हैं।

सामूहिक सुरक्षा के कई लाभ हैं, जैसे वैश्विक शांति बनाए रखना, कमजोर राष्ट्रों को सुरक्षा प्रदान करना, अंतरराष्ट्रीय सहयोग और विश्वास बढ़ाना, और अंतरराष्ट्रीय कानूनों का पालन सुनिश्चित करना। इसके बावजूद, व्यावहारिक चुनौतियाँ—जैसे वीटो शक्ति, निर्णय प्रक्रिया में विलंब, राष्ट्रीय हितों की प्राथमिकता और संसाधनों की कमी—सामूहिक सुरक्षा की प्रभावशीलता पर प्रश्न उठाती हैं। हालांकि, आधुनिक वैश्विक संदर्भ में सामूहिक सुरक्षा की आवश्यकता पहले से अधिक स्पष्ट है। आतंकवाद, क्षेत्रीय संघर्ष, साइबर खतरे और परमाणु प्रसार जैसे वैश्विक खतरों के मुकाबले केवल व्यक्तिगत या द्विपक्षीय सुरक्षा उपाय पर्याप्त नहीं हैं। सामूहिक सुरक्षा इन खतरों के खिलाफ साझा और प्रभावी कार्रवाई का मंच प्रदान करती है।

अतः यह कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा न केवल अंतरराष्ट्रीय शांति और स्थिरता की दिशा में एक आदर्शवादी सिद्धांत है, बल्कि यह व्यवहारिक, संस्थागत और नैतिक रूप से आधुनिक अंतरराष्ट्रीय राजनीति की एक अनिवार्य आवश्यकता भी बन गई है। यह सिद्धांत हमें यह स्मरण कराता है कि शांति का संरक्षण सभी का साझा दायित्व है और इसके लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग अपरिहार्य है।

आज के वैश्विक परिदृश्य में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक हो गई है। बढ़ते अंतरराष्ट्रीय संघर्ष, क्षेत्रीय युद्ध, आतंकवाद, और परमाणु हथियारों की proliferations ने यह स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक राष्ट्र की सुरक्षा केवल राष्ट्रीय स्तर पर सुनिश्चित नहीं की जा सकती। वैश्विक शांति और स्थिरता के लिए देशों का सहयोग और साझा उत्तरदायित्व अनिवार्य हो गया है।

सामूहिक सुरक्षा का वर्तमान महत्व इस तथ्य में भी है कि वैश्विक संघर्ष अक्सर सीमाओं के पार फैलते हैं। उदाहरण के लिए, आतंकवाद या साइबर हमले किसी एक देश तक सीमित नहीं रहते; उनका प्रभाव संपूर्ण अंतरराष्ट्रीय समुदाय पर पड़ता है। ऐसे में केवल द्विपक्षीय या क्षेत्रीय सुरक्षा उपाय पर्याप्त नहीं हैं। सामूहिक सुरक्षा प्रणाली इन व्यापक खतरों का मुकाबला करने का एक संरचित और साझा मंच प्रदान करती है।

इसके अतिरिक्त, संयुक्त राष्ट्र और अन्य क्षेत्रीय संगठनों के माध्यम से सामूहिक सुरक्षा न केवल युद्ध को रोकने में सहायक है, बल्कि यह मानवीय संकटों, शरणार्थी समस्याओं और प्राकृतिक आपदाओं के समय भी सहयोग को प्रोत्साहित करती है। सामूहिक सुरक्षा की वर्तमान प्रासंगिकता इस बात में भी निहित है कि यह अंतरराष्ट्रीय नीति निर्माताओं को एक साझा दृष्टिकोण अपनाने और त्वरित निर्णय लेने के लिए प्रेरित करती है।

हालांकि वैश्विक राजनीति में सत्ता संतुलन, महाशक्ति विरोधाभास और वीटो शक्ति जैसी बाधाओं के कारण सामूहिक सुरक्षा की पूर्ण प्रभावशीलता पर सवाल उठते रहते हैं, फिर भी यह आज भी वैश्विक शांति और स्थिरता बनाए रखने का सबसे मान्यता प्राप्त और प्रभावी ढाँचा है। इसके माध्यम से अंतरराष्ट्रीय सहयोग, साझा उत्तरदायित्व और कानून आधारित कार्रवाई की संस्कृति मजबूत होती है।

13.12 प्रमुख शब्दावली

1. **सामूहिक सुरक्षा** – अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा की वह व्यवस्था जिसमें सभी राष्ट्र यह स्वीकार करते हैं कि किसी एक राज्य पर आक्रमण पूरे अंतरराष्ट्रीय समुदाय के विरुद्ध आक्रमण माना जाएगा और उसके प्रत्युत्तर में सामूहिक कार्रवाई की जाएगी।
2. **आक्रामकता** – किसी राज्य द्वारा दूसरे राज्य की संप्रभुता, क्षेत्रीय अखंडता या राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध बल प्रयोग या उसकी धमकी, जिसे अंतरराष्ट्रीय कानून का उल्लंघन माना जाता है।
3. **संयुक्त राष्ट्र** – द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थापित एक वैश्विक संगठन, जिसका प्रमुख उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखना तथा राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करना है।
4. **सुरक्षा परिषद** – संयुक्त राष्ट्र का वह प्रमुख अंग जिसे अंतरराष्ट्रीय शांति के लिए बाध्यकारी निर्णय लेने, प्रतिबंध लगाने और सामूहिक सैन्य कार्रवाई को स्वीकृति देने का अधिकार प्राप्त है।
5. **वीटो शक्ति** – सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्यों को प्राप्त विशेषाधिकार, जिसके माध्यम से वे किसी प्रस्ताव को अस्वीकार कर सामूहिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं।
6. **सार्वभौमिक सदस्यता** – सामूहिक सुरक्षा का वह सिद्धांत जिसके अंतर्गत सभी संप्रभु राष्ट्रों की समान भागीदारी को अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है।
7. **सामूहिक कार्रवाई** – आक्रामक राज्य के विरुद्ध अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा संयुक्त रूप से अपनाए गए कूटनीतिक, आर्थिक या सैन्य उपाय।
8. **शांति स्थापना** – संघर्षग्रस्त क्षेत्रों में अंतरराष्ट्रीय संगठनों द्वारा की जाने वाली वह प्रक्रिया, जिसका उद्देश्य युद्धविराम की निगरानी करना और स्थायी शांति की स्थापना करना होता है
9. **क्षेत्रीय संगठन** – समान भौगोलिक क्षेत्र से संबंधित राष्ट्रों द्वारा गठित संगठन, जिनका उद्देश्य क्षेत्रीय शांति, स्थिरता और सुरक्षा को सामूहिक प्रयासों के माध्यम से बनाए रखना होता है।

10. **नाटो (NATO)** – उत्तर अटलांटिक संधि संगठन, एक क्षेत्रीय सैन्य गठबंधन जो सामूहिक रक्षा के सिद्धांत पर आधारित है और जिसके अनुसार किसी एक सदस्य पर आक्रमण सभी सदस्यों पर आक्रमण माना जाता है।
11. **वारसा संधि** – शीत युद्ध काल में समाजवादी देशों द्वारा गठित एक सैन्य गठबंधन, जिसका उद्देश्य पश्चिमी सैन्य गुटों के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा सुनिश्चित करना था।
12. **संयुक्त राष्ट्र** – द्वितीय विश्व युद्ध के बाद स्थापित एक अंतरराष्ट्रीय संगठन, जिसका मुख्य उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखना तथा राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करना है।
13. **शीत युद्धोत्तर काल** – शीत युद्ध की समाप्ति के बाद का वह कालखंड जिसमें अंतरराष्ट्रीय राजनीति में सुरक्षा की अवधारणा और स्वरूप में व्यापक परिवर्तन देखने को मिले।
14. **मानव सुरक्षा** – सुरक्षा की वह अवधारणा जिसमें राज्य की बजाय व्यक्ति को केंद्र में रखा जाता है और नागरिकों की जीवन, स्वतंत्रता और सम्मान की रक्षा को प्राथमिकता दी जाती है।
15. **आतंकवाद** – हिंसा या हिंसा की धमकी के माध्यम से राजनीतिक, वैचारिक या धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति करने की गतिविधि, जो अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए गंभीर चुनौती उत्पन्न करती है।
16. **मानवीय हस्तक्षेप** – व्यापक मानवाधिकार उल्लंघन या मानवीय संकट की स्थिति में अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा नागरिकों की रक्षा के लिए किया गया हस्तक्षेप।
17. **शांति स्थापना** – संघर्षग्रस्त क्षेत्रों में अंतरराष्ट्रीय संगठनों द्वारा की जाने वाली वह प्रक्रिया, जिसका उद्देश्य युद्धविराम की निगरानी, स्थिरता बनाए रखना और स्थायी शांति की स्थापना करना होता है।
18. **सुरक्षा परिषद** – संयुक्त राष्ट्र का प्रमुख अंग जिसे अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए बाध्यकारी निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त है।
19. **वीटो शक्ति** – सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्यों को प्राप्त विशेषाधिकार, जिसके माध्यम से वे किसी भी प्रस्ताव को रोक सकते हैं।
20. **शांति अभियान** – संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में संचालित वे मिशन जिनका उद्देश्य संघर्ष को नियंत्रित करना, नाग

13.13 अभ्यास प्रश्न

(क) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा क्या है और इसका उद्देश्य क्या है?
2. नाटो और वारसा संधि के बीच सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से मुख्य अंतर क्या था?
3. क्षेत्रीय सुरक्षा संगठन और संयुक्त राष्ट्र के सहयोग का महत्व समझाइए।
4. मानव सुरक्षा की अवधारणा सामूहिक सुरक्षा में कैसे शामिल होती है?
5. आतंकवाद शीत युद्धोत्तर काल में सामूहिक सुरक्षा के लिए क्यों चुनौतीपूर्ण माना जाता है?

(ख) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. शीत युद्धोत्तर काल में सामूहिक सुरक्षा की बदलती अवधारणाओं का विश्लेषण कीजिए।
2. भारत की संयुक्त राष्ट्र में भूमिका और शांति अभियानों में योगदान का विवेचन कीजिए।

3. मानवीय हस्तक्षेप और शांति स्थापना की प्रक्रिया को सामूहिक सुरक्षा के परिप्रेक्ष्य में समझाइए।
4. नाटो और वारसा संधि के उदाहरणों के माध्यम से क्षेत्रीय संगठन और वैश्विक सुरक्षा के संबंधों का विश्लेषण कीजिए।
5. सामूहिक सुरक्षा को प्रभावी बनाने में क्षेत्रीय संगठनों और बहुपक्षीय सहयोग की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

13.14 संदर्भ

1. Baylis, John, et al. *The Globalization of World Politics: An Introduction to International Relations*. Oxford University Press, 2020.
2. Claude, Inis L. *Collective Security and the United Nations*. Columbia University Press, 1984.
3. Malone, David M. *Does the Elephant Dance? Contemporary Indian Foreign Policy*. Oxford University Press, 2011.
4. United Nations. *Charter of the United Nations*, 1945.
5. Waltz, Kenneth N. *Theory of International Politics*. McGraw-Hill, 1979.
6. Malone, David M. *India and the United Nations: Fifty Years of Engagement*. Routledge, 1998.
7. Smith, Michael & Tim Dunne. *International Relations Theories: Discipline and Diversity*. Oxford University Press, 2019.
8. Buzan, Barry & Ole Wæver. *Regions and Powers: The Structure of International Security*. Cambridge University Press, 2003.

इकाई 14 अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व सरकार की अवधारणा

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की अवधारणा एवं परिभाषा

14.4 अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रकृति

14.5 प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका

14.6 अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण

14.7 विश्व सरकार की अवधारणा

14.8 विश्व सरकार का सैद्धांतिक आधार

14.9 विश्व सरकार की उपयोगिता-

14.10 सारांश

14.11 शब्दावली

14.12 सन्दर्भ सूची-

14.13 अभ्यास प्रश्न

14.14 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

वर्तमान वैश्विक व्यवस्था में शक्ति-संतुलन, परस्पर निर्भरता और शासन-तंत्र की प्रकृति अभूतपूर्व गति से परिवर्तित हो रही है। 21वीं सदी में उत्पन्न बहुआयामी चुनौतियाँ—जैसे जलवायु परिवर्तन, वैश्विक असमानता, अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष, साइबर सुरक्षा, मानवाधिकार उल्लंघन तथा अंतरराष्ट्रीय प्रवासन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पारंपरिक वेस्टफेलियन संप्रभुता अब अकेले पर्याप्त नहीं है। इसी संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व सरकार की अवधारणा वैश्विक राजनीति के अध्ययन में नए विमर्शों को जन्म देती है।

अंतर्राष्ट्रीय संगठन आधुनिक विश्व राजनीति में संस्थागत स्थिरता प्रदान करने वाले ऐसे ढाँचे हैं जो नियम-आधारित अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था को संभव बनाते हैं। इन संगठनों का उद्भव केवल सहयोग की आवश्यकता का परिणाम नहीं है; बल्कि यह वैश्वीकरण, औद्योगिकीकरण, उपनिवेशोत्तर पुनर्निर्माण, और उदार अंतर्राष्ट्रीयतावाद के विचारों से भी गहराई से प्रभावित है। संयुक्त राष्ट्र प्रणाली, ब्रेटन वुड्स संस्थाएँ, क्षेत्रीय संगठन और विशिष्ट उद्देश्य आधारित निकाय सभी मिलकर वैश्विक शासन के समन्वित ढाँचे का निर्माण करते हैं। इनके माध्यम से राज्यों के

व्यवहार को विनियमित किया जाता है, बहुपक्षीय वार्ता को मंच मिलता है, और वैश्विक सार्वजनिक वस्तुओं की सुरक्षा सुनिश्चित होती है।

विश्व सरकार की अवधारणा एक सैद्धांतिक किन्तु महत्त्वपूर्ण विमर्श है, जो यह तर्क प्रस्तुत करता है कि मानवता की मौजूदा चुनौतियाँ ऐसे केंद्रीय वैश्विक प्राधिकार की मांग करती हैं जो सीमाओं से परे होकर सामूहिक हितों की रक्षा कर सके। विश्व सरकार का विचार केवल आदर्शवादी वैश्विक एकता का विस्तार नहीं है, बल्कि यह उन आवश्यकताओं का दर्शन है जो परमाणु हथियारों के प्रसार, पर्यावरणीय क्षरण, वैश्विक स्वास्थ्य संकट और आतंकवाद जैसी सीमापार समस्याओं के संदर्भ में उभरती हैं। यह प्रश्न कि क्या विश्व सरकार व्यावहारिक तथा राजनीतिक रूप से संभव है, अंतर्राष्ट्रीय सिद्धांतों में सबसे अधिक बहस योग्य विषयों में से एक रहा है। इसी सन्दर्भ यह इकाई अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की अवधारण व विश्व सरकार की अवधारण व उपयोगिता का विश्लेषण प्रस्तुत करती है|

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् शिक्षार्थी निम्नलिखित बिन्दुओं को समझने में सक्षम होंगे-

- अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की संरचनाएँ किस ऐतिहासिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं से विकसित हुई हैं|
- ये संगठन किस प्रकार वैश्विक शासन के अनिवार्य घटक बनते जा रहे हैं|
- विश्व सरकार का विचार किन सिद्धांतों और संभावनाओं के आधार पर वैश्विक विमर्श में अपनी जगह बनाए हुए है।

14.3 अंतर्राष्ट्रीय संगठन की अवधारणा एवं परिभाषा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और इस सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू है लोगों के समूहों द्वारा अपने साझा हितों, आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठनों का गठन करना। इसी प्रकार, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र-राज्य अपने साझा हितों और उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में संगठित होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का उदय मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और बीसवीं शताब्दी में इनका और विकास हुआ। इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक ये अंतर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्र-राज्यों और निजी संस्थाओं के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एक अनिवार्य हिस्सा बन चुके हैं। एक संस्था के रूप में ये अंतर्राष्ट्रीय संगठन समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये स्वयं राष्ट्रों के बीच संबंधों की दिशा से काफी हद तक प्रभावित होते हैं और बदले में इन संबंधों को कुछ हद तक प्रभावित भी करते हैं। ये अन्तर्राज्यीय संबंधों को विनियमित करते हैं, राज्य की कार्रवाई पर रोक लगाते हैं और राज्य के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। ये राज्यों के बीच सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सुरक्षा सहयोग को सुगम बनाते हैं। इनका प्रयास युद्ध को हतोत्साहित करना और शांति एवं व्यवस्था को बढ़ावा देना है। ये सार्वभौमिकता के प्रतीक और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की एजेंसियां हैं। ये भविष्य की विश्व सरकार की एक सुनहरी उम्मीद हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संगठन ऐसे औपचारिक संस्थागत ढाँचे हैं जिन्हें दो या दो से अधिक राष्ट्र साझा उद्देश्यों की पूर्ति, वैश्विक समस्याओं के समाधान और अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली में सहयोग एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए स्थापित करते हैं। ये स्थायी संस्थाएँ होती हैं जिनके अपने नियम, निर्णय-प्रक्रिया, कार्य-क्षेत्र और प्रशासनिक संरचना होती है। अंतर्राष्ट्रीय संगठन का महत्व विशेष रूप से वैश्विक शासन , सामूहिक सुरक्षा, शांति स्थापना, आर्थिक विकास और मानव कल्याण की दृष्टि से बढ़ा है|

अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता संप्रभु राष्ट्रों (और कभी-कभी गैर-राज्य अभिकर्ताओं) द्वारा होती है तथा जो लिखित संधियों, चार्टर्स या समझौतों के आधार पर नियमित निर्णय-प्रक्रियाओं, प्रशासनिक तंत्र एवं सहयोगी तंत्रों के माध्यम से साझा उद्देश्यों—शांति, समृद्धि, मानवाधिकार—को प्राप्त करती हैं। राजनीतिक वैज्ञानिक **स्कॉट बार्टलेट** की परिभाषा के अनुसार, ये "संस्थागत सहयोग के नियमबद्ध एवं दीर्घकालिक रूप" हैं, जो 'रेजीम थ्योरी' से जुड़े हैं।

मार्टन काप्लान के अनुसार- "अंतर्राष्ट्रीय संगठन अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली का एक संरचनात्मक घटक हैं जो राज्यों के बीच व्यवहार-संयमन, सूचना-साझेदारी और नियमबद्ध संपर्क की व्यवस्था का निर्माण करते हैं। वे इन्हें सिस्टम की स्थिरता बनाए रखने वाले संस्थागत तंत्र के रूप में देखते हैं, जो विभिन्न शक्तियों के बीच संतुलन और सामंजस्य स्थापित करने में सहायक होते हैं"।

इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय संगठन किसी एक ऐतिहासिक घटना का परिणाम नहीं था, बल्कि यह वैश्विक राजनीतिक-सामाजिक प्रक्रियाओं के दीर्घकालिक संचय का नतीजा है। औद्योगिक क्रांति से उपजी आर्थिक परस्पर निर्भरता, उपनिवेशवाद से जुड़े वैश्विक संपर्क, और युद्धों की विनाशकारी परिणतियों ने अंतरराष्ट्रीय सहयोग को संस्थागत रूप देने की दिशा में मार्ग प्रशस्त किया। विशेष रूप से 19वीं और 20वीं सदी वे कालखंड रहे जिनमें अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की आधुनिक संरचना का जन्म हुआ।

अत: अंतर्राष्ट्रीय संगठन आधुनिक बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था के केंद्रीय तत्व हैं, जो संप्रभु राष्ट्रों को अराजक अंतर्राष्ट्रीय अराजकता में संस्थागत सहयोग का मंच प्रदान करते हैं। राजनीति विज्ञान एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंध के क्षेत्र में, ये बहुपक्षीय कूटनीति के प्रतीक हैं, जहाँ राज्य अपनी संप्रभुता को संतुलित करते हुए साझा चुनौतियों—जैसे जलवायु परिवर्तन, महामारी, आर्थिक असमानता एवं साइबर खतरों—का सामना करते हैं। वेस्टफेलियन संधि (1648) से प्रेरित राज्य-केंद्रित विश्व में, इनकी उत्पत्ति 19वीं शताब्दी से हुई, जो द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में संयुक्त राष्ट्र के साथ चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

14.4 अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रकृति:

- **राज्य-आधारित प्रकृति:** अंतर्राष्ट्रीय संगठन मुख्यतः संप्रभु राज्यों द्वारा

  स्थापित किए जाते हैं तथा उनकी सदस्यता भी राज्यों तक सीमित होती है। अतः इनकी प्रकृति मूलतः राज्य-आधारित होती है

- **स्वैच्छिक सदस्यता:** किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संगठन की सदस्यता स्वैच्छिक होती है। राज्य अपनी राष्ट्रीय आवश्यकताओं और हितों के अनुरूप संगठन में शामिल होते हैं या उससे अलग रहते हैं।
- **संस्थागत और औपचारिक स्वरूप**: अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना संधियों, चार्टर या समझौतों के माध्यम से होती है, जिससे इन्हें एक औपचारिक एवं कानूनी स्वरूप प्राप्त होता है।
- **सीमित संप्रभुता**: ये संगठन राज्यों की संप्रभुता का स्थान नहीं लेते, बल्कि सदस्य राज्यों द्वारा प्रदान की गई सीमित शक्तियों के अंतर्गत ही कार्य करते हैं।
- **सहयोगात्मक प्रकृति**: अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की मूल प्रकृति सहयोग पर आधारित होती है। इनका उद्देश्य टकराव के बजाय सहयोग, समन्वय और सामूहिक प्रयास को बढ़ावा देना होता है।
- **कार्यात्मक विविधता**: अंतर्राष्ट्रीय संगठन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, पर्यावरणीय और मानवीय जैसे अनेक क्षेत्रों में कार्य करते हैं, जिससे उनकी प्रकृति बहुआयामी बनती है।
- **निर्णय-निर्माण में सामूहिकता**: इन संगठनों में निर्णय आमतौर पर परामर्श, मतदान या सहमति के आधार पर लिए जाते हैं, जो इनकी लोकतांत्रिक एवं सामूहिक प्रकृति को दर्शाता है।
- **स्थायित्व और निरंतरता:** अंतर्राष्ट्रीय संगठन अस्थायी नहीं होते, बल्कि निरंतर कार्य करने वाली संस्थाएँ होती हैं, जिनकी अपनी स्थायी संरचना, सचिवालय और प्रक्रियाएँ होती हैं।
- **शांति और स्थिरता उन्मुख:** अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रकृति शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, विवाद समाधान और वैश्विक स्थिरता को बनाए रखने की दिशा में उन्मुख होती है।
- **विकासोन्मुख दृष्टिकोण:** समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रकृति विकास-उन्मुख भी है, जो सतत विकास, मानवाधिकार और सामाजिक न्याय जैसे मूल्यों को बढ़ावा देती है।

14.5 अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका एवं कार्य

वैश्विक पटल पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अंतरराष्ट्रीय संगठनों का उदय एक महत्वपूर्ण पहलू है। अंतर्राष्ट्रीय संगठन देशों को एक संस्थागत मंच पर चर्चा, सहयोग और समन्वय करने की अनुमति देते हैं। ये संगठन न केवल वैश्विक शांति और सुरक्षा को बढ़ावा देते हैं, बल्कि आर्थिक, सामाजिक, पर्यावरणीय और मानवीय क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण काम करते हैं। इन संगठनों का आज की दुनिया में महत्व लगातार बढ़ता जा रहा है। इनके माध्यम से राज्यों के हितों का शांतिपूर्ण समायोजन हो सकता है। इस प्रकार, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं विश्व व्यवस्था को मजबूत करने में काम करती हैं।

- **गतिविधियों एवं सदस्यता में विविधता-** अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की गतिविधियों का क्षेत्र, उनकी सदस्यता आवश्यकताएँ तथा सदस्यता के मानदंड संगठन-दर-संगठन भिन्न होते हैं। यह विविधता उनके उद्देश्यों, कार्यक्षेत्र और वैश्विक भूमिका पर निर्भर करती है।

- **राज्य व्यवस्था के भीतर रचनात्मक भूमिका-** अंतर्राष्ट्रीय संगठन राज्य-आधारित अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के अंतर्गत कार्य करते हुए अनेक रचनात्मक एवं उपयोगी दायित्वों का निर्वहन करते हैं, जिससे वैश्विक प्रशासन को मजबूती मिलती है।
- **राज्यों के मध्य सहयोग को प्रोत्साहन-** इन संगठनों की प्रमुख भूमिका उन क्षेत्रों में राज्यों के बीच सहयोग को बढ़ावा देना है, जहाँ सामूहिक प्रयास से सभी या अधिकांश देशों को साझा लाभ प्राप्त होता है।
- **निर्णयों के क्रियान्वयन हेतु प्रशासनिक साधन-** अंतर्राष्ट्रीय संगठन सदस्य राज्यों द्वारा लिए गए निर्णयों को लागू करने के लिए एक प्रशासनिक तंत्र के रूप में कार्य करते हैं, जिससे नीतियों का प्रभावी क्रियान्वयन संभव होता है।
- **संयुक्त निर्णय-निर्माण का मंच-** ये संगठन राज्यों को एक साझा मंच प्रदान करते हैं, जहाँ वे विचार-विमर्श, बहस और परामर्श के माध्यम से संयुक्त निर्णय ले सकते हैं।
- **सरकारों के बीच संवाद के माध्यम-** अंतर्राष्ट्रीय संगठन विभिन्न औपचारिक एवं अनौपचारिक माध्यमों से सरकारों के बीच संपर्क स्थापित करते हैं, जिससे निरंतर संवाद और आपसी समझ विकसित होती है।
- **समझौते और समायोजन की संभावनाएँ-** ये संगठन संभावित समझौतों, समायोजन और सहमति की खोज के लिए अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराते हैं, जिससे टकराव की संभावना कम होती है।
- **संकट की परिस्थितियों में संस्थागत पहुँच-** अंतर्राष्ट्रीय संकट या तनाव की स्थिति में, अंतर्राष्ट्रीय संगठन त्वरित एवं संस्थागत मंच प्रदान करते हैं, जिससे गलतफहमियों को रोका जा सके।
- **संघर्ष प्रबंधन एवं शांति स्थापना-** यदि राज्य संकट के समय समझौता और समायोजन अपनाने को तैयार हों, तो अंतर्राष्ट्रीय संगठन संघर्ष प्रबंधन, स्थिरता और शांतिपूर्ण समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।
- **अंतर्राष्ट्रीय स्थिरता में योगदान-** समकालीन अंतर्राष्ट्रीय संगठन सहयोग, विश्वास-निर्माण और शांति को बढ़ावा दे कर अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली की स्थिरता को सुदृढ़ करते हैं|

14.6 अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के वर्गीकरण के आधार

परिस्थितिजन्य अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की संख्या, स्वरुप और कार्यक्षेत्र में उल्लेखनीय विस्तार हुआ| कुछ संगठन सार्वभौमिक स्तर पर कार्य करते हैं, जबकि कुछ क्षेत्रीय या विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्यरत होते हैं| इसी प्रकार कुछ संगठन सरकारी संगठन होते है जिनकी स्थापना आपसी संधि,समझौते या चार्टर के माध्यम से की जाती है, जैसे सुंयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व स्वास्थ्य संगठन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, यूरोपीय संघ आदि| इसके अतिरिक्त गैर सरकारी संगठन वे संगठन होते है जिनकी स्थापना निजी व्यक्तियों, समूहों या स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा की जाती है| रेड क्रॉस, एमनेस्टी इंटरनेशनल, ग्रीन पीस, सेव द चिल्ड्रेन आदि सस्थाएं निजी संस्थाएं है|

अत: अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की संरचना, सदस्यता, अधिकार, उद्देश्य और कार्यप्रणाली में पर्याप्त विविधता पाई जाती है|

विद्वान पी. रेचलर के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का वर्गीकरण मुख्यतः निम्नलिखित चार आधारों पर किया जा सकता है—

1. कार्य -क्षेत्र (उद्देश्य एवं उत्तरदायित्व)
2. सदस्यता की सीमा
3. कार्यों की प्रकृति
4. अधिकारों की प्रकृति

1. कार्य-क्षेत्र (उद्देश्य एवं उत्तरदायित्व) के आधार पर वर्गीकरण

इस आधार पर अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को उनके उद्देश्यों की व्यापकता और कार्यों के स्वरूप के अनुसार विभाजित किया जाता है—

(क) सामान्य उद्देश्य वाले अंतर्राष्ट्रीय संगठन

वे संगठन जिनका कार्य-क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता है तथा जिनका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा, सहयोग और वैश्विक स्थिरता की स्थापना करना होता है। ऐसे संगठन विश्व स्तर पर राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और मानवीय समस्याओं से संबंधित कार्य करते हैं। उदाहरण—राष्ट्रसंघ, संयुक्त राष्ट्र संघ|

(ख) विशिष्ट उद्देश्य वाले अंतर्राष्ट्रीय संगठन

वे संगठन जो किसी एक विशेष क्षेत्र या समस्या से संबंधित कार्यों के लिए स्थापित किए जाते हैं। इनका कार्य-क्षेत्र सीमित होता है, किंतु तकनीकी दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होता है।

उदाहरण—यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन, इंटरनेशनल टेलीकम्युनिकेशन यूनियन|

2. सदस्यता की सीमा के आधार पर वर्गीकरण

इस आधार पर अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को उनकी सदस्यता की व्यापकता के अनुसार विभाजित किया जाता है|

(क) सार्वभौमिक (वैश्विक) अंतर्राष्ट्रीय संगठन

वे संगठन जिनकी सदस्यता विश्व के लगभग सभी स्वतंत्र राज्यों के लिए खुली होती है। ऐसे संगठन वैश्विक समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उदाहरण—संयुक्त राष्ट्र संघ|

(ख) क्षेत्रीय या सीमित सदस्यता वाले अंतर्राष्ट्रीय संगठन

वे संगठन जिनकी सदस्यता किसी विशेष भौगोलिक क्षेत्र या राजनीतिक समूह तक सीमित होती है। उदाहरण—नाटो,आसियान,वारसा पैक्ट|

3. कार्यों की प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण

इस आधार पर अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को उनके द्वारा संपादित कार्यों के प्रकार के अनुसार विभाजित किया जाता है—

(क) नीति-निर्धारण करने वाले संगठन

वे संगठन जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नीतियों, मानकों और दिशा-निर्देशों का निर्धारण करते हैं।

उदाहरण—अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन|

(ख) प्रशासनिक एवं सेवा-प्रदायक संगठन

वे संगठन जो तकनीकी, मानवीय, प्रशासनिक अथवा सेवा संबंधी कार्यों का संपादन करते हैं।

उदाहरण—यूनिवर्सल पोस्टल यूनियन, रेडक्रॉस सोसाइटी|

4. अधिकारों के आधार पर वर्गीकरण

इस आधार पर अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को उनके निर्णयों की बाध्यकारी शक्ति के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है| वे संगठन जिनके निर्णय सदस्य राज्यों पर कानूनी रूप से बाध्यकारी होते हैं। जैसे- अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, सुरक्षा परिषद इसी प्रकार की संस्थाए है|

14.7 विश्व सरकार की अवधारणा

बीसवीं शताब्दी के दो विश्व युद्धों तथा परमाणु हथियारों के विकास ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की पारंपरिक संरचना पर गंभीर प्रश्नचिह्न लगा दिया। राष्ट्र-राज्य आधारित प्रभुसत्ता की व्यवस्था विश्व में स्थायी शांति, सुरक्षा और सहयोग स्थापित करने में असफल सिद्ध हुई। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विश्व सरकार की अवधारणा का उदय हुआ, जिसे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में एक वैचारिक तथा संस्थागत समाधान के रूप में देखा गया।

विश्व सरकार की अवधारणा यह मानकर चलती है कि आधुनिक विश्व की समस्याएँ—युद्ध, पर्यावरण संकट, आर्थिक असमानता, मानवाधिकार हनन—केवल राष्ट्रीय स्तर पर हल नहीं की जा सकतीं। इनके समाधान हेतु एक ऐसी वैश्विक सत्ता आवश्यक है जो राष्ट्रों से ऊपर हो और अंतर्राष्ट्रीय नियमों को प्रभावी ढंग से लागू कर सके।

14.8 विश्व सरकार का सैद्धांतिक आधार

विश्व सरकार का विचार मूलतः इस धारणा पर आधारित है कि असीम राष्ट्रीय प्रभुसत्ता अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का प्रमुख कारण है। यथार्थवादी चिंतकों के अनुसार, जब तक प्रत्येक राज्य स्वयं को सर्वोच्च सत्ता मानता रहेगा, तब तक शक्ति-संघर्ष और युद्ध अपरिहार्य बने रहेंगे।

विश्व सरकार के समर्थक यह तर्क देते हैं कि जिस प्रकार राज्य के भीतर कानून और शासन व्यवस्था सामाजिक अराजकता को नियंत्रित करती है, उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी एक केंद्रीय सत्ता वैश्विक अराजकता को नियंत्रित कर सकती है। यह सत्ता कानून-आधारित होगी, न कि केवल शक्ति-आधारित।

अत: वैश्विक शासन को संस्थानों, नियमों, मानदंडों और प्रक्रियाओं की उस प्रणाली के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो राष्ट्रीय सीमाओं से परे जाने वाले मुद्दों पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को संभव बनाती है। इन मुद्दों में आर्थिक विकास, व्यापार, मानवाधिकार, शांति और सुरक्षा तथा पर्यावरण संरक्षण शामिल हैं। इस प्रणाली का उद्देश्य विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय पक्षों—जैसे राष्ट्र-राज्य, अंतर-सरकारी संगठन, व्यापारिक संस्थाएँ, गैर-सरकारी संगठन तथा नागरिक समाज के अन्य घटकों—के बीच निर्णय-निर्माण और सहयोग को सुगम बनाना है। वैश्विक शासन का प्रमुख लक्ष्य वैश्विक चुनौतियों के लिए सामूहिक समाधान खोजने और उनका प्रभावी प्रबंधन करना है।

जेम्स रोजनाऊ (James Rosenau) के अनुसार:

वैश्विक शासन से आशय ऐसे शासनात्मक तंत्र से है, जिसमें कोई एक केंद्रीय विश्व सरकार न होते हुए भी नियम, मानदंड और संस्थाएँ अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार को नियंत्रित करती हैं।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) के अनुसार:

वैश्विक शासन उन औपचारिक एवं अनौपचारिक संस्थाओं, तंत्रों और प्रक्रियाओं का समूह है, जिनके माध्यम से वैश्विक स्तर पर साझा समस्याओं का समाधान किया जाता है।

अत: वैश्विक शासन एक बहु-स्तरीय और बहु-अभिनेताओं वाली व्यवस्था है, जिसमें राष्ट्र-राज्य, अंतर्राष्ट्रीय संगठन, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और नागरिक समाज मिलकर वैश्विक समस्याओं का समाधान करते हैं।

14.9 विश्व सरकार की उपयोगिता

I. **अंतर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना-** विश्व सरकार की सबसे महत्वपूर्ण उपयोगिता अंतर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना में निहित है। एक वैश्विक सत्ता राज्यों के सैन्य निर्णयों को नियंत्रित कर सकती है और युद्ध को अवैध घोषित कर सकती है।

II. **राष्ट्रीय प्रभुसत्ता पर युक्तिसंगत नियंत्रण-** विश्व सरकार का उद्देश्य प्रभुसत्ता का पूर्ण उन्मूलन नहीं, बल्कि उसे वैश्विक हितों के अनुरूप सीमित करना है। इससे राज्यों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया जा सकता है।

III. **वैश्विक समस्याओं का समाधान-** आधुनिक समस्याएँ जैसे जलवायु परिवर्तन, महामारी, आतंकवाद और आर्थिक संकट सीमा-रहित हैं। इन समस्याओं के समाधान हेतु एक समन्वित वैश्विक नीति आवश्यक है, जिसे विश्व सरकार प्रभावी रूप से लागू कर सकती है।

IV. **मानवाधिकारों का संरक्षण-** विश्व सरकार की अवधारणा सार्वभौमिक मानक लागू कर मानवाधिकारों के उल्लंघन पर उचित कार्यवाही के माध्यम से मानवाधिकारों को संरक्षण प्रदान करने में उपयोगी सिद्ध हो सकती है|

14.10 सारांश

अंतर्राष्ट्रीय संगठन तथा विश्व सरकार की अवधारणा आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और वैश्विक शासन के अध्ययन का एक केंद्रीय विषय है। वैश्वीकरण, तकनीकी विकास और राष्ट्रों के मध्य बढ़ती पारस्परिक निर्भरता ने यह स्पष्ट

कर दिया है कि समकालीन विश्व की जटिल समस्याओं—जैसे युद्ध, पर्यावरणीय संकट, मानवाधिकार उल्लंघन, आतंकवाद, महामारी और आर्थिक असमानता—का समाधान केवल राष्ट्र-राज्य के स्तर पर संभव नहीं है। इसी आवश्यकता ने अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के विकास को गति प्रदान की है। साथ ही विश्व सरकार की अवधारणा एक सैद्धांतिक विमर्श है, जो यह मानती है कि अंतर्राष्ट्रीय अराजकता को नियंत्रित करने तथा वैश्विक शांति और न्याय स्थापित करने के लिए किसी केंद्रीय वैश्विक सत्ता की आवश्यकता है। यद्यपि व्यवहार में पूर्ण विश्व सरकार का अस्तित्व नहीं है, तथापि संयुक्त राष्ट्र और वैश्विक शासन की वर्तमान संस्थाएँ इसकी दिशा में आंशिक प्रयास के रूप में देखी जा सकती हैं।

अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय संगठन वर्तमान वैश्विक व्यवस्था के अनिवार्य घटक हैं, जबकि विश्व सरकार की अवधारणा भविष्य की वैश्विक राजनीति के लिए एक वैचारिक मार्गदर्शक के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

14.11 शब्दावली

1. **अंतर्राष्ट्रीय संगठन** - दो या दो से अधिक संप्रभु राष्ट्रों द्वारा साझा उद्देश्यों की पूर्ति हेतु स्थापित औपचारिक एवं स्थायी संस्थाएँ।
2. **संप्रभुता** - किसी राज्य की सर्वोच्च और स्वतंत्र सत्ता, जिसके अंतर्गत वह अपने आंतरिक एवं बाह्य मामलों का निर्णय स्वयं करता है।
3. **वैश्विक शासन-** अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नियमों, संस्थाओं, मानदंडों और प्रक्रियाओं की वह प्रणाली, जिसके माध्यम से वैश्विक समस्याओं का समाधान किया जाता है।
4. **बहुपक्षीयता-** तीन या अधिक राष्ट्रों के मध्य सहयोग, वार्ता और निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया।
5. **अंतर्राष्ट्रीय अराजकता-** अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में किसी केंद्रीय सर्वोच्च सत्ता का अभाव।
6. **चार्टर-** किसी अंतर्राष्ट्रीय संगठन का मूल दस्तावेज, जिसमें उसके उद्देश्य, शक्तियाँ और संरचना निर्धारित होती है।

14.12 सन्दर्भ सूची-

- International organization. (n.d.). https://education.nationalgeographic.org/resource/international-organization/
- International organisations. (n.d.). UENEN. https://um.dk/en/danida/partners/int-org
- World Government (Stanford Encyclopedia of Philosophy). (2021, January 5). https://plato.stanford.edu/entries/world-government/

- Kaplan, M. A. (1957). System and Process in International Politics. New York: John Wiley & Sons.
- Fadia, B. L. (2010). International Politics Theory & Contemporary Political Issues. Agra: Sahitya Bhawan Publications.
- Rosenau, J. N. (1992). Governance, order, and change in world politics. In Governance without Government. Cambridge: CUP.

14.13 अभ्यास प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता मुख्यतः किस पर आधारित होती है?

(क) व्यक्तियों पर (ख) बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर

(ग) संप्रभु राष्ट्रों पर (घ) गैर-सरकारी संगठनों पर

3. विश्व सरकार की अवधारणा का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का पूर्ण अंत (ख) वैश्विक समस्याओं का सामूहिक समाधान

(ग) क्षेत्रीय संगठनों को समाप्त करना (घ) केवल आर्थिक सहयोग बढ़ाना

4. संयुक्त राष्ट्र किस प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय संगठन है?

(क) क्षेत्रीय

(ख) विशिष्ट उद्देश्य वाला

(ग) सार्वभौमिक

(घ) अनौपचारिक

5. वैश्विक शासन की अवधारणा का संबंध किससे है?

(क) केवल सैन्य शक्ति से

(ख) केवल आर्थिक संस्थाओं से

(ग) नियमों, संस्थाओं और मानदंडों की प्रणाली से

(घ) केवल राष्ट्रीय कानून से

6. अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के निर्णय सामान्यतः कैसे लिए जाते हैं?

(क) बल प्रयोग द्वारा

(ख) एकतरफा आदेश से

(ग) परामर्श एवं सहमति से

(घ) गुप्त समझौतों से

14.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की अवधारणा एवं परिभाषा स्पष्ट कीजिए।
2. अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की प्रकृति का विवेचन कीजिए।
3. अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के विभिन्न वर्गीकरणों को उदाहरण सहित समझाइए।
4. विश्व सरकार की अवधारणा के सैद्धांतिक आधार और उपयोगिता की विवेचना कीजिए।
5. अंतर्राष्ट्रीय संगठन एवं विश्व सरकार की वर्तमान प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए|

इकाई-15 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका

इकाई संरचना

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 राजनीति और नैतिकता का संबंध

15.4 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की आवश्यकता

15.5 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति बनाम नैतिकता : सैद्धांतिक दृष्टिकोण

15.6 वैश्वीकरण व नैतिक चुनौतियाँ

15.7 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता सम्बन्धी समकालीन चुनौतियाँ

15.8 सारांश

15.9 संदर्भ सूची

15.10 शब्दावली

15.11 अभ्यास प्रश्न

15.12 निबंधात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

नैतिकता, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण विषय रहा है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को अक्सर शक्ति, राष्ट्रीय हित, सुरक्षा और प्रभुत्व की राजनीति के रूप में देखा जाता है, लेकिन न्याय, मानवाधिकार, शांति, सहयोग, जिम्मेदारी और मानवीय गरिमा जैसे नैतिक मूल्यों का भी इसमें महत्वपूर्ण स्थान है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका को समझने के लिए हम विभिन्न सिद्धांतों का सहारा ले सकते हैं। जहां एक ओर यथार्थवादियों ने शक्ति और राष्ट्रीय हित को प्राथमिकता देते हुए नैतिकता की भूमिका को सीमित माना है, वहीं आदर्शवादियों ने मानव स्वभाव को नैतिक और सहयोगी मानकर नैतिक मूल्यों को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रमुखता देती है। संरचनावाद कहता है कि विचारों, मूल्यों और सामाजिक संरचनाओं से राज्यों का व्यवहार बनता है, जिससे नैतिकता अंतर्राष्ट्रीय आचरण का महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाती है। वहीं कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण वैश्विक न्याय और साझा उत्तरदायित्व की अवधारणा को बढ़ाता है, जो राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर पूरी मानवता को नैतिक चिंतन का आधार मानता है।

वर्तमान युग में, वैश्वीकरण, आर्थिक परस्पर निर्भरता, डिजिटल क्रांति और तकनीकी नवाचार ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को और अधिक जटिल बना दिया है। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता को जलवायु परिवर्तन, मानवाधिकार उल्लंघन, शरणार्थी संकट, वैश्विक असमानता, साइबर सुरक्षा और डेटा निजता जैसे मुद्दों से नई चुनौतियाँ मिली हैं। वर्तमान परिस्थितियों में केवल सत्ता या देशभक्ति पर आधारित राजनीति वैश्विक समस्याओं को हल करने में असफल हो रही है।

इसलिए नैतिकता का महत्व अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में पहले से कहीं अधिक बढ़ा है। इस अध्ययन का उद्देश्य यह बताना है कि राजनीतिक व्यवहार और नैतिक मूल्यों के मध्य संतुलन बनाना एक स्थायी, न्यायपूर्ण और शांतिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बनाने के लिए अनिवार्य है।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप:

1. नैतिकता व राजनीति के संबंध का विश्लेषण कर सकेंगे
2. राष्ट्रीय हित और नैतिक मूल्यों के मध्य संतुलन के महत्व को समझ सकेंगे
3. प्रमुख नैतिक सिद्धांतों व उनके अंतर्राष्ट्रीय नीति निर्माण पर प्रभाव को समझ सकेंगे
4. समकालीन वैश्विक चुनौतियों का नैतिक विश्लेषण कर सकेंगे

15.3 राजनीति और नैतिकता का संबंध

नैतिकता से अभिप्राय गुण या सिद्धान्त है जो हमें सही ओर गलत का ज्ञान कराता है और हमें उचित आचरण करने के लिए प्रेरित करता है| हालांकि राजनीति को व्यावहारिकता ओर सत्ता साधन के रूप में देखा जाता है, लेकिन इसका अंतिम लक्ष्य नैतिक मूल्यों पर आधारित न्यायपूर्ण व्यवस्था का निर्माण करना है| इस प्रकार नैतिकता और राजनीति का संबंध गहरा और नितांत आवश्यक है|

वैश्विक राजनीति में यथार्थवाद मानता है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंध संघर्षपूर्ण हैं और राष्ट्र मुख्यतः शक्ति एवं राष्ट्रीय हित से संचालित होते हैं, इसलिए नैतिकता राज्य व्यवहार का अनिवार्य तत्व नहीं है, इसके विपरीत आदर्शवादी मानव स्वभाव को सकारात्मक मानते हैं और अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिकता को बहुत महत्व देते हैं| वे विश्वास करते हैं कि विवेकपूर्ण नेतृत्व व सहयोग के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय शांति और समृद्धि संभव है|

राजनीति और नैतिकता समाज के संगठन और सुशासन के दो मूलभूत पहलू हैं| जहां नैतिकता मानवीय आदर्शों, मूल्यों और व्यवहार को निर्देशित करती है वहीं राजनीति सत्ता निर्माण और सार्वजनिक संसाधनों के प्रबंधन से जुड़ी है|राजनीति को अक्सर सत्ता साधन के रूप मैं देखा जाता है लेकिन इसका अंतिम लक्ष्य नैतिक सिद्धांतों पर आधारित न्यायपूर्ण व्यवस्था का निर्माण करना है| प्राचीन भारतीय विचारों, गांधीवादी विचारों और पश्चिमी राजनीतिक विचारों में भी राजनीति व नैतिकता को अविभाज्य माना गया है|

15.4 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की आवश्यकता

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति केवल शक्ति, राष्ट्रिय हित, या आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति तक सीमित नहीं है यह न्याय ,सहयोग, मानवता और उत्तरदायित्व के मूल्यों पर भी आधारित होनी चाहिए| जब राज्य केवल सत्ता की राजनीति या यथार्थवाद पर निर्भर होते हैं, तो वैश्विक स्थिरता, मानवाधिकार, देशों की सुरक्षा प्रभावित होती है|इसलिए नैतिकता का स्थान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है|

नैतिकता विश्वव्यापी समझौतों, संधियों और संस्थाओं को मजबूत और स्थायी बनाती है। नैतिकता-आधारित दृष्टिकोण शांति, सहअस्तित्व और विश्व-स्थिरता को सुनिश्चित करता है, जबकि केवल शक्ति-संतुलन पर आधारित

सौदे अक्सर अस्थिर होते हैं। नैतिकता मानवाधिकारों की रक्षा, न्याय, समानता और कमजोर देशों के प्रति जिम्मेदारी को संचालित कर सकती है।

इसके अतिरिक्त राजनीति पर आधारित स्वार्थ आज की वैश्विक चुनौतियों को हल नहीं कर सकता, जैसे गरीबी, प्रवासन, शरणार्थी संकट, पर्यावरणीय संकट और मानवाधिकार उल्लंघन। नैतिक, न्यायपूर्ण और मानव-केंद्रित अंतर्राष्ट्रीय नीति ही इन समस्याओं का हल कर सकती है। यथार्थवाद और सत्ता-वाद के अलावा वैश्विक न्याय, आदर्शवाद और उदारवाद भी एक मानवीय और संतुलित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण हैं। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता भी सभ्यता, धर्म और दर्शन से प्रेरित होती है। यदि हम भारतीय संदर्भ में बात करे तो न्याय, धर्म, कर्तव्य, सहयोग और विश्व-बंधुत्व के मूल्य अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को नैतिक दृष्टिकोण देते हैं। यही कारण है कि वैश्विक न्याय, संघर्ष समाधान, मानवाधिकार और पर्यावरणीय नैतिकता जैसे वर्तमान शैक्षणिक अध्ययनों से पता चलता है कि विश्व-राजनीतिक नैतिकता के बिना शांति और स्थिरता दीर्घकालिक नहीं हो सकती। अंततःहम कह सकते हैं कि नैतिकता अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक बहुत ही ज़रूरी तत्व है क्योंकि यह विश्व को अधिक न्यायपूर्ण, सुरक्षित, सहयोगपूर्ण बनाता है।

15.5 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति बनाम नैतिकता : सैद्धांतिक दृष्टिकोण

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कि प्रकृति को समझने के दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं यथार्थवाद व आदर्शवाद| जहां यथार्थवाद शक्ति व सुरक्षा को प्राथमिकता देता है वहीं आदर्शवाद सहयोग व नैतिकता को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का आधार मानता है|

यथार्थवादी दृष्टिकोण

यथार्थवाद का मानना है कि मानव मूलतः स्वार्थी हैं और शक्ति प्राप्त करना चाहता है। यथार्थवाद के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अराजक है, तो नैतिकता व्यावहारिक नहीं हो सकती क्योंकि कोई ऐसी सर्वोच्च सत्ता नहीं है जो नियमों को लागू करती हो। यथार्थवाद, हालांकि, नैतिकता को पूरी तरह से खारिज नहीं करता, बल्कि वह मानता है कि राज्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मूल्यों और नैतिक मूल्यों का उपयोग करके अपनी छवि सुधार सकता है, वैधता प्राप्त कर सकता है और सहयोग प्राप्त कर सकता है परंतु इस तरह की नैतिकता को वास्तविक न मानकर रणनीतिक उपायों के रूप में देखा जाता है। यथार्थवादी यह भी मानते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अराजक स्थिति के कारण कभी-कभी युद्ध आवश्यक हो जाता है, लेकिन युद्ध के दौरान कुछ महत्वपूर्ण मानवीय और नैतिक मूल्यों का पालन किया जा सकता है। वे मानते हैं कि नैतिकता के कुछ मूल नियम, जैसे कैदियों के साथ उचित व्यवहार करना, अनावश्यक हिंसा से बचना और निहत्थे व्यक्ति को चोट नहीं पहुँचाना, "पूर्ण नैतिकता" की जगह "प्रायोगिक नैतिकता" से जुड़े हैं।

वहीं नव यथार्थवाद मानव स्वभाव की बजाय अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को केन्द्रीय विषय मानता है| इस विचारधारा का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में कोई सर्वोच्च अधिकारी नहीं होता, इसलिए राज्यों को अपने अस्तित्व और सुरक्षा को अधिक महत्व देना पड़ता है| परंतु यह दृष्टिकोण शक्ति को एक साधन के रूप में देखता हैं न कि साध्य के रूप में| इसके अनुसार राज्यों का व्यवहार अधिकतर अंतर्राष्ट्रीय संरचनात्मक अनिवार्यता और शक्ति-संतुलन की मांग से नियंत्रित होता है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जो वैश्विक राजनीति में विचारों, मूल्यों और नैतिकता की भूमिका पर जोर देती है। यह दृष्टिकोण मानता है कि मनुष्य का स्वभाव प्राकृतिक रूप से अच्छा है और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सहयोग और नैतिक मूल्यों का पालन करके अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को सुधारा जा सकता हैं।

आदर्शवादी दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को केवल शक्ति व राष्ट्रीय हितों के लिए संघर्ष के रूप में नहीं देखता, बल्कि इसे एक ऐसे क्षेत्र के रूप में देखता है जहाँ नैतिक मूल्यों, मानवीय सिद्धांतों और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आदर्शवाद के अनुसार, यदि राज्य ईमानदारी, पारदर्शिता,और कमजोर राष्ट्रों के प्रति सहयोगात्मक रुख अपनाएँ, तो अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अधिक स्थायी और शांतिपूर्ण बन सकती है। संयुक्त राष्ट्र, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, मानवाधिकार संस्थाएँ, पर्यावरणीय सम्मेलन और शांति-समझौते ये सभी आदर्शवादी नैतिकता के उपकरण माने जाते हैं जो राज्यों के व्यवहार को नैतिक दिशा देते हैं। यह दृष्टिकोण मानता है कि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और नैतिकता केवल आदर्श नहीं, बल्कि व्यवहारिक रूप से भी संभव है, क्योंकि वैश्वीकरण और परस्पर निर्भरता की दुनिया में किसी राष्ट्र की सुरक्षा और हित सीधे अन्य राष्ट्रों की स्थिरता व नैतिक आचरण से जुड़े होते हैं। इस प्रकार, आदर्शवाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को मानवीय और नैतिक सिद्धांतों पर आधारित बनाने की वकालत करता है और मानता है कि नैतिकता न केवल वांछनीय है, बल्कि वैश्विक शांति और सहयोग की अनिवार्य शर्त है।

संरचनवादी दृष्टिकोण

संरचनावाद का मानना है कि विचारों, मूल्यों, सिद्धांतों और सामाजिक संरचनाओं ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को बनाया है, न कि शक्ति, सैन्य बल या भौतिक हितों ने। यही कारण है कि राज्य का व्यवहार स्वाभाविक या स्थायी नहीं है; इसके बजाय, यह उन साझा मान्यताओं, सामाजिक अपेक्षाओं और अंतर्राष्ट्रीय संरचना पर निर्भर करता है जिनके भीतर राज्य कार्य करता है। संरचनावादी विद्वान एलेक्जेंडर वेंट ने कहा "अराजकता वह है जो राज्य बनाते हैं"। यह विचार मानता है कि राज्यों के मध्य सहयोग, विश्वास और उनके द्वारा मानवीय मूल्यों का पालन करने से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अधिक नैतिक और सहकारी हो सकती है।
संरचनावादियों का विचार है कि अंतर्राष्ट्रीय मानदंड, जैसे मानवाधिकारों का सम्मान, नरसंहार-विरोधी सिद्धांत, नागरिकों की सुरक्षा और पर्यावरण संरक्षण, राज्यों के व्यवहार को निर्देशित करते हैं। धीरे-धीरे ये मानदंड सामाजिक रूप से स्वीकृत होते जाते हैं और राज्यों द्वारा उनका पालन करना एक नैतिक कर्तव्य होता है, न कि सिर्फ रणनीतिक फायदे के लिए।

कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का वैश्विक या कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण मानता है कि विश्व एक साझा मानव समुदाय है, जहाँ न्याय, नैतिकता और अधिकार सम्पूर्ण मानव जाति पर लागू होते हैं| इस विचार के अनुसार राजनीतिक नैतिकता का क्षेत्र राष्ट्रीय सीमाओं से परे विश्वव्यापी होना चाहिए। कॉस्मोपॉलिटन विचारक कहते हैं कि क्योंकि आज की दुनिया तकनीक, आपसी निर्भरता, वैश्वीकरण, मानवाधिकार व शरणार्थी संकट और जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याओं से घिरी हुई है, ऐसे में नैतिक निर्णय केवल "राष्ट्रहित" के आधार पर नहीं लिए जा सकते। यह दृष्टिकोण वैश्विक शासन,

मानवाधिकार परिषद, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, वैश्विक नागरिकता और मानवीय हस्तक्षेप जैसे विचारों का समर्थन करता है।

कॉस्मोपॉलिटन विचारधारा वैश्विक उत्तरदायित्व को प्राथमिकता देती है। इसका अर्थ है कि अमीर, शक्तिशाली और विकसित देशों को वैश्विक न्याय और समानता की रक्षा करने की जिम्मेदारी लेनी चाहिए। उदाहरण के लिए, जलवायु परिवर्तन, खाद्य सुरक्षा, वैश्विक महामारी, गरीबी उन्मूलन और मानवीय संकट जैसे मुद्दे राष्ट्रीय नीतियों से नहीं हल हो सकते, इनके लिए विश्वव्यापी नैतिक प्रतिबद्धता और सहयोग की आवश्यकता है।

15.6 वैश्वीकरण व नैतिक चुनौतियाँ

वैश्वीकरण, ने अंतर्राष्ट्रीय जगत में राज्यों के मध्य परस्परिक निर्भरता को बढ़ाया है| राष्ट्र एक-दूसरे पर अधिक निर्भर हो रहे हैं, सीमाएँ धुंधली हो रही हैं, किसी राष्ट्र विशेष में घटित घटनाओं का प्रभाव वैश्विक स्तर पर देखने को मिलता है| नैतिकता का प्रश्न इस बदलती विश्व-व्यवस्था में और भी जटिल और महत्वपूर्ण हो गया है। वैश्वीकरण ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के समक्ष कई नैतिक चुनौतियों को रखा है, लेकिन साथ ही इसने सहयोग, विकास और संवाद के नए अवसर पैदा किए है। उनमें से कुछ प्रमुख चुनौतियाँ इस प्रकार हैं :

शोषण और आर्थिक असमानता: वैश्वीकरण ने कुछ देशों को आर्थिक लाभ दिए वहीं आर्थिक रूप से कमजोर और गरीब देशों की अर्थव्यवस्थाएँ और अधिक नाजुक हो गई| वैश्वीकरण ने धन के संकेन्द्रण को तीव्र कर दिया है, जिससे शहरी अभिजात वर्ग को लाभ हुआ है| साथ ही विदेशी निवेश के आगमन व बाज़ार उदारीकरण ने अकुशल श्रमिकों को हाशिये पर लाते हुए कुशल श्रमिकों को अत्यधिक व असीमित रूप से समृद्ध किया है|

बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आदर्श: बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अक्सर विकासशील देशों की सस्ती श्रमशक्ति का उपयोग करते हैं, उनके प्राकृतिक संसाधनों का शोषण करते हैं और पर्यावरण को क्षति पाहुचते हैं| इस प्रकार यह लाभ केंद्रित मॉडल विश्वव्यापी कॉर्पोरेट नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाता है| बहुराष्ट्रीय कंपनियों को वैश्विक स्तर पर श्रमिकों व अन्य समुदायों के मनवाधिकारों का सम्मान करना चाहिए जैसे: बाल क्षम व जबरन क्षम का निषेध करना, समान वेतन व सुरक्शित कार्य परिस्थितियाँ सुनिश्चित करना और स्थानीय समुदायों के अधिकारों की रक्षा करना|

पहचान का संकट: वैश्वीकरण ने सांस्कृतिक विविधता को बढ़ावा दिया है, लेकिन इसके साथ ही पहचान की समस्या भी बढ़ी है। पश्चिमी उपभोग संस्कृति, मीडिया का वर्चस्व और एकरूप जीवनशैली ने कई समाजों की पारंपरिक सांस्कृतिक पहचान को कमजोर कर दिया है। इससे कट्टरता, सांस्कृतिक संघर्ष और सामाजिक तनाव देखने को मिलते हैं। वैश्विक नागरिकता के विचार ने सांस्कृतिक अस्मिता और राष्ट्र-राज्य की संप्रभुता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया है, यही कारण है कि वैश्वीकरण को केवल आर्थिक लाभ के साधन के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए अपितु मानवीय गरिमा, सांस्कृतिक विविधता और बहुलवाद के संरक्षण के साथ जोड़ा जाना चाहिए।

राजनीतिक वैश्वीकरण के साथ नैतिक चुनौतियाँ: राजनीतिक वैश्वीकरण ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग, संवाद और संस्थागत व्यवस्था को बढ़ाया है, लेकिन इसने मानवाधिकारों, लोकतंत्र और संप्रभुता से जुड़ी कठिन नैतिक चुनौतियाँ भी पैदा की हैं। राष्ट्र राज्यों के रणनीतिक और भू-राजनीतिक हित अक्सर मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं| मित्र देशों के मानवाधिकार उल्लंघनों को अनदेखा करने और विरोधी देशों पर दबाव डालने जैसी घटनाओं ने अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता को कमजोर कर दिया है।

डेटा सुरक्षा और निजता: डिजिटल युग में कृत्रिम बुद्धिमत्ता, सोशल मीडिया और इंटरनेट ने विश्वव्यापी संपर्क को बढ़ाया है, लेकिन इसके साथ डेटा सुरक्षा और निजता के गंभीर नैतिक प्रश्न भी सामने आए हैं। साइबर जासूसी, डेटा चोरी, डिजिटल निगरानी और दुष्प्रचार जैसे कृत्य विश्वव्यापी नैतिकता के खिलाफ हैं, जबकि ऑटोमेशन के कारण रोजगार का विस्थापन सामाजिक असमानता को बढ़ा रहा है| इस संदर्भ में तकनीकी नैतिकता, अंतर्राष्ट्रीय जवाबदेही और मानव-केंद्रित डिजिटल शासन की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है।

15.7 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता सम्बन्धी समकालीन चुनौतियाँ

21वीं सदी में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अभूतपूर्व परिवर्तन, तकनीकी क्रांति, वैश्विक संपर्क और नए शक्ति-संतुलन के दौर से गुजर रही है। ऐसे परिदृश्य में नैतिकता की आवश्यकता पहले से अधिक बढ़ गई है, किंतु साथ ही नैतिक चुनौतियाँ भी अधिक जटिल रूप धारण कर चुकी हैं। आज की विश्व-व्यवस्था में राष्ट्रीय हित, शक्ति-प्रतिस्पर्धा, सुरक्षा की अनिश्चितता, तकनीकी प्रभुत्व और आर्थिक असमानता जैसे कारक नैतिकता को प्रभावित कर रहे हैं। इसलिए यह समझना आवश्यक है कि वर्तमान वैश्विक राजनीति में कौन-कौन सी प्रमुख नैतिक चुनौतियाँ उभरकर सामने आ रही हैं।

वैश्विक असमानता और न्याय का संकट: वैश्वीकरण के बड़े विस्तार के बावजूद आज भी विश्व में संसाधनों, तकनीक, पूँजी, शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं के वितरण में व्यापक असमानता बनी हुई है। विकासशील और संपन्न देशों ने वैश्विक अर्थव्यवस्था, व्यापार और वित्तीय संस्थानों पर कब्जा कर लिया है, इसलिए वे अंतर्राष्ट्रीय निर्णय-प्रक्रिया में बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसके विपरीत, विकासशील और गरीब देशों का स्वर वैश्विक मंचों पर बहुत कमजोर रहता है।
इस असमान शक्ति-संरचना से न्याय, समान अवसर और वैश्विक नैतिकता के विचार प्रभावित होते हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अक्सर यह प्रश्न उठता है कि वैश्विक व्यवस्था वास्तव में न्याय और समानता पर आधारित है या सिर्फ शक्तिशाली देशों के हितों की रक्षा करती है।

मानवाधिकार उल्लंघन और शक्तिशाली देशों की दोहरी नीति: आज मानवाधिकार, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण नैतिक मुद्दा है। जबकि लगभग सभी देश मानवाधिकारों की सार्वभौमिकता की बात करते हैं, शक्तिशाली देश अक्सर अपनी विदेश नीति में नैतिक मूल्यों की जगह रणनीतिक, आर्थिक और सैन्य हितों को महत्व देते हैं। मानवाधिकारों का उपयोग अक्सर नैतिक कर्तव्य के स्थान पर राजनीतिक हस्तक्षेप या दबाव डालने के साधन के रूप में किया जाता है। मित्र देशों द्वारा किए गए मानवाधिकार उल्लंघनों को नजरअंदाज करना और प्रतिद्वंद्वी देशों के मामलों में कठोर रुख अपनाना अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता को ठेस पहुंचाता है। इस तरह, मानवाधिकार की राजनीति एक दोहरी नीति बन जाती है।

डिजिटल और साइबर स्पेस की नैतिक समस्याएँ: अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता को सूचना प्रौद्योगिकी, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और साइबर स्पेस ने नई दिशा दी है। आज डेटा चोरी, साइबर हमले, डिजिटल जासूसी, निगरानी तंत्र और गलत सूचना जैसे मुद्दे विश्वव्यापी राजनीति में शामिल हैं।ऐसे में यह प्रश्न उठता है कि डिजिटल दुनिया में नैतिक नियंत्रण, निजता, जवाबदेही और सूचना की स्वतंत्रता किसके हाथ में होनी चाहिए?

प्रवासन और शरणार्थी संकट: आज लाखों लोग युद्ध, राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक असमानता और जलवायु परिवर्तन के कारण अपने देशों को छोड़ रहे हैं यही कारण है कि शरणार्थी संकट अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख नैतिक मुद्दा बन गया है। कई देशों ने अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा और अर्थव्यवस्था को अधिक महत्व देते हुए सीमाएँ बंद कर दी हैं, जिससे शरणार्थियों के मानवाधिकार खतरे में हैं।

पर्यावरणीय संकट और नैतिकता: 21वीं सदी की सबसे बड़ी वैश्विक चुनौती जलवायु परिवर्तन है। ऐतिहासिक रूप से, औद्योगिक और विकसित देशों ने सबसे अधिक प्रदूषण किया है, जबकि गरीब और विकासशील देशों ने इसके बुरे परिणामों का सबसे अधिक बोझ उठाया है। इससे "जलवायु न्याय" का प्रश्न उठता है जो साझा लेकिन विभेदित उत्तरदायित्व की मांग करता है| पर्यावरणीय संकट से पता चलता है कि नैतिकता के बिना अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का स्थायी और न्यायपूर्ण समाधान संभव नहीं है।

सांस्कृतिक विविधता और सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों का विवाद: पश्चिमी और गैर-पश्चिमी मूल्यों के बीच बढ़ता संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक और महत्वपूर्ण नैतिक चुनौती है। कुछ देश अपनी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए नैतिकता की अलग व्याख्या करते हैं, क्योंकि वे पश्चिमी दृष्टिकोण को मानवाधिकारों और लोकतांत्रिक मूल्यों की सार्वभौमिक व्याख्या से प्रेरित मानते हैं। इससे स्थानीय परंपराओं और विश्वव्यापी नैतिक मूल्यों के बीच संघर्ष पैदा होता है। यह विवाद अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता को खराब करता है व विश्वव्यापी समझौते को बाधित करता है।

15.8 निष्कर्ष

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की समकालीन चुनौतियाँ वैश्विक शक्ति-संरचना, तकनीकी विकास, पर्यावरणीय संकट, मानवाधिकार उल्लंघन और आर्थिक असमानताओं से निकट रूप से जुड़ी हैं। नैतिकता को स्थापित करना कठिन अवश्य है, परंतु न्यायपूर्ण, मानवीय और स्थिर वैश्विक व्यवस्था के लिए यह अनिवार्य है। आज आवश्यकता है ऐसी वैश्विक सोच की, जहाँ राष्ट्रीय हितों के साथ-साथ मानव हित, पर्यावरणीय संतुलन, शांति और समता को भी प्राथमिकता मिले।

अंततः यह स्पष्ट होता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को सिर्फ शक्ति-संतुलन, राष्ट्रीय हित या रणनीतिक लाभ से नहीं समझा जा सकता। अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता की आवश्यकता को वैश्वीकरण, मानवाधिकार, पर्यावरणीय संकट, डिजिटल सुरक्षा और शरणार्थी समस्या ने और अधिक बढ़ाया है। शक्ति और नैतिकता के बीच एक संतुलित और मानवीय अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का निर्माण करना आवश्यक है, जहाँ राज्यों को अपने हितों की रक्षा करने के साथ-साथ वैश्विक दायित्व और न्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था के निर्माण में भी भाग लेना चाहिए।

15.9 संदर्भ सूची

1. Morgenthau, H. J. (1948). *Politics among nations: The struggle for power and peace*. Alfred A. Knopf.

2. Waltz, K. N. (1959). *Man, the state, and war: A theoretical analysis*. Columbia University Press.
3. Harari, Y. N. (2018). *21 lessons for the 21st century*. Jonathan Cape.
4. Bhattacharyya, K. (2023). *Ethics in politics: Conceptualizing forgiveness and global justice* (Doctoral dissertation, Vidyasagar University, Department of Political Science with Rural Administration). Shodhganga. http://hdl.handle.net/10603/487405
5. Singla, S. (2020). *Climate justice in a globalising world: A study with special reference to human rights of climate refugees* (Doctoral dissertation, Panjab University, Department of Law). Shodhganga. http://hdl.handle.net/10603/482757

15.10 शब्दावली

1. नैतिकता - नैतिकता वह गुण या सिद्धान्त है जो हमें सही ओर गलत का ज्ञान कराता है और हमें उचित आचरण करने के लिए प्रेरित करता है|

2. यथार्थवाद - यह सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रतिस्पर्धी और संघर्षपूर्ण होने पर ज़ोर देती है | यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति, सुरक्षा और राष्ट्रीय हित से संचालित मानता है।

3. आदर्शवाद - यह दृष्टिकोण नैतिकता, सहयोग और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में शांति की संभावना पर बल देता है।

4. संरचनावाद - इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक संरचनाओं ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को बनाया है| यह सिद्धांत मानता है कि विचार, मानदंड और पहचानें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को आकार देती हैं।

5. कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण - यह विचारधारा जो राष्ट्रीय सीमाओं से परे वैश्विक नैतिकता और मानवाधिकारों की वकालत करती है।यह दृष्टिकोण वैश्विक उत्तरदायित्व को प्राथमिकता देता है|

6. वैश्वीकरण - वैश्वीकरण से अभिप्राय किसी देश की अर्थव्यवस्था को विश्व के अन्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं से जोड़ने से है |

15.11 अभ्यास प्रश्न

1. यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रमुख प्रेरक तत्व क्या है?
A. नैतिक मूल्य
B. शक्ति और राष्ट्रीय हित
C. वैश्विक सहयोग
D. मानवाधिकार

2. "प्रायोगिक नैतिकता का संबंध किससे है?
A. आदर्शवादी नैतिकता
B. युद्ध के पूर्ण निषेध से
C. युद्ध के दौरान सीमित मानवीय मानकों से
D. वैश्विक शासन से

3. आदर्शवादी दृष्टिकोण किस धारणा पर आधारित है?

A. मानव स्वभाव मूलतः स्वार्थी है
B. अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था अराजक है
C. मानव स्वभाव सहयोगात्मक और नैतिक है
D. शक्ति ही नैतिकता है

4. "अराजकता वह है जो राज्य बनाते हैं" यह कथन किस विचारधारा से जुड़ा है?

A. यथार्थवाद
B. आदर्शवाद
C. संरचनावाद
D. उदारवाद

5. कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण का केंद्रीय विचार क्या है?

A. राष्ट्रहित सर्वोपरि है
B. शक्ति-संतुलन आवश्यक है
C. संप्रभुता सर्वोच्च है
D. संपूर्ण मानवता के लिए वैश्विक नैतिकता

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. B, 2.- C, 3.- C, 4.- C, 5.- D

15.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति और नैतिकता के संबंध का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

2. यथार्थवाद और आदर्शवाद के नैतिक दृष्टिकोणों की तुलना कीजिए।

3. वैश्वीकरण ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में कौन-कौन सी नैतिक चुनौतियाँ उत्पन्न की हैं? विवेचना कीजिए।

4. कॉस्मोपॉलिटन दृष्टिकोण की प्रासंगिकता समकालीन वैश्विक राजनीति के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।

5. डिजिटल युग में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के समक्ष उभरती नैतिक समस्याओं पर चर्चा कीजिए।